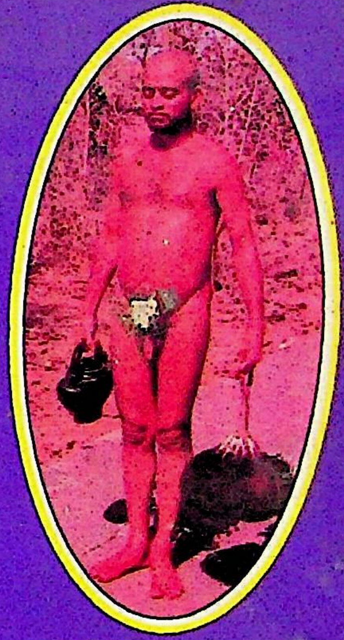
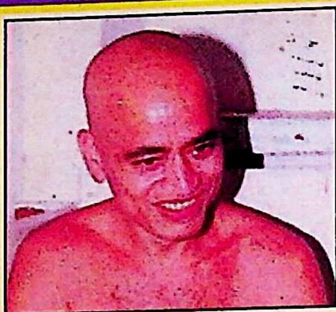


महाकवि

आ. विद्यासागर ग्रन्थावली



आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज

जीवन परिचय

जन्म - आश्विन शुक्ल 15 शरद पूर्णिमा, संवत 2003 तदनुसार 10 अक्टूबर, 1946 दिन गुरुवार रात्रि 11.30 बजे

स्थान - सदलगा, जिला बेलगाँव - कर्नाटक प्रान्त

नाम - विद्याधर

पिता - श्री मल्लप्पा जी जैन (अष्टगे गोत्र) बाद में मुनि मल्लिसागर बने

माता - श्रीमती जी (बाद में आर्यिका समयमति जी)

शिक्षा - 9वीं कक्षा (मराठी से)

मातृभाषा - कन्नड़

अन्य भाषाओं पर अधिकार - कन्नड़-मराठी हिन्दी- अंग्रेजी- प्राकृत-अपभ्रंश-संस्कृत आदि

ब्रह्मचर्य व्रत - सन् 1967 (आ. देशभूषण जी से)

मुनि दीक्षा - आषाढ़ शुक्ला पंचमी वि. सं. 2025 तदनुसार - 30 जून, 1968

दीक्षा गुरु - महाकवि आ. ज्ञानसागर जी महाराज

आचार्य पद - मगसिर कृष्णा दोज, वि. सं. 2039

दीक्षार्थी शिष्य - 125 (साधु एवं साध्वी)

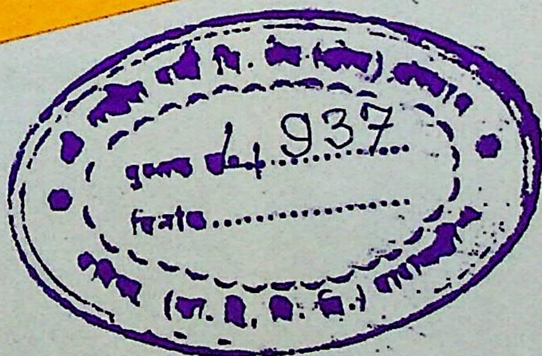
12·4

आचार्य विद्यासागर वाङ्मय राष्ट्रीय विद्वत् संगोष्ठी
सीकर

27 सितम्बर से 30 सितम्बर, 98

पुण्यार्जक

अशोक कुमार बिनायक्या, सीकर (सूरत प्रवासी)





महाकवि

आचार्य विद्यासागर

ग्रन्थावली

खण्ड 1

[संस्कृत ग्रन्थ]

-: रचयिता :-

महाकवि आचार्य विद्यासागरजी महाराज

-: प्रकाशक/प्रकाशन :-

आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, ब्यावर (राज.)

श्री दिगम्बर जैन मंदिर अतिशय क्षेत्र संघीजी, सांगानेर (जयपुर)

प्रेरक प्रसंग : चारित्र चक्रवर्ती परम् पूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के सुशिष्य आध्यात्मिक एवं दार्शनिक संत मुनि श्री सुधासागरजी महाराज एवं क्षु. श्री गंभीरसागरजी महाराज व क्षु. श्री धैर्यसागरजी महाराज के 1996 जयपुर वर्षायोग के सुअवसर पर प्रकाशित ।

संस्करण : 1996

मूल्य : रुपये 85/- मात्र

प्राप्ति :
- ▲ आचार्य ज्ञानासागर वागर्थ विमर्श केन्द्र
  ब्यावर (राज.)
- ▲ श्री दिगम्बर जैन मंदिर अतिशय क्षेत्र संघीजी
  सांगानेर-जयपुर (राज.)

मुद्रक : निओ ब्लॉक एण्ड प्रिन्ट्स
पुरानी मण्डी, अजमेर
फोन : 422291

महाकवि

आचार्य विद्यासागर ग्रन्थावली

—: आशीर्वाद एवं प्रेरणा :—

पू. मुनि श्री सुधासागरजी महाराज
क्षु. श्री गंभीरसागरजी महाराज
क्षु. श्री धैर्यसागरजी महाराज

—: पुण्यार्जक :—

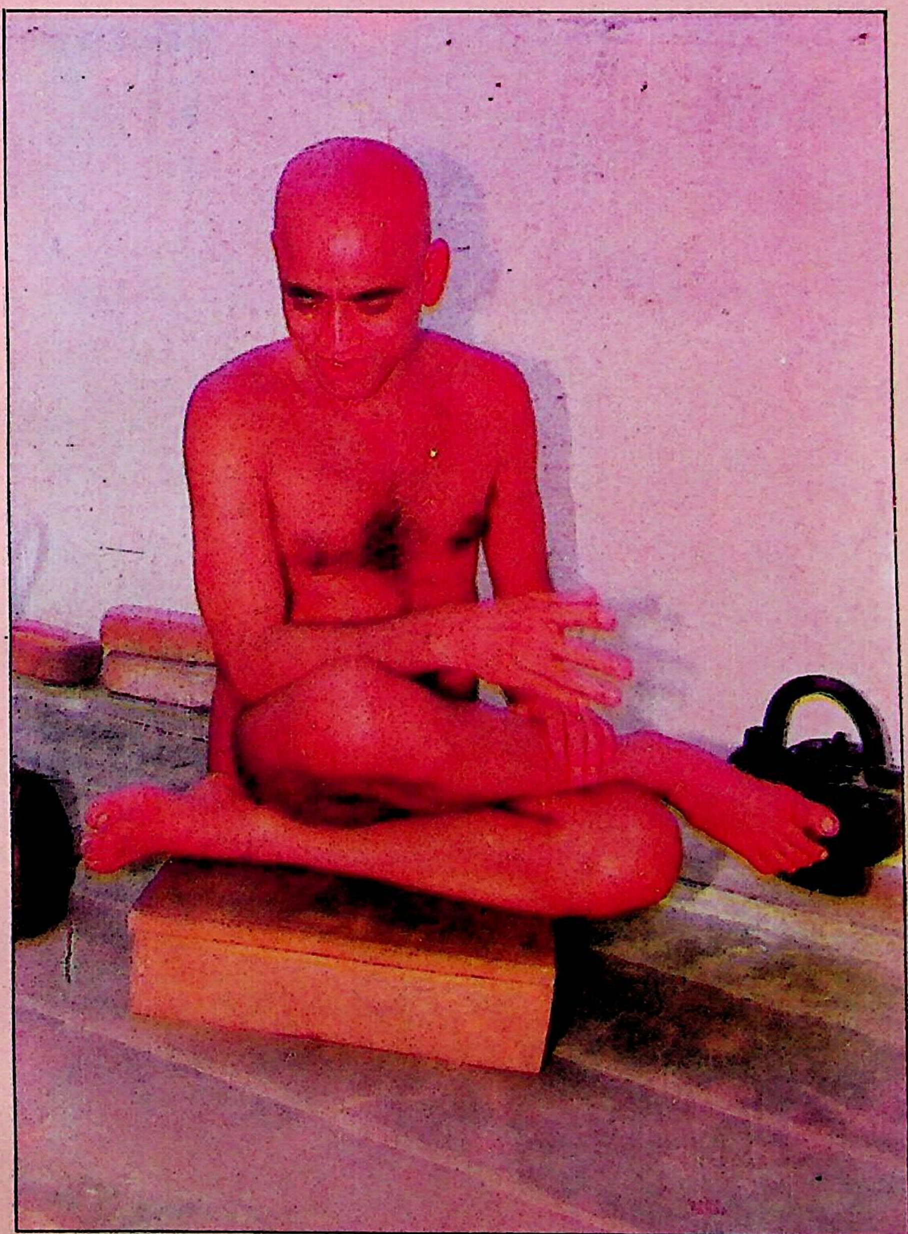
पूज्य पिता श्री शिवनरायनजी जैन (कासगंज)
की चिर स्मृति में माता श्रीमति शकुन्तला देवी की प्रेरणा से
पुत्रवधु श्रीमति सपना जैन धर्मपत्नी श्री अकलंक जैन
एवं सुपौत्र स्वानुभव जैन,
मधुबन कॉलोनी, टोंक रोड़, जयपुर द्वारा प्रकाशित

प्रोत्साहन : श्री प्रेम चन्द कोठारी मधुबन कॉलोनी, जयपुर

—: प्रकाशक/प्रकाशन :—

आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, ब्यावर (राज.)
श्री दिगम्बर जैन मंदिर अतिशय क्षेत्र संघीजी, सांगानेर (जयपुर)





परम पूज्य आचार्य विद्यासागर जी



प्रकाशकीय समर्पण



आ. श्री विद्यासागर जी



मु. श्री सुधासागर जी



पंचाचार युक्त
महाकवि, दार्शनिक विचारक,
धर्मप्रभाकर, आदर्श चारित्रनायक, कुन्द-कुन्द
की परम्परा के उन्नायक, संत शिरोमणि, समाधि सम्राट,
परम पूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के कर कमलों में
एवं
इनके परम सुयोग्य
शिष्य ज्ञान, ध्यान, तप युक्त
जैन संस्कृति के रक्षक, क्षेत्र जीर्णोद्धारक,
वात्सल्य मूर्ति, समता स्वाभावी, जिनवाणी के यथार्थ
उद्घोषक, आध्यात्मिक एवं दार्शनिक संत मुनि
श्री सुधासागर जी महाराज के कर कमलों में
आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र
ब्यावर (राज.) की ओर से
सादर समर्पित ।



प्रकाशकीय

चिरंतन काल से भारत मानव समाज के लिये मूल्यवान विचारों की खान बना हुआ है। इस भूमि से प्रकट आत्मविद्या एवं तत्व ज्ञान में सम्पूर्ण विश्व का नव उदात्त दृष्टि प्रदान कर उसे पतनोमुखी होने से बचाया है। इस देश से एक के बाद एक प्राणवान प्रवाह प्रकट होते रहे। इस प्रणावान बहूलमून्य प्रवाहों की गति की अविरलता में जैनाचार्यों का महान योगदान रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी में पाश्चात्य विद्वानों द्वारा विश्व की आदिम सभ्यता और संस्कृति के जानने के उपक्रम में प्राचीन भारतीय साहित्य की व्यापक खोजबीन एवं गहन अध्यनादि कार्य सम्पादिक किये गये। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक प्राच्यवाङ्मय की शोध, खोज व अध्ययन अँनुशीलनादि में अनेक जैन-अजैन विद्वान भी अग्रणी हुए। फलतः इस शताब्दी के मध्य तक जैनाचार्य विरचित अनेक अंधकाराच्छादिक मूल्यवान ग्रन्थरत्न प्रकाश में आये। इन गहनीय ग्रन्थों में मानव जीवन की युगीन समस्याओं को सुलझाने का अपूर्व सामर्थ्य है। विद्वानों के शोध-अनुसंधान-अनुशीलन कार्यों को प्रकाश में लाने हेतु अनेक साहित्यिक संस्थाए उदित भी हुई, संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती आदि भाषाओं में साहित्य सागर अवगाहनरत अनेक विद्ववानों द्वारा नवसाहित्य भी सृजित हुआ है, किन्तु जैनाचार्य-विरचित विपुल साहित्य के सकल ग्रन्थों के प्रकाशनार्थ/अनुशीलनार्थ उक्त प्रयास पर्याप्त नहीं हैं। सकल जैन वाङ्मय के अधिकांश ग्रन्थ अब भी अप्रकाशित हैं, जो प्रकाशित भी हो तो सोधार्थियों को बहुपरिश्रमोपरान्त भी प्राप्त नहीं हो पाते हैं। और भी अनेक बाधायें/समस्याऐं जैन ग्रन्थों के शोध-अनुसन्धान-प्रकाशन के मार्ग में है, अतः समस्याओं के समाधान के साथ-साथ विविध संस्थाओं-उपक्रमों के माध्यम से समेकित प्रयासों की आवश्यकता एक लम्बे समय से विद्वानों द्वारा महसूस की जा रही थी।

राजस्थान प्रान्त के महाकवि ब्र. भूलामल शास्त्री (आ. ज्ञानसागर महाराज) की जन्मस्थली एवं कर्म स्थली रही है। महाकवि ने चार-चार महाकाव्यों के प्रणयन के साथ हिन्दी संस्कृत में जैन दर्शन सिद्धान्त एवं अध्यात्म के लगभग 24 ग्रन्थों की रचना करके अवरुद्ध जैन साहित्य-भागीरथी के प्रवाह को प्रवर्तित किया। यह एक विचित्र संयोग कहा जाना चाहिये कि रससिद्ध कवि की काव्यरस धारा का प्रवाह राजस्थान की मरुधरा से हुआ। इसी राजस्थान के भाग्य से श्रमण परम्परोन्नायक सन्तशिरोमणि आचार्य विद्यासागर जी महाराज के सुशिष्य जिनवाणी के यर्थाथ उद्घोषक, अनेक ऐतिहासिक उपक्रमों के समर्थ सूत्रधार, अध्यात्मयोगी युवामनीषी पू. मुनिपुंगव सुधासागर जी महाराज का यहाँ पदार्पण हुआ। राजस्थान की धरा पर राजस्थान के अमर साहित्यकार के समग्रकृतित्व पर एक अखिल भारतीय विद्वत्/संगोष्ठी सागानेर में दिनांक 9 जून से 11 जून, 1994 तथा अजमेर नगर में महाकवि की महनीय कृति "वीरोदय" महाकाव्य पर अखिल भारतीय विद्वत् संगोष्ठी दिनांक 13 से 15 अक्टूबर 1994 तक आयोजित हुई व इसी सुअवसर पर दि. जैन समाज, अजमेर ने आचार्य ज्ञानसागर के सम्पूर्ण 24 ग्रन्थ मुनिश्री के 1994 के चातुर्मास के दौरान प्रकाशित कर/लोकार्पण कर अभूतपूर्व ऐतिहासिक काम करके श्रुत की महत् प्रभावना की। पू. मुनि श्री सान्धिय में आयोजित इन संगोष्ठियों में महाकवि के कृतित्व पर अनुशीलनात्मक-आलोचनात्मक, शोधपत्रों के वाचन सहित विद्वानों द्वारा जैन साहित्य के शोध क्षेत्र में आगत

अनेक समस्याओं पर चिन्ता व्यक्त की गई तथा शोध छात्रों को छात्रवृत्ति प्रदान करने, शोधार्थियों को शोध विषय सामग्री उपलब्ध कराने, ज्ञानसागर वाङ्मय सहित सकल जैन विद्या पर प्रख्यात अधिकारी विद्वानों द्वारा निबन्ध लेखन-प्रकाशनादि के विद्वानों द्वारा प्रस्ताव आये। इसके अनन्त मास 22 से 24 जनवरी तक 1995 में ब्यावर (राज.) में मुनिश्री के संघ सानिध्य में आयोजित "आचार्य ज्ञानसागर राष्ट्रीय संगोष्ठी" में पूर्व प्रस्तावों के क्रियान्वन की जोरदार मांग की गई तथा राजस्थान के अमर साहित्यकार, सिद्धसारस्वत महाकवि ब्र. भूरामल जी की स्टेच्यू स्थापना पर भी बल दिया गया, विद्वत् गोष्ठि में उक्त कार्यों के संयोजनार्थ डॉ. रमेशचन्द जैन बिजनौर और मुझे संयोजक चुना गया। मुनिश्री के आशीष से ब्यावर नगर के अनेक उदार दातारों ने उक्त कार्यों हेतु मुक्त हृदय से सहयोग प्रदान करने के भाव व्यक्त किये।

पू. मुनिश्री के मंगल आशिष से दिनांक 18.3.95 को त्रैलोक्य महामण्डल विधान के शुभप्रसंग पर सेठ चम्पालाल रामस्वरूप की नसियाँ में जयोदय महाकाव्य (2 खण्डों में) के प्रकाशन सौजन्य प्रदाता आर. के. मार्बल्स किशनगढ़ के रतनलाल कंवरीलाल पाटनी श्री अशोक कुमार जी एवं जिला प्रमुख श्रीमान् पुखराज पहाड़िया, पीसांगन के करकमलों द्वारा इस संस्था का श्रीगणेश आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र के नाम से किया गया।

सन् 1995 का वर्षायोग किशनगढ़-मदनगंज में हुआ वहाँ पर महाकवि आ. ज्ञानसागर कृत मुख्य महाकाव्य जयोदय पर शताधिक जैन अजैन अन्तराष्ट्रीय संस्कृत विद्वानों की सहभागिता में संगोष्ठी हुई 29.9.95 से 3.10.95 को सम्पन्न हुई जिस संगोष्ठी में जयोदय महाकाव्य की वृहद चतुष्टयी संज्ञा से संज्ञित किया गया था इसी दौरान महाकवि भूरामल ब्रह्मचारी का ऐतिहासिक आकर्षित स्टेच्यू दिगम्बर जैन श्रेष्ठी श्री निहाचन्द, यज्ञेशचन्द, सुशीलकुमार, राकेशमोहन, चन्द्रमोहन पहाड़िया परिवार द्वारा के.डी.जैन महाविद्यालय के प्रांगण में स्थापित किया गया। तदुपरांत 1996 के एतिहासिक जयपुर वार्षायोग की सहभागिता में पंचम संगोष्ठी हुई। इसी दौरान जयपुर में ज्ञानसागर छात्रावास की स्थापना हुई।

आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र के माध्यम से जैनाचार्य प्रणीत ग्रन्थों के साथ जैन संस्कृति के प्रतिपादक ग्रन्थों का प्रकाशन किया जावेगा एवं आचार्य ज्ञानसागर वाङ्मय का व्यापक मूल्यांकन-समीक्षा-अनुशीलनादि कार्य कराये जायेंगे। केन्द्र द्वारा जैन विद्या पर शोध करने वाले शोधार्थी छात्र हेतु 10 छात्रवृत्तियों की भी व्यवस्था की जा रही है।

केन्द्र का अर्थ प्रबन्ध समाज के उदार दातारों के सहयोग से किया जा रहा है। केन्द्र का कार्यालय सेठ चम्पालाल रामस्वरूप की नसियाँ में प्रारम्भ किया जा चुका है। सम्प्रति 10 विद्वानों की विविध विषयों पर शोध निबन्ध लिखने हेतु प्रस्ताव भेजे गये, प्रसन्नता का विषय है 25 विद्वान अपनी स्वीकृति प्रदान कर चुके हैं तथा केन्द्र ने स्थापना के बाद निम्न पुस्तकें प्रकाशित की -

प्रथम पुष्प - इतिहास के पन्ने - आचार्य ज्ञानसागर जी द्वारा रचित
द्वितीय पुष्प - हित सम्पादक - आचार्य ज्ञानसागर जी द्वारा रचित
तृतीय पुष्प - तीर्थ प्रवर्तक - मुनिश्री सुधासागरजी महाराज के प्रवचनों का संकलन
चतुर्थ पुष्प - लघुत्रयी मन्थन - ब्यावर स्मारिका
पंचम पुष्प - अञ्जना पवनंजयनाटकम् - डॉ. रमेशचन्द जैन, बिजनौर

षष्टम पुष्प - जैनदर्शन में रत्नत्रय का स्वरूप - डॉ. नरेन्द्रकुमार द्वारा लिखित
सप्तम पुष्प - बौद्ध दर्शन पर शास्त्रीय समिक्षा - डॉ. रमेशचन्द्र जैन, बिजनौर
अष्टम पुष्प - जैन राजनैतिक चिन्तन धारा - डॉ. श्रीमति विजयलक्ष्मी जैन
नवम पुष्प - आदि ब्रह्मा ऋषभदेव - बैस्टिर चम्पतराय जैन
दशम पुष्प - मानव धर्म - पं. भूरामलजी शास्त्री (आचार्य ज्ञानसागरजी)
एकादशं पुष्प - नीतिवाक्यामृत - श्रीमत्सोमदेवसूरि-विरचित
द्वादशम् पुष्प - जयोदय महाकाव्य का समीक्षात्मक अध्ययन - डॉ. कैलाशपति पाण्डेय
त्रयोदशम् पुष्प - अनेकान्त एवं स्याद्वाद विमर्श - डॉ. रमेशचन्द जैन, बिजनौर
चर्तुदशम् पुष्प - Humanity A Religion - मानव धर्म का अंग्रेजी अनुवाद
पञ्चदशम् पुष्प - जयोदय महाकाव्य का शैली वैज्ञानिक अध्ययन- डॉ. आराधना जैन
षोडदशम् पुष्प - महाकवि ज्ञानसागर और उनके काव्य:एक अध्ययन- डॉ. किरण टण्डन
सप्तदशम् पुष्प - महाकवि आचार्य विद्यासागर ग्रन्थावली - रचयिता प.पू. आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज - महाकवि आचार्य विद्यासागर ग्रन्थावली चार खण्डों में प्रकाशित की जा रही है, आचार्य श्री स्वानुभवि कवि हैं श्रमण संस्कृति के उन्नायक बनकर कुन्द-कुन्द की निर्दोष परम्परा को प्रभावमान कर रहे हैं, आध्यात्मिक साधना के आप सिद्ध साधक हैं ही साथ ही शब्द साधना के भी आप कुशल साधक है, शब्दों के नाना नये अर्थ निकालने में कुशल शिल्पी हैं, आपकी शब्द साधना से मूकमाटी महाकाव्य सहित संस्कृत हिन्दी में अनेकों काव्य ग्रन्थ प्रसूत हुए हैं । साध ही स्वपर प्रकाशित चारित्र साधना से लगभग 125 चेतन रत्नत्रय को धारण करने वाले श्रमणरत्न श्रमण संस्कृति को उपलब्ध हुए हैं। अर्थात 125 श्रमण व श्रमण जैनेश्वरी दीक्षा प्रदान कर श्रमण संस्कृति की परम्परा को जीवंत किया है । आपकी काव्य साधना से शब्दों में लालित्य, ओज, प्रसाद गुण सहजता से देखे जाते हैं, जो अध्यात्म दर्शन और साहित्य की त्रिवेणी प्रवाहित करते हैं, मूकमाटी, महाकाव्य को छोड़कर शेष रचित समस्त काव्य ग्रन्थों को हमारे केन्द्र से प्रकाशित किया जा रहा है । प्रथम खण्ड में संस्कृत काव्य, द्वितीय खण्ड में हिन्दी काव्य, तृतीय खण्ड में पद्यानुवाद और चतुर्थ खण्ड में प्रवचनावली को निबद्ध किया गया है । पूर्व मे आचार्य श्री का साहित्य अनेक स्थानों से प्रकाशित किया गया है, लेकिन शोधार्थियों के लिए एक साथ सरलता से साहित्य उपलब्ध ना होने के कारण इनको एक साथ संकलित करके चार खण्डों में हमारे केन्द्र से प्रकाशित किया जा रहा है । पूर्व प्रकाशकों को साधुवाद प्रधान करते हुए यह अपूर्व साहित्य निधि, साहित्य उपासकों के लिए पिपासा शांत करने के लिए एवं संसार जगत के पाठकों के लिए सादर समर्पित ।

पं. अरूणकुमार शास्त्री
ब्यावर (राज.)

महाकवि आचार्य विद्यासागर जी महाराज की साहित्य साधना

लेखक – मुनि श्री सुधासागर जी महाराज

अनादि अनन्त प्रवहमान दिगम्बर जैन धर्म की श्रमण संस्कृति, भारतीय संस्कृति में प्रधान एवं आदर्श संस्कृति रही है। भारतीय दर्शन की सरणि में (चिन्तनशीलता में) जैन दर्शन विशिष्ट स्थान रखता है। जैन दर्शन के सारस्वत साधकों ने जहाँ चारित्र एवं अध्यात्म साधना में सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया है, वहीं पर राष्ट्र, समाज एवं साहित्य जगत् में भी अपना अमूल्य योगदान दिया है, श्रमण संस्कृति अध्यात्म प्रधान संस्कृति हैं। लगभग 2000 वर्ष पूर्व अध्यात्म जगत् के महान सूर्य आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी हुए हैं, जिन्होंने जैन दर्शन के यथार्थ अध्यात्म को अपनी प्रमा का प्रमेय बनाकर ज्ञान चेतना के पर्यावरण को परिमार्जित कर, विशुद्ध पर्याय रूप परिणत किया तथा शुद्धोपयोग में लीन होकर जीवनपर्यन्त अध्यात्म गंगा में डुबकी लगाते रहे। अध्यात्म रस को आपने खूब छक कर पिया। आप इसके आनन्द में इतने लवलीन हो गए कि यह अध्यात्म आपके जीवन का / द्रव्य का / गुण का पर्याय बन गया। शुद्ध / विशुद्ध पर्याय में परिणत होकर आपने भारत व्यापी पद-विहार किया तथा उच्च कोटि के ग्रन्थों की रचना से यथार्थ अध्यात्म गंगा प्रवाहित कर दीर्घकाल तक भारत वसुन्धरा के जन-जन के पाप, ताप और सन्तापों को शमित किया है।

समयान्तर में अध्यात्म मन्दाकिनी की यह निर्मलधारा सारहीन-क्रियाकाण्डों, मणि-मन्त्र-तन्त्रादि के प्रचाररूपी सिकता-प्राचुर्य से क्षीण सी होने लगी। अध्यात्म-शिखरों का स्पर्श करने वाली जैन संस्कृति को बाहर से और भीतर से भी अनेक-विध प्रहारों को झेलना पड़ा। इन प्रहारों से जर्जरित जैन संस्कृति कराहने लगी। विषम दुःखम काल में आचार्य कुन्दकुन्द और समन्तभद्र सदृश आगमानुकूल श्रमण सन्तों के दर्शन की संभावनाऐं हत-प्राय हो गयीं।

ऐसी दुरुह परिस्थितियों में अध्यात्म के तमसावृत गगन में प्राची से एक सहस्रकर दिनकर का उदय हुआ। विविध विद्या-रूपी सहस्त्रों मुक्ताओं का स्वामी होने के कारण जगत् जिन्हें आचार्य विद्यासागर जी महाराज के नाम से स्मरण करता है। जिनकी चर्या चतुर्थकालीन मुनीशों के तुल्य होने से समस्त जैन जगत् में जो "चौथे काल के महाराज" के विशेषण से विख्यात हैं, जिनकी वीतरागी छवि स्वतः सैकड़ों उपदेशों का सा-असर करने वाली है, उन आचार्यवर्य ने आचार्य कुन्दकुन्द एवं समन्तभद्र की ऊर्जा को अपने जीवन में मानो संचारित कर तथा उनके आदर्श पवित्र मार्ग पर चल कर जर्जरित अध्यात्म-मन्दिर का जीर्णोद्धार किया है।

आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज की साधना में / चर्या में कुन्दकुन्द प्रतिबिम्बित होते हैं तथा वाणी में आचार्य समन्तभद्र स्वामी जैसी निर्भीकता, निःशंकता, निश्छलता,

निःशल्यता की छाया परिलक्षित होती है, अतः वे श्रमण संस्कृति के रक्षार्थ एक सजग प्रहरी प्रतीत होते हैं। परम वीतरागी एवं निर्मोही साधक होते हुए भी उनकी चर्या एवं छवि में गजब का सम्मोहन है जिससे लोग उनके दर्शन करते ही उनमें भगवान् महावीर का प्रतिबिम्ब देखने लग जाते हैं। जिस स्थान या क्षेत्र को उनकी चरण रज का स्पर्श मिलता है, वह क्षेत्र समवशरण की शोभा को अधिगत हो जाता है।

यह संत धर्म एवं साधना के जीवान्त प्रतिरूप हैं, इनकी साधना आत्मोत्कर्ष की सीढ़ियाँ पार करती हुई शाश्वत सत्य एवं लोक मंगल को साधने वाली है, स्वपर कल्याणी स्वानुभूति वाले आचार्य श्री प्रायः चातुर्मास तीर्थक्षेत्र पर ही करते हैं, जिससे आत्मसाधना के साथ-साथ प्राचीन स्थापत्य सुरक्षित एवम् संवर्धित होता है। आपके आशीर्वाद से जहाँ एकतः प्राचीन तीर्थ क्षेत्रों का जीर्णोद्धार हुआ है, वहीं अपरतः नवीन तीर्थक्षेत्रों का निर्माण भी हुआ है, जिनमें सर्वोदय तीर्थक्षेत्र, ज्ञानोदय तीर्थ व पूर्णोदय आदि प्रमुख हैं। धर्माचरण एवं अध्यात्म के प्रचार के साथ-साथ आपकी विचारधारा सामाजिक एवं राष्ट्रहित के लिए प्रवाहित रहती है, आपकी सार्थक प्रेरणा के परिणामस्वरूप ही "प्रशासनिक शोध संस्थान" की स्थापना की गयी। पूज्य आचार्यश्री मूलतः आत्मिक/ मानसिक रोगों के चिकित्सक हैं, भव से लिप्त आत्मा के मल को धोने में अनेक आत्माऐं आपके ही आशीष से सफल हो सकी है, चूंकि स्वस्थ देह में ही स्वस्थ मन निवास करता है, अतः देश की जनता के दैहिक स्वास्थ्य को उन्नत करने के लिए आपकी प्रेरणा से "भाग्योदय तीर्थों" की स्थापनाएँ आपके राष्ट्रीय अवदान के रूप में सदा स्मरण की जाती रहेंगी।

श्रमण संस्कृति के महान् उन्नायक आचार्य श्री के जीवन में "थ्री इन वन परसन" ("Three in One Person") की उक्ति को चरितार्थ होते हुए हमने अनुभव किया है क्योंकि आप एक प्रखर दार्शनिक, चारित्र सम्पन्न आध्यात्मिक एवं सरस साहित्यिक रूपी व्यक्तित्वों की त्रिवेणी के पवित्र संगम हैं। अतः आपकी आत्मा का संगीत दर्शन, साहित्य एवं अध्यात्म की त्रिवेणी बनकर प्रस्तुत हुआ है। यदि हम पूज्य गुरुवर के जीवन के विविध सुनहरे पहलुओं पर दृष्टिपात करें तो हम अनगिनत महान् व्यक्तित्वों की प्रतिच्छवि आपश्री में कर सकते हैं।

आपकी रस-सिद्ध प्रेरणास्पद रचनाओं का काव्य-सौष्ठव यदि एक ओर सहृदय जनको आकर्षित करता है तो वहीं पर आध्यात्मिक और दार्शनिक तत्त्वों का संपुट सोने में सुगन्ध की उक्ति को चरितार्थ कर पाठक को संसार से पार, मोक्ष-सुख की शोभा की झलक देता है। आपने अपनी चारित्र-साधना से अपने आचार्यत्व कीउत्कृष्ट सिद्धि को सिद्ध किया है तथा अन्यों को भी यह अनुपम प्रसाद बाँटने के उद्देश्य से 125 श्रमण/ श्रमणियों को साधना-पथ पर अग्रसर कराकर श्रमण संस्कृति को दीर्घ-जीवन धारा प्रदान की है।

आचार्य श्री सारे भारत में अध्यात्म जगत् के मसीहा माने जाते हैं । आप निर्दोष छत्तीस गुणों का पालन करने वाले आदर्श आचार्य हैं, आप तो बाल-ब्रह्मचारी हैं ही परन्तु आप द्वारा दीक्षित संघ के समस्त तपस्वी भी बाल-ब्रह्मचारी ही हैं ।

इतिहास में मुझे सुनने / पढ़ने में नहीं आया कि कभी किसी आचार्य का सम्पूर्ण संघ बाल-ब्रह्मचारी था / या है । लेकिन हमारे आचार्य श्री ने इस भौतिक युग में भी युवक और युवतियों को संयम का मार्ग दिखाकर संघ को बाल-ब्रह्मचारी बनाकर एक नया स्वर्णमयी इतिहास रच दिया, जो स्वर्णांकन के योग्य है । विशुद्ध दिगम्बर जैन श्रमण संस्कृति को काल के थपेड़ों एवं साम्प्रदायिकता के मद में चूर सत्ता के प्रहारों ने विकृत कर दिया था, जिससे श्रमण संघ की आदर्श रूप आराध्य-आराधक पद्धति भी अपने उच्चासन से च्युत हो गयी अतः इस विकृत रूढ़ि के निवारणार्थ आप श्री ने स्पष्ट घोषणा की, कि परिग्रह के सद्भाव में कोई भी व्यक्ति अथवा साधक पूजा का पात्र नहीं हैं। निष्परिग्रही मुनि ही पूजा के पात्र हैं अर्थात ऐलक, क्षुल्लक और आर्यिकाएँ, क्षेत्रपाल, पद्मावती आदि असंयमी जीव परिग्रह के सदभाव होने से परिक्रमा, पाद-प्रक्षालन एवं अष्ट-द्रव्य से पूजन के योग्य नहीं हैं - अतः आपने अपने संघ में ऐलक, क्षुल्लक एवं आर्यिका गण को इस विकृत रूढ़ि से बचाकर आदर्श, आराधक पद्धति को सुरक्षित किया है ।

ऐसे आदर्श आचार्य का जन्म दक्षिण के कर्नाटक प्रान्त के बेलगाँव जिले के संदलगा ग्राम में आश्विन शुक्ला पूर्णिमा (शरद पूर्णिमा) 2003 विक्रम संवत् गुरुवार को रात्रि 11.30 बजे हुआ था । गुरुवारी पूर्णिमा मानो संकेत कर रही हो कि यह बालक गुरु बनकर पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान विश्व को शीतल-किरणें प्रदान करेगा और संसार की उष्णता को शान्त करेगा । इन का जन्म नाम विद्याधर रखा गया, जो इंगित करता है कि विद्याधरों के समान यह सारे भारत में विहार करेगा एवं मुक्ति की सद्विद्याओं का वितान करेगा । आपके पिता का नाम श्री मलप्पा जैन (अष्टगे) था, जो बाद में मुनिवर श्री मल्लिसागर जी महाराज के नाम से जाने गये / माताजी के नाम के शुभाक्षर हैं - श्रीमती "श्रीमती" जो पश्चात् काल में आर्यिका समयमती माताजी के नाम से जानी गयीं ।

विद्यालयी औपचारिक शिक्षा मात्र नवमी कक्षा तक थी, महान् पुरुषों की शिक्ष और प्रतिभा स्कूली शिक्षा तक ही सीमित नहीं रहती । उनकी शिक्षा का क्षेत्र तो समस्त संसार होता है । पूरे संसार और उसके यथार्थ का अनुसन्धान करने वाली अनुभव की पाठशाला में वास्तविक शिक्षा प्राप्त करते हैं। मातृभाषा कन्नड़ और स्कूली भाषा मराठी होने पर भी आपका हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत, अपभ्रंश, प्राकृत आदि भाषाओं पर पूर्ण अधिकार है । सन् 1967 में आपने आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज से ब्रह्मचर्य व्रत लेकर संसार-भ्रमण का मार्ग बन्द कर दिया । तथा मोक्ष मार्ग की ओर चरण बढ़ाने के लिए आप आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज के पास रहकर लगभग

3-4 वर्ष तक ज्ञानार्जन किया तथा 30 जून 1968 आषाढ़ शुक्ला पंचमी विक्रम संवत् 2025 को अजमेर शहर में आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज के द्वारा दिगम्बरी दीक्षा धारण की। आपके गुरु ने आपको पूर्ण गुरुपद के योग्य जानकर 22 नवम्बर, 1972 मगसिर कृष्णा 2 संवत् 2029 को नसीराबाद में अपना आचार्य पद आपको देकर आपके ही निर्देशन में लगभग 180 दिन की यम-संल्लेखना धारण कर समाधि ली थी। आचार्य श्री हवा के समान निःसंग, सिंह के समान निर्भीक, मेरु के समान अचल, पृथ्वी के समान सहिष्णु, समुद्र के समान गंभीर, जल के समान निर्मल, सूर्य के समान तेजस्वी हैं। आपने जहाँ शिरोमणी चारित्र की साधना की है वहीं पर आप साहित्य जगत् में शिरोमणीभूत साहित्य साधक भी हैं। आपकी शब्द साधना ने आपको शब्द-वेधा (ब्रह्मा) बना दिया है।

शब्द आपके नाना अर्थ के अनुरूप इस प्रकार नर्तन करते हैं, मानो आपकी प्रतिभारूपी रिमोट कन्ट्रोल द्वारा संचालित हो रहे हैं। काव्यगत शब्दों के अर्थ तत्त्व को नवीन प्रतिमान प्रदान करते हुए शब्दों के व्युत्पत्तिबल से नवीन अर्थ प्रदान करना आपका वैशिष्ट्य है। आपने कालजयी कृति "मूकमाटी" महाकाव्य सहित हिन्दी एवं संस्कृत में 39 रचनायें की है अतः आप अध्यात्म के विविध विशेषणों से युक्त होते हुए साहित्य जगत् की सर्वोच्च उपाधि "महाकवि" के भी पूर्ण अधिकारी हैं। हिन्दी एवं संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में इस बीसवीं शताब्दी में आपका विशिष्ट योगदान है, संस्कृत काव्यों में कुत्रचित् शब्द क्लिष्टता, गरिष्ठता, वरिष्ठता पाठक की प्रमा को द्राविड़ी प्राणायाम करने के लिए बाध्य करती है। लेकिन हिन्दी काव्यों की शब्द सरलता/सहजता के प्रवाह में ओज, माधुर्य एवं प्रसाद गुणों की सरगम ध्वनि की स्वर-लहरी पाठक के हृदय स्थल को आनन्द से भर देती है। आपका साहित्य अनुप्रास एवं द्विसन्धानी अर्थों की विशेषताओं को लिए हुए रहता है। कवि शब्द शिल्पी होते हुए भी शब्दों पर विजय प्राप्त करना कवि का साध्य नहीं है बल्कि अपनी विचारों की भावाभिव्यक्ति कर जनमानस को सुख शान्ति का मार्ग प्रशस्त करते हुए कर्म एवं इन्द्रिय विजेता बनाना रहा है। शब्द तो मात्र अपनी विचारधारा को प्रवाहित करने के लिए, किनारे बन कर कवि की प्रमा में सहज ही अवतरित हुए हैं। शब्द एवं शब्दार्थ, शब्दकोशों के पन्नों से बलात् नहीं खींचे गये हैं बल्कि जीवन की जीवन्त दैनन्दिनी (डायरी से) से स्वतः प्रसूत हुए हैं। अतः कहीं-कहीं कवि को शब्द कोष प्रेमियों के कोप का भी भाजन बनना पड़ा है।

- शब्द शास्त्री वैयाकरणों से एवं लकीर के फकीरों द्वारा व्याख्यात अर्थों से बेफिक्र होकर महाकवि ने साहित्य जगत के अंतर्गत नवीन विचार धारा देकर गौरवान्वित किया है। शब्दों के अक्षरों की विलोम प्रक्रिया से एवं शब्द-विच्छेद विधि से अर्थगत आन्दोलन कर तथा जनमानस का अभिनन्दन स्वीकार कर जनप्रिय मोक्षमार्गी नेता के रूप में जगत ख्याति प्राप्त की है। ऐसे ख्यातिलब्ध साहित्यकार

महाकवि आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज की साहित्य साधना का (सन् 1996 तक की साहित्य साधना का) संक्षिप्त परिचय यहाँ पर प्रस्तुत किया जा रहा है -

संस्कृत साहित्य

भारतीय संस्कृति में भाषा गत सौष्ठव से संस्कारित/परिमार्जित संस्कृत भाषा, प्रधान भाषा मानी जाती है । व्याकरण की गरिष्ठता के कारण यह पारिवारिक एवं सामाजिक व्यवहार में प्रचुर प्रचलन में न आकर विशेषतया साहित्य क्षेत्र में पल्लवित/पुष्पित होती रही है ।

जैन वाङ्मय में साहित्यिक इतिहास की दृष्टि से इसका स्थान तीसरा है; क्योंकि इसके पूर्व जैन साहित्यकारों का प्राकृत एवं अपभ्रंश पर सर्वाधिकार सुरक्षित रहा है । लगभग प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी से ही संस्कृत भाषा में जैन साहित्य दृष्टिगोचर होता है । उसके बाद प्राय: संस्कृत भाषा में जैन साहित्य प्रचुर मात्रा में लिखा जाता रहा है ।

बीसवीं शताब्दी के महान संस्कृतज्ञ विद्वान ऋषि, मेरे दादा गुरु महाकवि आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज ने संस्कृत भाषा में 4-4 महाकाव्यों सहित अनेकों काव्य लिखे हैं । उन्हीं के प्रधान पट्टशिष्य मेरे गुरुवर/पूज्यवर आचार्यश्री विद्यासागरजी महाराज ने भी निम्न साहित्य सृजित किया है :-

श्रमण शतकम्

यह काव्य आपने संस्कृत भाषा में दिगम्बर श्रमणों के सम्बोधनार्थ लिखा है । जिसमें कहा है कि श्रमण को बाहरी प्रवृतियों से हटकर आभ्यंतर चेतना को अपनी अनुभूति का विषय बनाना ही साध्य होना चाहिये । आत्मा और परमात्मा के अलावा समस्त विकल्पों को त्यागकर, इन्द्रिय एवं परिषह विजयी बनना चाहिए रत्नत्रय की सिद्धि कर, निर्विकल्प बन, अपने आत्मस्वरूप में रम कर अपनी आत्मा को भगवान जैसी आत्मा बनाना चाहिये । 36वें श्लोक में कवि ने भावना भायी है कि :- दिगम्बर मुद्रा को धारण करने वाले दिगम्बर साधु शुद्धात्मा एवम् प्रशम भाव का त्याग न करें क्योंकि प्रशम भाव से ही जन्म मृत्यु का क्षय होता है । यथा -

यस्य हृदि समाजात: प्रशम भाव: श्रमणो यथाजात: ।
दूरोऽस्तु निर्जरात: कदापि मा शुद्धात्मजात: ॥36॥

परिग्रहवान् मुनि हो या गृहस्थ किसी को भी शुद्धात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती तथा 48वें श्लोक में कहा है कि निश्चयनय से रहित साधु भी यदि विषयों को त्यागकर संयमाचरण से अलंकृत होता है तो भी परम्परा से मोक्षमार्गी हो सकता है लेकिन किसी भी स्थिति में गृहस्थ एवं असंयमी को मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती, यथा -

न निश्चयेन नयेन किन्त्वलङ्कृतस्तद्विषयेण येन ।
यस्तं व्रजेन्नयेन मुक्तिरसंयमिनस्तान् से न ॥48॥

शिथिलाचार का निषेध करते हुए कहा है कि नंग्न होने मात्र से मोक्ष मार्ग नहीं होता है क्योंकि नग्न तो पशु भी होते हैं यथा –

न हि कैवल्य साधनं केवलं यथाजातप्रसाधनम्
चेन्न पशुरपि साधनं व्रजेदव्ययमञ्जसा धनम् ॥78॥

श्रमण का परमात्मा से अनुराग किए बिना कल्याण नहीं हो सकता है। कवि ने कहा है कि जो परिग्रहों को त्यागकर, इन्द्रियों को वश में कर अपनी रत्नत्रय रूपी खेती को विशुद्ध भावों से सिंचन करते हैं, ऐसे साधुओं की मैं वन्दना करता हूँ। इस प्रकार इस काव्य में अशुभ से शुभ और शुभ से शुद्ध भावों को प्राप्त करने की प्रेरणा दी है। शब्द संचय करने में कवि ने विश्वलोचन कोश का प्रयोग किया है। श्लोकों में शब्दों की कठिनता दृष्टिगोचर होती है। काव्य में अनुप्रास, श्लेष तथा यमक प्रमुखता लिए हुए हैं। क्वचित्, कदाचित्, उत्प्रेक्षायें अभिव्यंजित होती हैं। पद लालित्य ध्वनि तथा अर्थगौरव पदे-पदे विद्यमान है। यह ग्रन्थ आर्याछन्द में लिखा गया है। पाँच श्लोकों में मंगलाचरण है, जिसमें वर्धमान स्वामी, भद्रबाहु, कुन्दकुन्द आचार्य, स्व. गुरु आचार्य ज्ञानसागर एवं सरस्वती का स्तवन किया है। 94 श्लोकों में कवि ने श्रमणों को आध्यात्मिक दृष्टि से हेय-उपादय का उपदेश दिया है। अन्त में 100वें श्लोक में अपनी लघुता एवं 101वें श्लोक में गुरु ज्ञानसागर एवं स्वयं का नाम श्लेषात्मक ढंग से निबद्ध किया है, 6 श्लोकों में प्रशस्ति दी है, जिसमें कहा है कि ज्ञानसागर के शिष्य विद्यासागर ने विक्रम सम्वत् 2031 वैशाख शुक्ला पूर्णिमा को यह काव्य पूर्ण किया। इस प्रकार कुल 107 छन्द इस काव्य ग्रन्थ में हैं। प्रशस्ति के पद्य में छन्द भिन्नता भी है, अतः इन्हें ग्रन्थ की मूल संख्या में न जोड़कर अलग से दिया है (101 + 6) मूल श्लोकों का अन्वय एवं वसन्ततिलका छन्द में हिन्दी पद्यानुवाद कवि ने स्वयं किया गया है। यह अनुवाद-शब्दानुवाद न होकर भावानुवाद है। यह काव्य ग्रन्थ पूर्व में कई स्थानों से प्रकाशित किया जा चुका है।

निरञ्जन शतकम्

जैसा कि इस ग्रन्थ का नाम है वैसे ही अञ्जन से रहित शुद्ध आत्म तत्त्व का वर्णन करने वाला है। इसमें कवि ने स्वयं के द्वारा स्वयं को उपदेश दिया है, क्योंकि एक आदर्श आचार्य पर-कल्याण के साथ-साथ स्वयं के कल्याण में भी निहित रहते हैं। कवि भी एक सम्यक् आदर्श आचार्य परमेष्ठी हैं। कवि ने संसार पदों को विपदाओं का कारण माना और निजपद को ही विपदाओं से रहित कहा हैं। यथा –

परपदं ह्यपदं विपदास्पदं निपदं च निरापदम्
इति जगाद ज़नाब्जरविर्भवान् ह्यनुभवन् स्वभवान् भववैभवान् ॥3॥

शुद्ध निरंजन स्वरूप को प्राप्त करने के लिए कवि ने भगवान की भक्ति

को निमित्त बनाया है, कवि ने कहा है कि भगवान की प्रसन्न मुद्रा देखने से पता लगता है कि आप के अन्दर आनन्द का सागर लहरा रहा है अतः मैनें भी इस मुद्रा को देखकर आनन्द के लिए निर्ग्रन्थ मुद्रा धारण कर ली है । यथा –

त्वदधरस्मितवीचिसुलीलया विदितमेव सतां सह लीलया ।
त्वयि मुदम्बुनिधिर्हि नटायते अहमिति प्रणतोऽप्यपटाय ते ॥18॥

जिनेन्द्र भगवान् को नाना प्रकार के विशेषणों से सम्बोधन करके भगवान की स्तुति की है । यह काव्य द्रुतविलम्बित छन्द में लिखा गया है । मूल काव्य 100 श्लोकों में है । 6 श्लोकों में प्रशस्ति, जिसमें कहा है कि आचार्य ज्ञानसागर महाराज के शिष्य विद्यासागर ने वीर निर्वाण सम्वत् 2503 ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को अंतिम श्रीधर केवली की निर्वाण स्थली कुण्डलगिरी में यह काव्य पूर्ण किया । प्रशस्ति के 5 पद्य श्रमण शतक से यथावत् लिए गए हैं । श्लोकों का अन्वयार्थ एवं हिन्दी पद्यानुवाद भी स्वयं कवि ने किया है । पद्यानुवाद वसन्ततिलका छन्द में है, जिसे वीर निर्वाण संवत् 2503 प्रथम आषाढ़ की अमावस्या को सिद्ध क्षेत्र कुण्डलगिरी में पूर्ण किया गया है ।

भावना शतकम्

इस काव्य ग्रन्थ में संसार का बीभत्स चित्रण करते हुए जनमानस को संसार से निकलने के उपायों पर विचार किया गया है । कथन की विधा भक्तामर स्तोत्र के अनुसार प्रस्तुत की गई है । अर्थात् प्रश्नवाचक समाधान किऐ गऐ हैं जैसे – उस प्रकार जब हो सकता है तो इस प्रकार क्यों नहीं हो सकता ? कवि की मान्यता है कि विनयशील व्यक्ति ही संसार से तिर सकता है । तीर्थंकर प्रकृति को बंध कराने वालीं सोलह कारण भावनाओं को ध्यान में रखकर यह काव्य रचा गया है । भावनाओं का कथन करने वाला होने से ''भावना शतक'' नाम दिया है । ग्रन्थ के प्रथम 3 श्लोकों में देव शास्त्र गुरु का स्तवन, एक श्लोक में ग्रन्थ लिखने की प्रतिज्ञा तथा सोलह कारण भावनाओं को (प्रत्येक को) 6-6 श्लोकों में लिखा है । अंतिम 101वें श्लोक में लिखा है कि गुरु के आशीर्वाद से यह ग्रन्थ पूर्ण हुआ, अपना नाम भी इसी श्लोक में प्रस्तुत किया है । संस्कृत में कहीं भी समय और स्थान का उल्लेख नहीं किया गया है मात्र हिन्दी पद्यानुवाद में कहा है कि सुहाग नगरी फिरोज़ाबाद में, बाहुबली के चरणों में विक्रम सम्वत् 2032 श्रावण बदी चौथ को पूर्ण किया। अन्वय अर्थ एवं हिन्दी पद्यानुवाद स्वयं कवि द्वारा ही रचित है । हिन्दी पद्यानुवाद का नाम ''तीर्थंकर कैसे बनें'' यह भी दिया गया है ।

परिषह–जय शतकम्

दिगम्बर जैन श्रमण को 22 प्रकार के परिषह हो सकते हैं, उनका वर्णन करते हुए उनको सहन करने की विधि एवं फल पर कवि ने विचार किया है । परिषह सहन करने वाले श्रमण को अनेक-अनेक सत् शब्दों द्वारा सम्बोधन किया है, जैसे

सत्कार पुरस्कार परिषह में कहा है कि हे ! श्रमण तुझे जब गणधर परमेष्ठी आदि नमस्कार करते हैं तो फिर अन्य के नमस्कार से क्या प्रयोजन ? यथा -

गणधरैः प्रणतोऽस्ति यदा स्वयं समितिषूपरतः सुखदा स्वयम् ।
किमु तदाप्यसतां प्रणतेर्नुतेरिति वदन्ति वुधाः सुमते नुते ॥82॥

इस काव्य में मूल में 100 श्लोक है 101वाँ श्लोक निरंजनशतक का यथावत् लिया है । जिसमें स्वयं का एवं गुरु का नाम प्रकट किया है । हिन्दी पद्यानुवाद ज्ञानोदय छन्द में किया गया है । द्रुतविलम्बित अनुष्टुप् एवं आर्या छन्दों का भी कहीं कहीं काव्य में प्रयोग किया गया है ।

सुनीति शतकम्

नाम के अनुसार इस संस्कृत काव्य में कवि ने नीतियों के माध्यम से भव्य जीवों को धर्म मार्ग की ओर प्रेरित किया है । शास्त्रों से आजीविका चलाने वाले विद्वानों को सावधान करते हुए ज्ञान के फल से रहित कहा है । यथा -

मूल्येन पुष्टं च मलेन तुष्टं नवीन वस्त्रं न हि नीरपायि ।
गुरूपदेशामृतरागहीनः शास्त्रोपजीवी खलु धीधरोऽपि ॥2॥

जिस प्रकार काली गाय का दूध सफेद ही होता है, उसी प्रकार मनुष्य का कुलगोत्र कोई भी हो लेकिन धर्मात्मा व्यक्ति की आत्मा पवित्र ही होती है । नीतियों का प्रयोग प्रायः उपमा एवं उत्प्रेक्षाओं के रूप में प्रस्तुत किया है, इसलिए कुछ उपमाओं ने भी नीतियों का रूप धारण कर लिया है । इस काव्य में सामाजिक, राष्ट्रीय एवं धार्मिक चेतना को जागृत करने वाली नीतियाँ उद्भावित हुयीं है । श्रृंगार रस के सम्बन्ध में कवि ने कहा है कि 'श्रृंग' याने शिखर अर्थात् शिखर पर बैठने वाला रस ही श्रृंगार रस है इसलिए शांत रस ही प्रधान रस है । यथा -

शृङ्गार एवैकरसो रसेषु न ज्ञाततत्त्वाः कवयो भणन्ति ।
अध्यात्मशृङ्गं त्विति रातिशान्तः शृङ्गार एवेति ममाशयोऽस्ति ॥22॥

अन्त में गुरु का नाम ज्ञानसागर तथा स्व नाम विद्यासागर तथा ग्रन्थ का नाम सुनीति शतक दिया है, स्थान-सम्मेदाचल का पाद प्रान्त ईसरी तथा समय-वीर निर्वाण सम्वत् 2509 महावीर जयन्ती पर पूर्ण किया । मूल 101 श्लोक, तीन प्रशस्ति श्लोक चार मंगलकामना श्लोक । इस प्रकार कुल 108 पद्यों वाला यह काव्य है। पद्यानुवाद ज्ञानोदय छंद में कवि ने स्वयं किया है ।

हिन्दी साहित्य

हिन्दी भाषा वर्तमान में राष्ट्र भाषा मानी जाती है । इस भाषा का साहित्यिक इतिहास अधिक प्राचीन नहीं है । लगभग 15वीं 16वीं शताब्दी के बाद ही इस भाषा में साहित्य का सृजन किया गया है । लेकिन इस भाषा की सहजता एवं सरलता ने वर्तमान में इसे भारत की राष्ट्रभाषा का सम्मान प्राप्त कराया है । अतः यह पारिवारिक सामाजिक एवं व्यावहारिक बोली की भाषा भी हो गई है ।

प्राकृत अपभ्रंश एवं संस्कृत साहित्य को पठनीय बनाने के लिए इस जन प्रिय हिन्दी भाषा में साहित्यकारों को प्राकृत, अपभ्रंश एवं संस्कृत भाषा में पूर्व रचित साहित्य का इस हिन्दी भाषा में अनुवाद करना उपयोगी / आवश्यक है ।

इस बीसवीं शताब्दी में तो इस हिन्दी भाषा में अपरम्पार साहित्य लिखा गया है क्योंकि साहित्यकार प्राय: जनप्रिय भाषा में ही साहित्य लिखने की भावना रखता है । महाकवि आ. ज्ञानसागर जी महाराज ने भी हिन्दी भाषा में साहित्य सृजित किया है तथा आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज ने भी इसी भाषा में सन् 1996 तक निम्न रचनायें लिखी हैं ।

मूकमाटी महाकाव्य

यह महाकाव्य आधुनिक मुक्त छन्द में लिखा गया है जिसे अतुकान्त छन्द् भी कहते है । आध्यात्मिक, धार्मिक एवं सामाजिक आदि अनेक दृष्टिकोण से यह इस शताब्दी का अति महत्त्वपूर्ण महाकाव्य है । इस महाकाव्य में विशेष रूप से सामाजिक उलझे हुए परिवेशों को महाकवि ने आगम तर्क एवं अनुभूति के आलम्बन से सुलझाकर समाज को प्रशस्त मार्ग का दिग्दर्शन किया है । जाति और कुल मद को निर्मद करते हुऐ स्त्री जाति को उनके नामों का शब्द विच्छेद करके समाज में नारी को उच्च स्थान प्रदान किया है । अर्थात कवि का मुख्य लक्ष्य उन तथ्यपूर्ण तत्वों का जीर्णोद्धार करना है जिनको समाज एवं धर्म के ठेकेदारों ने अपनी अहमियत को सुरक्षित करने के लिए उपेक्षित किया था । काव्य की मूल विषयवस्तु से भी यही बात ज्ञात होती है कि यहाँ पद दलित मिट्टी को मंगलकलश रूप प्रदान कर पूज्य बनाया गया है । अर्थात इस विषय को काव्य का विषय बनाने का कवि का यह ध्येय रहा है कि कुल और जाति से व्यक्ति कितना ही हीन क्यों न हो, लेकिन वह व्यक्ति सद् आचार-विचार की साधना से उच्च बन सकता है । मिट्टी से कुम्भ तक की व्यथा-कथा के निमित्त से धर्म-अधर्म, नैतिकता-अनैतिकता, सामाजिक एवं पारिवारिक उत्तरदायित्व, दाम्पत्य जीवन, निमित्त-उपादन, गृहस्थ-श्रमण जीवन, स्वमत-परमत, राजा-प्रजा, इहलोक-परलोक, संसार एवं मोक्ष मार्ग, आराध्य-आराधक, साध्य-साधक निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध एवं सामाजिक कुरीतियाँ आदि अनेक प्रसंगों पर इस महाकाव्य में प्रकाश डाला गया है । दाता और पात्र के सम्बन्धों का बड़े सुन्दर ढंग से प्रस्तुतीकरण किया गया है । वर्तमान के आंतकवाद पर प्रकाश डालते हुए कवि ने कहा है -

मिटने मिटाने पर क्यों तुले हो
इतने सयाने हो
फिर भी
प्रलय के लिये जुटे हो
जीवन को मत रण बनाओ

प्रकृति माँ का व्रण सुखाओ
प्रकृति माँ का ऋण चुकाओ

प्रकृति को उजाड़ने वाले तत्त्वों पर महाकवि ने प्रकृति के द्वारा ही कहलवाया है कि -

मेरे रोने से यदि तुम्हें सुख मिलता है
तो लो मैं रो रही हूँ
रो सकती हूँ ।

उपरोक्त पंक्तियाँ आज के वातावरण के लिये कितनी वात्सल्यमयी करुणामयी हैं, इनमें से करुण रस तथा इसका स्थाई भाव वात्सल्य प्रकट हो रहा है । पुरुषार्थ, उपकार एवं कर्म की नियति स्वभाव को प्रकट करते हुए कहा है कि

जब हवा काम नहीं करती
तब दवा काम करती है
और जब दवा काम नहीं करती
तब दुआ काम करती है
और जब दुआ काम नहीं करती
तब स्वयंभुवा काम करती है ।

इन पंक्तियों में महाकवि ने पुरुषार्थ परोपकार एवं कर्म के नियत स्वभाव का ध्यान रखते हुए वस्तु स्वभाव को स्वतन्त्र रखा है । चौथे खण्ड में अग्नि की भी अग्नि परीक्षा होती है, होनी ही चाहिए, तभी जला हुआ काला कोयला पुनः अग्नि का संस्कार पाकर शुक्ल हो जाता है । अतः काले कोयले की दशा चाँदी सी राख में परिणत हो जाती है ।

इस काव्य में 4 खण्ड हैं । प्रथम खण्ड का नाम "शंकर नहीं, वर्ण लाभ" दिया है, इसमें बताया गया है कि निमित्त को स्वीकार करने से उपादान में एवं वास्तु स्वातन्त्र्य में कोई शंकर दोष नहीं आता बल्कि उपादान में छुपी हुई शक्तियाँ उद्घटित हो जाती है । दूसरे खण्ड का नाम 'बोध, सो शोध नहीं' अर्थात शब्द ज्ञान को ज्ञान नहीं कहा जा सकता और ज्ञान मात्र को शोध नहीं कहा जा सकता है, जब तक ज्ञान चारित्र गुण की पर्याय बनकर अनुभव में नहीं आ जाता है ।

तीसरे खण्ड का नाम "पुण्य का पालन पाप का प्रक्षालन" है । इस खण्ड में कहा गया है कि जैसे-जैसे व्यक्ति के अन्तर घट में उफनते हुए पाप के बीजरुप क्रोध, मान, माया, लोभ एवं मोह शमन होते हैं, वैसे-वैसे पुण्य का सम्पादन होता है । पुण्य संचय से ही पाप का प्रक्षालन किया जा सकता है । आज के जो तथाकथित अध्यात्मवादी पुण्यक्रिया को हेय मानते हैं उनको इस अध्याय का पठन करके अपनी मिथ्या धारणा का प्रक्षालन कर लेना चाहिये ।

चौथे खण्ड का नाम 'अग्नि सी परीक्षा: चाँदी सी राख' दिया है, अर्थात् व्यक्ति यदि सच्चे रास्ते की कठिनतम घाटियों में उपसर्ग और परिषह को सहन

करता हुआ यदि अविरल बढ़ता जाता है तो अपने साध्य को सिद्ध कर लेता है। उदाहरण दिया है कि पैरों से रौदीं गई मिट्टी एक दिन मंगल कलश रूप धारण करती है और उस मंगल कलश को सारी दुनिया अपना मस्तक झुकाती है। इस काव्य में अनेक रस यथायोग्य स्थान पर समाहित है। काव्य नायक धीरोदात्त है। इस प्रकार यह महाकाव्य साहित्य पिपासुओं की पिपासा शांत करने में पूर्ण सक्षम है। इसका प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली से किया गया है।

नर्मदा का नरम कंकर

यह खण्ड काव्य छन्दमुक्त (अतुकान्त छन्द में) लिखा गया है, इसमें 36 कविताएँ हैं, कविताओं में स्व आध्यात्मिक अनुभूति तथा सामाजिक एवं राजनैतिक परिवेशों का चित्रण किया है। इसका प्रकाशन अनेक स्थानों से किया जा चुका है।

डूबो मत, लगाओ डुबकी

इस खण्ड काव्य में 42 लघु कविताऐं छन्द मुक्त (अतुकान्त छन्द में) लिखी गई हैं। संसार में रहकर शांति का अनुभव कैसे किया जा सकता है, उन उपायों की चर्चा की है अर्थात् कीचड़ में कमल, एवं स्वर्ण की दशा का वर्णन किया है।

तोता क्यों रोता है

यह भी छन्दमुक्त (अतुकान्त) 55 कविताओं को निबद्ध करने वाला खण्ड काव्य है। व्यक्ति वर्तमान के उपलब्ध वैभव से संतुष्ट न होकर भविष्य की महत्त्वाकांक्षाओं को लेकर रोता रहता है, इसी का चित्रण इसमें किया गया है।

निजानुभव शतक

यह शतक वसन्ततिलका छन्द में 104 पद्यों में लिखा गया है, प्रथम 3 छन्दों में देव शास्त्र गुरु की स्तुति की है तथा 4 छन्द में काव्य लिखने का अभिप्राय व्यक्त किया है। अंतिम 2 दोहों में लिखा है कि काव्य लिखने का स्थान अजमेर जिले का ब्यावर नगर तथा वर्षायोग में सुगन्ध दशमी के दिन पूर्ण किया।

मुक्तक शतक

102 मुक्तक वाले इस शतक में स्थान समय व गुरु तथा स्व लेखक का नाम कहीं भी अंकित नहीं किया है। प्रवचन आदि के मध्य में इन मुक्तकों को लेने से सरसता आ सकती है।

दोहा स्तुति शतक

101 दोहों में 24 भगवान् की स्तुति की गई है प्रत्येक भगवान का 4-4 दोहों में गुणानुवाद किया गया है। प्रथम 3 दोहों में शुद्ध भाव को नमन करते हुए स्व गुरु को नमन किया है। भारत राष्ट्र के प्रति मंगलकामना व्यक्त करते हुए कहा है कि -

भार रहित भारत बनें
भाषित भारत भाल ।

अर्थात भारत कर्ज़ से मुक्त हो, विश्व का सिरमुकुट बने । इस दोहा शतक की रचना अतिशय क्षेत्र बीनाबारहा में वीर निर्वाण संवत् 2519 में चैत्र सुदी त्रयोदशी (महावीर जयन्ती) पर पूर्ण की थी । इस में कवि ने अपने गुरु व स्व का नाम कहीं भी प्रकट नहीं किया है ।

पूर्णोदय शतक

102 छन्दों वाला यह शतक है । प्रथम 6 छन्दों में सिद्ध, अरिहंत, मुनि, गौतम-गणधर, जिनवाणी, गुरु ज्ञानसागर की वन्दना की है, कवि धार्मिक होने के साथ-साथ राष्ट्रप्रेमी भी हैं तथा समाज एवं देश में प्रेम, वात्सल्य देखना चाहते हैं। यथा -

"एक साथ लो बैल दो मिलकर खाते घास
लोकतंत्र पा क्यों लड़ो आपस में करने त्रास" ॥

संसार एवं संसारी प्राणी के स्वभाव का वर्णन इस शतक में है । अन्त के दो काव्यों में इस काव्य को लिखने का स्थान अतिशय क्षेत्र रामटेक तथा समय वीर निर्वाण संवत् 2520 में लिखा गया है ।

सर्वोदय शतक

इस शतक में 102 छंद हैं । प्रथम 4 छंदों में वीर भगवान, पूज्यपाद गुरु एवं जिनवाणी का स्मरण किया है । पाँचवें तथा 101वें छंद में इस शतक का नाम सर्वोदय शतक कहा है । इस काव्य में विभिन्न प्रकार के विषयों को समाविष्ट किया गया है। इस शतक को नर्मदा के उद्‌गम स्थान अमरकंटक में वीर निर्वाण संवत् 2520 में लिखा गया, ऐसा शतक के अन्त के दो छंदों में कहा है ।

विविध स्तुतियाँ एवं भजन

कवि मोक्षमार्ग में प्रवेश होने के साथ ही प्रारम्भ से ही कविता लिखने के जिज्ञासु रहे हैं । अतः पूर्व में आचार्य शांतिसागर महाराज की स्तुति वसंततिलका छन्द में 36 पद्यों द्वारा की है । इसी छन्द में वीरसागर महाराज की स्तुति 42 छन्दों में की हैं । आचार्य शिवसागर महाराज की स्तुति मन्दाक्रान्ता के 22 छन्दों द्वारा की है । आचार्य ज्ञानसागर महाराज की स्तुति 20 छन्दों द्वारा की गई है । इसके अलावा भजन -(1) "अब मैं मन मंदिर में रहूँगा," पांच छन्दों में लिखा है । (2) 'पर भव त्याग तू बन शीघ्र दिगम्बर' 4 छन्दों में (3) 'मोक्ष ललना को जिया कब वरेगा' 4 छन्दों में लिखा हैं । (4) 'भटकन तब तक भव में जारी' 4 छन्दों में। (5) 'बनना चाहता है अगर शिवांगना पति' को 4 छन्दों में । (6) 'चेतन निज को जान जरा' 11 छन्दों में । (7) इंगलिश में 'My Self' और (8) 'My Saint' (9) बंगाली भाषा में भी कविता लिखी है, जो अप्राप्त है ।

पद्यानुवाद

द्रव्य, क्षेत्र एवं कालादि की अपेक्षा विश्व में नाना प्रकार की भाषाएँ प्रचलित रहती हैं तथा उसी द्रव्य क्षेत्र एवं कालदि की मर्यादाओं के वातावरण से प्रभावित होकर साहित्यकार तद्रूप भाषा में साहित्य सृजित करते हैं, लेकिन द्रव्य क्षेत्र एवं कालादि की परिणमनशीलता के कारण भाषा भी स्वभावत: परिवर्तित होती है। परिणामस्वरुप पूर्व साहित्यकारों की अनुभूति तथा परम्परागत विषय वस्तु को स्पष्ट, सरल एवं सुबोध रूप में जनमानस तक पहुँचाने के लिए जनप्रिय भाषा में अनुवाद की विधा को अपनाया जाता है। अनुवाद की विधा गद्य एवं पद्यात्मक होती है। वर्तमान में आर्यावर्त में दोनों विधायें विद्यमान हैं। पद्यानुवाद को नाना प्रकार के मात्रिक छन्दों की सूत्रधारा में पिरोकर/गूंथकर सजाया जाता है। अर्थात् छन्दगत मात्राओं को ध्यान में रखकर सम्पूर्ण विषय को सीमित शब्दों में लिखकर, "गागर में सागर" भर दिया जाता है। आधुनिक अतुकान्त छन्द को भी क्वचित् कदाचित् वर्तमान में अपनाया जा रहा है।

गद्यानुवाद की विधा खण्डान्वय अथवा दण्डान्वय रुप होती है। दोनों अनुवाद छायानुवाद एवं विशेषानुवाद रुप देखे जाते हैं। छायानुवाद में मूल शब्दों को यथारूप में भाषान्तरित कर दिया जाता है तथा विशेषानुवाद में मूल शब्दों की अर्थगत् नाना अपेक्षाओं को ध्यान में रखकर सापेक्ष विस्तृत कथन किया जाता है। गद्यात्मक विशेषानुवाद को 'टीका' भी कहते हैं।

20 वीं शताब्दी में महाकवि आचार्य ज्ञानसागर जी ने गद्यात्मक एवं पद्यात्मक दोनों विधाओं में अनुवाद (टीकाएँ) किये हैं। लेकिन पूज्य गुरुवर महाकवि आचार्य विद्यासागर जी ने पद्यानुवाद में ही अनुवाद किये हैं। आचार्यश्री द्वारा आज तक (सन् 1996 तक) निम्न ग्रन्थ अनूदित होकर साहित्य जगत् में अपनी सुरभि विकीर्ण कर रहे हैं –

जैन गीता

विनोबा भावे जी ने 2500 निर्वाण महोत्सव के अवसर पर जैन विद्वानों को प्रेरणा दी थी कि जैनियों का एक सारभूत संकलित ग्रन्थ तैयार होना चाहिए, जिसमें जैन धर्म के मुख्य सिद्धान्त समाहित हों। जिसे पढ़कर पाठक जैन धर्म को समझ सकें। तदनुसार ब्र. जिनेन्द्र वर्णी जी ने समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियम सार, अष्टपाहुड़, द्रव्य संग्रह, गोम्मट सार आदि अनेक प्रमुख ग्रन्थों से सारपूर्ण गाथाओं का संकलन किया। प्रथम प्रकाशन के समय इस संग्रह ग्रन्थ का नाम "जैन धर्म का सार" रखा गया, लेकिन गाथाओं पर विद्वानों के मतैक्य नही होने से कुछ गाथाओं को निकालकर तथा कुछ गाथाओं को जोड़कर नाम दिया गया "जिणधम्म" लेकिन उसके बावजूद भी विद्वद् वर्ग संतुष्ट नहीं हुआ। अत: तीसरी बार विनोबा भावे के सान्निध्य में एक संगोष्ठी रखी गई, जिसमें आचार्य मुनि एवं विद्वानों सहित

लगभग 300 लोग एकत्रित हुए तथा बहुत ऊहापोह के साथ गाथाओं का संग्रह किया गया। गाथाओं की संख्या पर विनोबा भावे जी ने कहा कि 7 एवं 108 का अंक जैन समाज के लिए बहुत प्रिय है अत: दोनों को परस्पर में गुणा करने पर 756 आयेगा। अत: 756 संख्या मान्य की गई ।

इस ग्रन्थ के चार खण्ड किए गए हैं । प्रथम खण्ड में 15 अध्यायों में 191 श्लोक हैं जिसके 1 दोहे में संसार का चित्रण एवं उससे बचने के उपाय, दूसरे खण्ड में 18 अध्याय, गाथा 396 है जिसके एक दोहा में मोक्ष मार्ग की साधना के स्वरुप है । तृतीय खण्ड में तीन अध्याय गाथाऐं 71 है जिसके एक दोहा में सृष्टि एवं सृष्टि में विद्यमान पदार्थों का वर्णन है । चतुर्थ खण्ड में 8 अध्याय एवं गाथा 94 हैं । एक दोहे में जैन दर्शन के दार्शनिक सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया गया है। इसका पद्यानुवाद सर्वप्रथम महाकवि आचार्य विद्यासागर जी महाराज ने वसन्ततिलका छन्द में 7 माह में पूर्ण किया था । पद्यानुवाद में मूल शब्दों का ध्यान रखने के साथ-साथ कुछ अलग से शब्दों को जोड़ा गया है, जिससे मूल गाथा का अर्थ-गौरव बढ़ गया है, अत: इस पद्यानुवाद को छायानुवाद न कहकर विशेषानुवाद कह सकते हैं। 756 गाथाओं का पद्यानुवाद 756 पद्यों में ही किया गया है । अंत में 10 छंदों में पद्यानुवाद की प्रशस्ति लिखी गई है, जिसमें ग्रन्थ का नाम ''जैन गीता'' गुरु का नाम ज्ञानसागर एवं स्वयं का नाम विद्यासागर व्यक्त किया है तथा अपनी लघुता व्यक्त करते हुए धीमानों को त्रुटियों को सुधारने का अधिकार दिया है । 4 पद्यों में संसारी जीवों को सम्बोधन करते हुए कहा है कि दूसरों के पथ में शूल मत बोओ । सेवा और परोपकार की भावना रखते हुए तमो एवं रजो गुण को त्यागकर सत्त्वगुण का आलम्बन लो, एकान्तवाद का प्रतीक ''ही'' (हठवादिता) को त्यागकर अनेकान्त के प्रतीक 'भी' को स्वीकार करो तो नियम से 3-6 का आंकड़ा समाप्त होकर 6-3 का आंकड़ा हो जायेगा, जिसे विश्व शांति का योग कहा जा सकता है । समस्त पृथ्वी को हरी-भरी देखने की कामना करते हुए इस पद्यानुवाद को श्रीधर केवली की निर्वाण भूमि कुण्डलगिरी में वर्षायोग के समय बड़े बाबा के आशीर्वाद से विक्रम संवत् 2042 भाद्र शुक्ला तीज को भुक्ति मुक्ति का बीज रूप पद्यानुवाद पूर्ण किया।

कुन्दकुन्द का कुन्दन

महान् आध्यात्मिक ग्रन्थराज समयसार के पद्यानुवाद का नाम 'कुन्दकुन्द का कुन्दन' है । कुन्दकुन्द स्वामी द्वारा रचित प्राकृत भाषा का यह मूल ग्रन्थ है। कहा जाता है कि बनारसी दास को जब समयसार की हस्तलिखित मूल प्रति भेंट की गई तो वह इतने आनन्दित हुए कि तिजोरी में से दोनों हाथों में रत्नों को भरकर समयसार देने वाले व्यक्ति को भेंट किये तथा बड़े आदर से ग्रन्थ राज को नमस्कार किया । कवि भी अध्यात्म प्रेमी हैं, समयसार ही कवि का जीवन है, कवि को पूरा समयसार कण्ठस्थ होने से वे प्रतिदिन मुखाग्र इसका पाठ करते हैं। मात्र कण्ठस्थ

ही नहीं है, अण्टस्थ भी है । आपका जीवन एवं समयसार एक दूसरे के परस्पर पर्यायवाची बन गये हैं । जयसेन स्वामी के द्वारा बताई गई कुन्द कुन्द स्वामी की क्रम संख्या के अनुसार पद्यानुवाद किया गया है, पद्यानुवाद में वसन्ततिलका छन्द है । ग्रन्थ के प्रारम्भ में देव शास्त्र गुरु, कुन्द कुन्द स्वामी, जयसेन स्वामी तथा आचार्य ज्ञानसागर महाराज की स्तुति की है । एक छन्द में पद्यानुवाद का प्रयोजन व्यक्त किया गया है ।

इसमें पूर्वरंगाधिकार, जीवाजीवाधिकार, कर्त्ता कर्माधिकार, पुण्य पापाधिकार, आस्रवाधिकार, संवराधिकार, निर्जराधिकार, बन्धाधिकार, मोक्षाधिकार और सर्व विशुद्धि अधिकार हैं ।

मूल ग्रन्थ के 443 छन्द व 12 छन्दों में प्रशस्ति दी गई है, जिसमें एक छन्द में कवि ने अपनी लघुता व्यक्त करते हुए गल्तियों को शोधन करने का अधिकार विद्वानों को दिया है । ग्रन्थ लिखने का स्थान श्रीधर केवली की निर्वाण स्थाली कुण्डलगिरि एवं रचना-काल बड़े बाबा की कृपा से वीर निर्वाण संवत् 2503 शरद पूर्णिमा बतायी गयी है । पद्यानुवाद शब्दानुवाद न होकर भावानुवाद के रूप में किया गया है । गाथा के पूर्ण भाव को कवि ने लेने का प्रयास किया है । कई स्थानों पर गाथांओं में जिन शब्दों का / भावों का उल्लेख नहीं है, लेकिन पद्यानुवाद में उन शब्दों और भावों को समाविष्ट किया गया है । जैसे मंगलाचरण की मूलगाथा में मात्र श्रुतकेवली शब्द लिया है लेकिन अनुवाद में भद्रबाहु श्रुतकेवली ले लिया गया है । इसी प्रकार अनेक स्थलों पर अधिक शब्दों को लिया है, ये विशेषता जरूर है कि कवि ने मूलगाथा का ऐसा कोई भी शब्द नहीं छोड़ा, जिसका पद्यानुवाद नहीं किया गया हो । प्रकाशित पुस्तक में बायें पृष्ठ पर प्राकृत में मूलगाथा एवं संस्कृत में छायानुवाद किया गया है । दायें पृष्ठ पर पद्यानुवाद दिया गया है ।

निजामृतपान

अमृतचंद्र सूरि द्वारा समयसार की आत्मख्याति टीका के अन्तर्गत संस्कृत श्लोक लिये गये हैं, जिन्हें विद्वद् वर्ग ने अलग से निकालकर प्रकाशित किया तथा अमृतकलश नाम दिया । अध्यात्मपिपासु इन कलशों में भरे हुए अध्यात्मरस को अमृत के समान रुचि से पान करते हैं, अमृतचंद्र सूरि के शब्दों में क्लिष्टता होने के बावजूद भी कवि ने पद्यानुवाद बड़ी कुशलता से किया है, इस अनुवाद में भी जो शब्द मूलश्लोक में नहीं है, उन शब्दों को पद्यानुवाद में प्रवेश कराया गया है, जैसे टीकाकार शब्दों के अर्थों को स्पष्ट करने के लिये नये-नये शब्दों का प्रयोग करते हैं, उसी विधा में कवि ने यह पद्यानुवाद ज्ञानोदय छंद में 278 पद्यों में किया है । अन्त में अलग से 2 दोहे तथा एक वसंततिलका छन्द में, पद्य है । जिसमें गुरु ज्ञानसागर एवं स्वनाम विद्यासागर नाम व्यक्त किया है, दो दोहों में कुन्दकुन्द स्वामी, अमृतचंद्र सूरि, ज्ञानसागर महाराज के उपकारी भाव को प्रदर्शित किया है । एक दोहे में निजामृत पान की

महिमा बताते हुए कहा है कि इसका जो पान करेगा वह नियम से मोक्ष सोपान को प्राप्त करेगा। 7 दोहों में मंगलकामना की है तथा उन दोहों के यदि प्रथम अक्षर को संग्रह किया जाये तो कवि का स्वयं का नाम विद्यासागर निकल आता है। एक दोहे में लघुता व्यक्त करने के उपरान्त दो दोहों में रचना का स्थान कुण्डलगिरि के पास दमोहनगर एवं रचनापूर्ति वीर निर्वाण संवत् 2504 महावीर जयंती के सुअवसर बतायी गयी है। इस ग्रन्थ की प्रस्तावना कवि ने स्वयं चेतना के गहराव के नाम से लिखी है। इस प्रकार 278 ज्ञानोदय छन्द 23 दोहे और 1 वसंततिलका छन्द, कुल 302 छन्द का यह पद्यानुवाद पाठकों के लिए निज आत्मा का पान कराने वाला सिद्ध होगा।

द्रव्य संग्रह

यह ग्रंथ मूल प्राकृतभाषा में लगभग 1 हजार वर्ष पूर्व सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द्र आचार्य महाराज ने 58 गाथाओं में गागर में सागर के रुप में रचा था। कवि को यह लघुग्रन्थ इतना रुचिकर लगा कि 2 बार भिन्न-भिन्न छन्दों में पद्यानुवाद किया। प्रथम पद्यानुवाद वसंततिलका छन्द में किया गया है, जिसमें 58 मूल पद्य हैं तथा 1 पद्य में आचार्य नेमिचन्द्र स्वगुरु ज्ञानसागर एवं स्वनाम विद्यासागर दिया है। एक पद्य में लघुता प्रकट की है, एक पद्य में ग्रन्थ का स्थान-ग्राम अभाना में वीर निर्वाण संवत् 2504 दर्शाया गया है। दूसरा पद्यानुवाद ज्ञानोदय छन्द में है, जो वीर निर्वाण संवत 2517 में सिद्ध क्षेत्र मुक्तागिरी में रचित है। प्रथम अनुवाद की अपेक्षा दूसरा अनुवाद गाथाओं के रहस्य को विशेषता पूर्वक उद्घाटित करता है, इस द्वितीय अनुवाद का प्रारम्भ भगवान नेमिनाथ, नेमिचन्द्र आचार्य एवं स्वगुरु ज्ञानसागर की स्तुति से किया है। प्रथम पद्यानुवाद की तरह इस द्वितीय पद्यानुवाद में कहीं भी कवि ने स्वयं का नाम स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से नहीं दिया गया है। मात्र 58 पद्यों में मूल अनुवाद 6 दोहों में मंगलकामना 2 दोहों में स्थान और समय परिचय दिया है। इस प्रकार कुल 68 पद्यों में द्वितीय अनुवाद पूर्ण हुआ है।

द्वितीय अनुवाद का जब प्रथम अनुवाद से तुलना करते हैं तो प्रतीत होता है कि एक ही व्यक्ति के जीवन में ज्ञान और अनुभव में कितना महान अन्तर आ जाता है। शोधार्थियों के लिये दोनों अनुवादों का तुलनात्मक अध्ययन करने से महत्त्वपूर्ण विषय सामग्री उपलब्ध होगी।

अष्ट पाहुड़

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी द्वारा 8 भागों में प्राकृत भाषा में लिखा गया यह ग्रन्थ मोक्षमार्गियों के लिये निर्णयात्मक ग्रन्थ है। कवि ने इसका पद्यानुवाद पूर्ण सावधानी पूर्वक करने का प्रयास किया है, लेकिन फिर भी कहीं-कहीं छन्द पूर्ति के लिए कुछ शब्दों को जोड़ा है, जैसे दर्शन पाहुड़ की तीसरी गाथा में पुरुष शब्द नहीं है, लेकिन अनुवादक ने अपने अनुवाद में पुरुष शब्द को प्रस्तुत किया है, जो गाथा

के अर्थ को विस्तृत न करके सीमित करता है। उसी प्रकार पांचवीं गाथा में सम्यक्त्व से रहित जीव को अनुवादक ने मंद पापी कहा है, लेकिन मूलगाथा में ऐसा कुछ भी नहीं है, ऐसे और भी प्रसंग है जो विचारणीय हैं। दर्शनप्राभृत में 36 पद्य, सूत्रप्राभृत में 27, चारित्रप्राभृत में 45, बोधप्राभृत में 62, भावप्राभृत में 165, मोक्षप्राभृत में 106, लिंग प्राभृत में 22, शीलप्राभृत में 40, इस प्रकार 503 पद्यों में मूलगाथा का अनुवाद है तथा प्रत्येक पाहुड़ के अन्त में सारभूत अर्थ को प्रकट करने वाले क्रमशः निम्न प्रकार दोहे लिए हैं - 2 - 2 - 2 - 3 - 2 - 2 - 2 = 15 ग्रन्थ के अन्त में 1 दोहे में लघुता प्रकट की है। 9 दोहों में कुन्द-कुन्द स्वामी एवं स्वगुरु ज्ञानसागर महाराज का नामोल्लेख किया है। 2 दोहों में स्थान- सिद्ध क्षेत्र नैनागिरी तथा रचना काल वीर निर्वाण संवत् 2505 दीपावली का दिन बताया गया है, इस प्रकार इसमें कुल 529 पद्य है।

नियमसार –

187 गाथाओं में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी द्वारा प्राकृत भाषा में निश्चय-व्यवहार, कारण-कार्य, निमित्त-उपादान की समन्वयात्मक दृष्टि प्रकट की है। इस ग्रन्थ को पढ़ने के बाद यदि व्यक्ति समयसार पढ़ेगा तो वह एकान्तवादी होने से बच सकता है। पद्यानुवाद वसंततिलका छन्द में 187 पद्यों में किया गया है। ग्रन्थ के प्रारंभ में 5 दोहों में भगवान सन्मति, आचार्य कुन्दकुन्द एवं स्वगुरु ज्ञानसागर महाराज का स्मरण किया है, ग्रन्थ के अंत में एक दोहे में अपनी लघुता सिद्ध की है, तथा 3 दोहों में रचना का स्थान अतिशय क्षेत्र थूवोन जी के शांतिनाथ भगवान के चरणों में वर्षायोग के अवसर पर वीर निर्वाण संवत् 2507 में इस पद्यानुवाद की पूर्ति होना बताया गया है। विचारणीय विषय है कि थूवोन क्षेत्र के मूलनायक आदिनाथ हैं फिर कवि ने शांतिनाथ भगवान के चरण सान्निध्य की बात क्यों कही। मेरी दृष्टि से यह हो सकता है कि कवि के इष्टदेव, शांतिनाथ हो सकते हैं अथवा दूसरी तरफ यह भी अर्थ निकलता है कि थूवोन क्षेत्र में लगभग 25 मंदिर है। क्षेत्र के प्रथम चातुर्मास में जिस मंदिर में आचार्य श्री बैठते थे, उस मंदिर के मूलनायक शांतिनाथ हैं, संभवतया इसलिए शांतिनाथ भगवान को स्मरण किया हो। इस पद्यानुवाद में कवि ने अपना नाम कहीं भी प्रदर्शित नहीं किया है।

द्वादशानुप्रेक्षा –

कुन्दकुन्द स्वामी द्वारा प्राकृत भाषा में 51 गाथाओं में 12 अनुप्रेक्षाओं का वर्णन किया गया है। कवि ने वसंततिलका छन्द में 51 पद्यों में ही पद्यानुवाद किया है। अनुवादक ने कहीं भी मूलग्रन्थकर्ता, गुरु एवं स्वयं के नाम का कहीं भी संकेत नहीं किया है और न ही समय स्थान का परिचय दिया है।

समन्तभद्र की भद्रता –

महान दार्शनिक आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने स्वयंभू-स्तोत्र नाम से 24 तीर्थंकरों का स्तवन किया है । 143 श्लोक प्रमाण संस्कृत भाषा में लिखा गया यह ग्रन्थ कवि को बहुत प्रिय है । कवि एक आचार्य हैं और जैन दर्शन के अनुसार आचार्य उपाध्याय साधु को 6 आवश्यकों में स्तुति, वंदना आवश्यक भी है, उसे प्रतिदिन करना पड़ता है, अत: आचार्यश्री इस स्तोत्र का प्रतिदिन स्तुति, वंदना नामक आवश्यकों की सम्पूर्ति हेतु पाठ करते हैं तथा संघस्थ साधुओं के लिए भी इसी का पाठ करने का निर्देश दिया करते हैं । कवि ने बड़ी रुचि से सरल और सरसता के साथ ज्ञानोदय छन्द में 143 पद्यों में अनुवाद किया है । प्रत्येक तीर्थंकर से संबन्धित श्लोकों के अनुवाद के बाद कवि ने अपनी तरफ से 2-2 दोहों द्वारा संबंधित तीर्थंकरों की स्तुति की है, ये दोहे इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि मंदिरों में तीर्थंकरों के अर्घ के लिए इनको लिखा जा सकता है । अनुवाद के अन्त में एक पद्य द्वारा लघुता प्रकट की है, 9 पद्यों में मंगलकामना, एक पद्य में स्वगुरु का नाम ज्ञानसागर स्मरण किया है दो पद्यों में स्थान का नाम इस प्रकार दिया है कि जब संघ प्रथम बार सागर में पहुँचा, उस समय वीर निर्वाण संवत् 2506 में महावीर जयन्ती पर यह अनुवाद पूर्ण किया गया । दायें पृष्ठ पर मूल संस्कृत श्लोक एवं बायें पृष्ठ पर हिन्दी पद्यानुवाद दिया गया है । कुल पद्य 167 हैं । कवि ने अपना नाम इस अनुवाद में कहीं भी नहीं दिया है । इसकी प्रस्तावना डॉ. पन्नालाल साहित्याचार्य ने लिखी है ।

गुणोदय –

आचार्य गुणभद्र स्वामी द्वारा 269 संस्कृत श्लोकों में आत्मानुशासन ग्रन्थ रचा गया है, जिसका पद्यानुवाद कवि ने किया है, और नाम गुणोदय रखा है। अनुवाद में लघु दृष्टान्तों द्वारा विषय को सुपाच्य किया गया है । ग्रन्थ का मूल लक्ष्य विषयभोगों से विरक्त करा कर भव्य जीवों को मोक्षमार्ग पर प्रवृत्त कराना है । ग्रन्थ की भूमिका स्वयं कवि ने गद्य में लिखी है । कुल 269 पद्यों में अनुवाद करने के बाद अंत में 7 दोहों में मंगलकामना, 1 दोहे में लघुता, 1 दोहे में गुरु का नामस्मरण, 2 दोहों में रचना का स्थान सिद्धक्षेत्र मुक्तागिरि, एवं समय-वीर निर्वाण संवत 2506 के कार्तिक कृष्णा 30 रचनापूर्ति काल बताया है । बायें पृष्ठ पर मूल श्लोक तथा दायें पर पद्यानुवाद दिया गया है ।

रयणमंजूषा –

आचार्य समन्तभद्र द्वारा रचित यह ग्रन्थ गृहस्थों के सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र से युक्त अणुव्रत एवं 11 प्रतिमाओं का वर्णन करने वाला है । अनुवादकार ने मूल श्लोकों के शब्दार्थों को ध्यान में रखते हुए विशेष अर्थ को प्रकट करने के लिए कुछ शब्दों को अलग से जोड़ दिया है, जो मूल श्लोकों में नहीं है । जैसे मूल श्लोक में 'मूल' शब्द आया है, उसका अनुवाद कवि ने मूली, लहसुन, प्याज, गाजर

आदि लिया है, ये नाम मूल श्लोक में नहीं हैं । इसी प्रकार अनेक पद्यों में ऐसे प्रसंगों को प्रासंगिक किया है । 150 पद्यों वाला यह अनुवाद बहुत ही रोचक और ज्ञानवर्धक है । 8 पद्यों में मंगलकामना 3 पद्यों में स्थान कुण्डलगिरि एवं समय वीर निर्वाण संवत् 2507 में रचना-पूर्ण होना बताया गया है । इस अनुवाद में लेखक ने कहीं भी स्वयं अथवा अपने गुरु का नाम स्पष्ट नहीं किया है । बायें पृष्ठ पर मूल श्लोक और दायें पृष्ठ पर अनुवाद प्रकाशित किया है ।

आप्त मीमांसा –

इतिहासकारों का कहना है कि आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने 84000 श्लोक प्रमाण गंधहस्ति महाभाष्य लिखा था, जिसमें पशु पक्षियों की भाषा भी निबद्ध थी। दुर्भाग्य से ऐसा महान भाष्य आज हमारे बीच में उपलब्ध नहीं है । भविष्य वक्ताओं के अनुसार जर्मन में जमीन के अन्दर कहीं रत्न पिटारे में सुरक्षित रखा हुआ है। लेकिन उसकी उपलब्धि तक्षक नागमणी के समान दुर्लभ है । इस ग्रन्थ का मंगलाचरण 114 श्लोकों में किया गया है । अनुमान करें, जिसका मंगलाचरण ही इतना बृहद् है तो इसके मूलग्रन्थ का कलेवर कितना बृहद् होगा । सौभाग्य से वह मंगलाचरण हमारे बीच में उपलब्ध है, जिसे आप्तमीमांसा के नाम से जाना जाता है । कवि ने यथावत् 114 पद्यों में अनुवाद किया है, इसके अलावा काव्य के प्रारंभ में 7 पद्यों में भगवान सन्मति, आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य समन्तभद्र, आचार्य ज्ञानसागर का गुणानुवाद करते हुए अनुवाद का प्रयोजन स्पष्ट किया है । एक पद्य में लघुता तथा एक पद्य में स्थान ईसरी (बिहार) एवं समय वीर निर्वाण संवत् 2507, सुगंध दशमी को पूर्ण किया बताया गया है । अन्त में 8 पद्यों में मंगल कामना की है। कवि ने पूरे अनुवाद में अपने नाम का संकेत नहीं किया है, पूर्ववत् बायें पृष्ठ पर मूल श्लोक एवं दायें पर अनुवाद प्रकाशित किया है ।

इष्टोपदेश –

आचार्य पूज्यपाद द्वारा यह लघुग्रन्थ उपदेशात्मक शैली में प्रशम एवं संवेग भाव को बढ़ाकर संयम मार्ग की ओर प्रेरित करने वाला है, कवि को यह 52 श्लोक वाला यह ग्रन्थ इतना रुचिकर लगा कि इसका 2 बार भिन्न-भिन्न छन्दों में अनुवाद किया है । प्रथम अनुवाद बसंततिलका छन्द में किया है । मूल अनुवाद 52 पद्यों में एक पद्य पूज्यपाद स्वामी की स्तुति करते हुए श्लेषात्मक ढंग से स्वयं का नाम "विद्या" ऐसा संकेत किया है । द्वितीय अनुवाद ज्ञानोदय छंद में किया है । अन्त में 3 पद्यों में स्थान रामटेक एवं समय वीर निर्वाण संवत् 2507 पोष शुक्ला तीज को पूर्ण किया है, ऐसा कहा है । प्रथम अनुवाद में समय एवं स्थान का कोई संकेत नहीं किया गया है तथा द्वितीय अनुवाद में गुरु अथवा स्वयं के नाम का कोई उल्लेख नहीं किया गया है ।

गोम्मटेश अष्टक –

आचार्य नेमिचन्द्र महाराज ने गोम्मटेश बाहुबली की स्तुति में प्राकृत भाषा में यह अष्टक लिखा है, इसका पद्यानुवाद कवि ने ज्ञानोदय छन्द में किया है। एक दोहे में नेमिचन्द्र आचार्य का गुणानुवाद एवं दूसरे दोहे में स्वयं का नाम दिया है।

कल्याण मंदिर स्त्रोत –

आचार्य वादिराज महाराज ने पार्श्वनाथ भगवान की स्तुति के रूप में 42 श्लोकों में यह स्तोत्र रचा है, कवि ने इसका पद्यानुवाद 42 पद्यों में ही किया है। प्रायः पद्य के प्रथम चरण में दृष्टान्त तथा द्वितीय चरण में दार्ष्टान्त दिया गया है। 41वें पद्य में पार्श्वनाथ भगवान का नाम स्मरण किया गया है। कवि ने स्वयं एवं गुरु के नाम का तथा समय/स्थान के संदर्भ में कुछ भी संकेत नहीं दिया है।

नन्दीश्वर भक्ति –

पूज्यपाद द्वारा रचित संस्कृत भाषा की 10 भक्तियों में से एक नन्दीश्वर भक्ति है, जिसका पद्यानुवाद कवि ने किया है। जिसमें विशेष रूप से नन्दीश्वर द्वीप एवं वहाँ विराजित चैत्य-चैत्यालय का वर्णन किया गया है। अनुवाद के अन्त में 2 पद्यों में पूज्यपाद स्वामी तथा ज्ञानसागर महाराज का नाम स्मरण किया है। मूल श्लोकों का अनुवाद 60 पद्यों में तथा 5 पद्यों में अञ्चलिका का अनुवाद किया गया है, 5 पद्यों में प्रशस्ति लिखी गयी, जिसमें स्थान सिद्धक्षेत्र मुक्तागिरि एवं समय वीर निर्वाण संवत् 2517 ज्येष्ठ सुदी पंचमी को पूर्ण किया गया है, ऐसा बताया गया है। इस प्रकार कुल 72 पद्यों वाला यह अनुवाद है।

समाधि सुधा शतकम् –

पूज्यपाद स्वामी द्वारा रचित 105 श्लोकों वाला समाधि तन्त्र का पद्यानुवाद किया गया है। पद्यानुवाद के अन्त में पूज्यपाद स्वामी का स्मरण कर स्वनाम का संकेत किया है। समय एवं स्थान का कोई भी संकेत नहीं दिया गया है। अनुवाद वसंततिलका छंद में किया गया है।

योगसार –

योगेन्द्र स्वामी द्वारा प्राकृत भाषा में रचे गये योगसार ग्रन्थ का 107 पद्यों में अनुवाद किया गया है। एक पद्य में मूलग्रन्थकर्ता का स्मरण, ग्रन्थ का नाम तथा स्वनाम दिया गया है। अनुवाद वसंततिलका छंद में किया गया है।

एकीभाव स्त्रोत –

आचार्य कविराज द्वारा संस्कृत में रचे गए इस स्तोत्र का 25 पद्यों में अनुवाद किया गया है एक पद्य में मूलग्रन्थ कर्ता, कविराज की स्तुति तथा दूसरे पद्य में स्वनाम का संकेत किया है। यह अनुवाद मन्दाक्रान्ता छन्द में किया है।

प्रवचनावली –

भव्यजीवों के कल्याण करने वाले आचार्यश्री के प्रवचन दार्शनिक, आध्यात्मिक विषय को प्रथमानुयोग की कथाओं से सुपाच्य बनाने वाले होते हैं। विशेष कार्यक्रमों को छोड़कर प्रायः प्रवचन रविवार को ही होते हैं। हजारों लोग मन्त्र मुग्ध होकर आपके प्रवचन सुनते हैं। लगभग अभी तक आपके 1500 प्रवचन हो चुके हैं, जिनमें से लगभग 100 प्रवचन अनेक संस्थाओं एवं पत्र-पत्रिकाओं से प्रकाशित हो चुके हैं। विद्वानों के बीच में चर्चा का विषय बनने वाले मुख्य प्रवचन सिद्धक्षैत्र नैनागिरी में 7 तत्त्वों पर दिये गये प्रवचन हैं, क्योंकि इसमें मिथ्यात्व को बंध के क्षेत्र में अकिंचित् कर कहा गया है। इस सत्य को विद्वान नहीं पचा सके, जिससे आचार्यश्री को स्पष्टीकरण करने के लिए पुनः प्रवचन देने पड़े, जो अकिंचित्कर नाम से प्रकाशित हैं। दूसरे प्रवचन केशली पंचकल्याणक महोत्सव के माने जाते हैं। जो वर्तमान की श्रमण संस्कृति को नकारने वाले डॉ. हुकमचंद भारिल्ल की मिथ्या धारणाओं को खण्डन करने वाले हैं तथा आगमोक्त सत्य का मण्डन करने के लिये दिए गये थे। डॉ. भारिल्ल भी उसमें उपस्थित थे। आचार्यश्री के प्रवचन पूर्णतया आगमयुक्त होते हैं, जिनमें नीतियाँ, मुहावरे, सूक्तियाँ निबद्ध रहती हैं।

इस प्रकार परम पूज्य महाकवि आचार्य विद्यासागरजी महाराज का यह विपुल साहित्य साहित्यजगत् को गौरवान्वित करने वाला है। पूज्य गुरुदेव के इस साहित्य पर अनेकों शोधार्थी शोध कार्य कर इनके साहित्य में छुपे हुए रत्नों को निकालकर साहित्य जगत् को कण्ठहार प्रदान कर सकते हैं।

आचार्य श्री द्वारा लिखे गऐ अभी तक 39 काव्य ग्रन्थ हैं, जो ग्रन्थ अलग-अलग स्थानों से प्रकाशित हुऐ हैं। क्योंकि कवि ने जिस स्थान पर ग्रन्थ लिखा, वहीं पर भव्य श्रद्धालुओं ने प्रकाशित कराकर वितरित करा दिया, जिससे वे पुस्तकालय विश्वविद्यालय एवं मन्दिरों के शास्त्र भण्डारों एवं भारतवर्षीय साहित्य जगत् के मनीषी विद्वानों के पास नहीं पहुँच सके हैं। अतः अभी तक गुरुदेव के साहित्य का विद्वानों द्वारा सही मंथन नहीं किया जा सका हैं। विद्वानों ने साहित्य को चाहा भी लेकिन अलग-अलग स्थानों से प्रकाशित होने से उपलब्ध करना सम्भव नहीं हो सका, इन्हीं सब दृष्टिकोणों को ध्यान में रखकर आचार्य श्री के साहित्य को 4 खण्डों में संकलित कर आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र एवं दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र संघी जी मन्दिर सांगानेर (जयपुर) से प्रकाशित किया गया है। अब मुझे विश्वास है कि विद्या के सागर का विद्वान लोग मन्थन करके अपार रत्नों के भण्डार को निकालकर, साहित्य जगत् के कोष को समृद्ध करेंगे।

मुनि श्री सुधासागरजी महाराज



Acharya VIDYA SAGAR
(A Sage with Difference)

In the galaxy of the modern saints, the Jain Acharya Vidya Sagar occupies the position of the pole star. He is serene and luminous. He is a sage of new skies with his roots in the tradition of "Tirthankars." Muni Vidya Sagar's position is correctly depicted by describing him as the muni of celestial 'Chaturtha Kaal' in the precautious "Pancham Kaal" connoting thereby that he is unique and rare of the rarest Jain sages. Prior to his "Diksha" as a Digambar Jain Muni, Vidya Sagar was known as "Vidya Dhar". He was born of Shri Mallappa Parsappa Ashtge and Smt. Shrimatiji Ashtge at village Sadalaga in the distt. Belgaum of Karnataka state on Oct. 10, 1946. The day he was born it was bright 'Sharad Poornima'. Hence, there is little wonder that he was born with a spiritual light to dispel darkness enveloping his times. It is unprecedented that seven out of eight members of Vidya Sagar's family including his parents, two sisters and two brothers have given up the family comforts, got "Diksha" and are heading on the path of self realisation.

Vidya Dhar pursued his studies up to the 9th standard of the high school in the village Bekadihal situated near the village Sadalaga of his birth. He had deep spiritual learnings and led a disciplined, systamatic and determined childhood. He thought education to be the base of character formation.

At the age of 9 (nine), Vidya Dhar met 'Charitra Chakravarti' Acharya Shri Shanti Sagar Ji Maharaj. This was the turning point in his life. It inspired in him a sense of detachment from wordly affairs and whetted his thirst for spiritual knowledge. Later he met "Acharya Desh Bhushanji Maharaj" a noted Digambar Jain sage, and took a vow to observe celibacy all the life. Subsequently, he came across 'Charitra Chakravarti Acharya Shri Gyan Sagar Ji', a rare Digambar saint of the highest order, who blended and personalized supreme character and knowledge in himself. Acharya Gyan Sagar seemed initially reluctant to accept Vidya Sagar as his disciple because he thought that the later, undergoing his teenage, would flee when asked

to follow the rigorous path of salvation lead by the 24 "Tirthankars" of this era commencing from 'Adinath'. However, Vidya Sagar had an iron will. Nothing could swerve him from his chosen path of spiritualism. He was able to undo the apprehension of his great master about likelihood of his intention when he took vow never to use any vehicle and always to walk bare-footed. His resolve ensured Acharya Shri Gyan Sagar that he was a true seed, full of potentiality and promised with this the blessings of the master flowed overwhelmingly on the disciple.

On June 30, 1968 in Ajmer city of Rajasthan State Vidya Dhar took the 'Muni' diksha in the Digambar sect of Jainism. On this occasion, he was spiritually renamed as "Muni Vidya Sagar". In consonance with his name, he worked under worthy guidance of his master Acharya Shri Gyan Sagar, and learnt "Prakrat", "Apbhransa", "Sanskrit", "Hindi", "English" and "Bengali" languages thoroughly. He also studies "Philosophy", "History", "Psychology", "Grammar" and "Literature" at length. However, Austere discipline and meditation consttuted his choicest peak of spiritual experiences.

Acharya Shri Gyan Sagarji renounced his "Acharya" title and bestowed the same to Shri Vidya Sagar. The title of "Acharya" is the highest in the hierarchy of the Jain masters before they atain the coveted "Kewal Gyan". An Acharya works not only for his self realisations, but also instructs, guides and inspires his disciples the "Munies", the "Elaks", the "Kshullaks", the "Aryikas" etc. in his Sangh by setting an example conducting in accordance with the teaching of the "Tirthankars". Besides he also guides the "Shravakas" (house holders) in their spiritual journey. The main object of an "Acharya" is to help in attaining "Kewal Gyan" and salvation from the cycle of birth and rebirth.

Jainism is the oldest of the ancient religions. It preaches strict self control, minimisation of worldly desires and mortification of flesh for attaining the coveted 'Omniscience' and eventual salvation. The code of conduct set for Digambar Jain Muni is credibly austere. He remains "Digamber" i.e. naked and bears the rigours of all seasons with equamnity. Sultry summers and winters are just irrelevant to him He shuns worldly comforts and conveniences like fan, heater, mirror, telephone, T. V., car, utensils and sleeping beds. He abstains from having bath. He can have a silent meal of counted morsels in the standing posture offered by the "Shravakas" and drinking water only

once a day. He slips the meals if he does not find the 'vidhi' he had mentally thought of setting out for his meals. He keeps himself engaged in meditation, self introspection and study of the spiritual knowledge. He does not shave, but performs "Kesh Lonch", which means manually uprooting the hair of the head and face by own hands. A muni is required to observe fast on the days of "Kesh Lonch". Acharya Vidya Sagar has not only gone through the ordeals and adhered to the way of life set for the "Munis" in the scriptures, but his adherence is so total that he can be said to be a personification of the three jewels i.e., "Right Faith", "Right Knowledge" and "Right Conduct".

It is difficult to fathom the inner achievements of a Jain Muni attained during his silent austerity because his inner life is like a stream flowing underneath the ground and invisible to the naked eye of an onlooker. A layperson can assess him only by what he sees. He can count Acharya Vidya Sagar's achievements in terms of his 25,000 kms. journey completely bare-footed, the lectures and sermons delivered by him to teach and propagate Jain philosophy and system and what he has experienced during 29 years of his supreme renunciation and inner journey.

Muni Vidya Sagar started on spiritual path like a tiny stream but various tributaries joined him 'enroute' and he has now swallowed in the mighty ocean of knowledge and spirituality in encompassing the whole of the country. About 150 disciples called "Munies", "Elaks", "Kshullakas", and Ariyikas" etc. are contributing to create a powerful spiritual atmosphere under what is known as "Shraman Sanskrity".

In realm of literature the contribution of Acharya Shri Vidya Sagar is in legion. The pieces of his literature include "Mook Mati", "Narmada Ka Naram Kankar", "Dubo Mat, Lagaoo Dubaki", "Tota Kyon Rota", "Daha Dohan", "Chetana Ke Gherav Mein", "Vidhya Kavya Bharati", "Sarda Stuti," and "Panch Stuti" etc. His master piece captioned "Mook Mati" has been acclaimed widely both at national and international levels. His works contain exquisite account of his subtle inner experiences in literary field. He has translated into Hindi many, a difficult "Prakrat", "Apbhransa" and "Sanskrit" master pieces such "Samaysar", "Ashta Pahund" and "Shravaka Chara" and many more for the use of the common man interested in the spiritual journey.

The researchers and scholars in various Indian Universities have conducted research on Acharya Shri Vidya Sagar's writing and have been awarded prestigious Ph.D., and D.Litt. degrees.

'Shrawan Sanskriti' holds that an individual can attain the peak in spiritualism independently and meekly through an inner journey without banking on the grace of any external entity. It aims at salvation without bondage. Acharya Shri Vidya Sagar has worked on the experienced concept and has taken it to its logical climax.

On Nov. 27, 1996 the silver jubilee of the 'Acharya' title conferred upon on Muni Shri Vidya Sagar was celebrated. The best tribute to an Acharya, life and work can not be mere bowing and stooping to his person, but it can be accomplished by taking a resolve to explore the path by leading oneself to the realisation, the unknown hidden pinnacles and horizons embedded in luminous human soul. With head in the 'Samay Sar' and foot in "Moolachar", Acharya Shri Vidya Sagar will continue to inspire those grouping absensity of materialism. He is a scion in lineage of the "Siddhas".

There is no dearth of saints in India today. They have renounced the world but a lot many of them seem to be groping in search of inner light. Their faces do not ensure that they have gained what they had left the world for. Many of them may be divided and lacking in self confidence, but with his firm root in the tradition of "Tirthankars", Acharya Shri Vidya Sagar is confident in his meekness and flashes a spiritual taster which is unique and different from all other saints.

VIRANDRA GODIKA
(I. P. S.)
S. P. Shri Ganga Nagar (Raj.)



श्रीवर्धमान! माऽय आकलय्य नत-सुराप्तमानमाय! ।
विधींश्चामानमाय मचिरेण कलयामानमाय! ।।

अये श्री वर्धमान ! नतसुर ! आप्तमानमाय ! अमानमाय !
(त्वं) विधीन् अमान् च अचिरेण अमा आकलय्य यं मा (मां) कलय।

योगी करें स्तवन भाव भरे स्वरों से,
जो हैं सुसंस्तुत नरों, असुरों,सुरों से ।
वे वर्धमान गतमान मुझे बचावें,
काटें कुकर्म मम मोक्ष विभो ! दिलावें ।।१।।

अर्थ-- जिनके समक्ष देव नम्रीभूत हैं जिन्होंने ज्ञान, लक्ष्मी और यश को प्राप्त किया है तथा जो मानऔर माया से रहित हैं, ऐसे हैं वर्धमान जिनेन्द्र ! मेरे कर्म और जन्म--जरा--मत्युरूप रोगों को एक साथ शीघ्र ही नष्ट कर मुझे कल्याणरूप अवस्था अथवा सुयश। को प्राप्त कराओ ।।१।।

तमनिच्छन् पुनर्भवं नृपनतमुकुटमणिलसितपुनर्भवम्।
नत्वेच्छे पुनर् भवं भद्रबाहुमहमपुनर्भवम्।।

तं पुनर्भवं अनिच्छन् अहं नृपनतमुकुटमणिलसितपुनर्भवं भद्रबाहुं
नत्वा पुनः अपुनर्भवम् भवम् इच्छे।

जो चन्द्रगुप्त मुनि के गुरू हैं,बली हैं,
वे भद्रबाहु समधी श्रुत-केवली हैं ।
वंदूं उन्हें द्रुत भवोदधि पार जाऊँ ।
संसार में फिर कदापि न लौट आऊँ ।।२।।

अर्थ–जगत्प्रसिद्ध पुनर्जन्म को न चाहता हुआ मैं राजाओं के नम्रीभूत मुकुटमणियों से सुशोभित नखवाले भद्रबाहु श्रुतकेवली को नमस्कार कर पश्चात् पुनर्जन्म से रहित सिद्धपर्याय की इच्छा करता हूँ ।।२।।

प्रणमामि 'कुन्दकुन्दं' भव्यपद्मबन्धुं धृतवृषकुन्दम्।
गतं च समताकुं दं परमं सम्यंक्त्वैककुन्दम्।।

भव्यपद्मबन्धुं धृतवृषकुन्दं, समताकुं गतं परमं दं च (गतं),
सम्यक्त्वैककुन्दं 'कुन्दकुन्दं' प्रणमामि।

हे कुन्दकुन्द मुनि ! भव्य-सरोज-बन्धु,
मैं बार-बार तव पाद-सरोज वंदूं ।
सम्यक्त्व के सदन हो समता सुधाम ।
है धर्म-चक्र शुभ धार लिया ललाम ।।३।।

अर्थ– जो भव्य जीवरूपी कमलों के बन्धु हैं –उन्हें हर्षित करने वाले हैं, जिन्होंने धर्म चक्र को धारण किया है, जो समतारूपभूमि तथा श्रेष्ठ पवित्रता को प्राप्त हैं और सम्यग्दर्शन ही जिनकी अद्वितीय निधि है, उन कुन्दकुन्दाचार्य को मैं प्रणाम करता हूँ ।।३।।

शुचौ स्वपदे शीतकं यो 'ज्ञानाब्धिं सदुपदेशी तकम्।
निज-संपदेऽशीतकं यजेऽघशुचिविपदे शीतकम्।।

य सदुपदेशी, तकं शुचौ स्वपदे शीतकम् अशीतकम्, अघशुचिविपदे शीतकं, 'ज्ञानाब्धिं' (ज्ञानसारगरम्) निजसंपदे यजे।

जो 'ज्ञान...गर' सुधी गुरू हैं हितैषी,
शु...त्म में निरत, नित्य हितोपदेशी ।
वे पाप-ग्रीष्म ऋतु में जल हैं सयाने,
पूजूँ उन्हें सतत केवल-ज्ञान पाने ।।४।।

अर्थ– मैं आत्मज्ञानरूप संपदा के लिए उन ज्ञानसागर आचार्य की पूजा करता हूँ। जो सदुपदेशी थे, शुद्ध आत्मस्वभाव में स्थित थे, प्रमादरहित थे और पापरूपी ग्रीष्म ऋतु की प्यासरूप विपत्ति को दूर करने के लिए शीतलजल थे ।।४।।

अये ! सरस्वति ! मातः संसारादहमतिभीतो मातः।
विलम्बं कलय. मा त उपासकं प्रपालय माऽतः।।

अये सरस्वति मातः ! अहं संसारात् मातः अतिभीतः अतः विलम्बं मा कलय,
ते उपासकं मा (मां) प्रपालय।

हे शारदे ! अब कृपा कर दे जरा तो,
तेरा उपासक खरा, भव से डरा जो !
माता ! विलम्ब करना मत, मैं पुजारी,
आशीष दो, बन सकूं बस निर्विकारी ।।५।।

अर्थ- हे सरस्वतिमातः ! मैं संसाररूप बंध से अत्यन्त भयभीत हूँ, अतः विलम्ब मत करो, अपने सेवक-मुझ की रक्षा करो ।।५।।

वच आश्रित्य साधु तां साधुनुतां साधुगुणपयसा धुताम्।
साधुतार्थमसाधुतां साधुरूपोज्झ्य वदे साधुताम्।।

साधुः (अहं) साधु-वचः आश्रित्य असाधुताम् उपोज्झ्य साधुतार्थं
साधुनुतां साधुगुणपयसा धुतां तां साधुतां वदे।

रे ! साधु का निहित है हित साधुता में,
धारूँ उसे तज असार असाधुता मैं ।
भाई ! अतः श्रमण के हित मैं लिखूँगा,
शुद्धात्म को सहज से फलतः लखूँगा।।६।।

अर्थ–मैं साधु–श्रेष्ठ वाणी का आश्रय लेकर तथा असाधुता–दुर्जनता को छोड़कर सज्जनों के द्वारा स्तुत और साधुओं के मूलगुणरूपी जल से धुली हुई उस साधुता का, साधुता की प्राप्ति के लिये कथन करता हूँ ।।६।।

मनाङ् मानं मोरसि मुनिरेतु रचयतु रुचिं जिनवचसि।
वसत्वरण्ये रहसि स्नातुमिच्छति स्वचित्सरसि।।

मुनिः उरसि मनाङ् मानं मा एतु। (चेत्) स्वचित् सरसि स्नातुम्
इच्छति (तदा) जिनवचसि रुचिं रचयतु, रहसि अरण्ये (च) वसतु।

विद्धान मान मन में मुनि जो न धारें,
वे 'वीर' के वचन से मन को सुधारें ।
जाके रहे विपिन में मन मोद पाते,
हैं स्नान आत्म-सर में करते सुहाते ।।७।।

अर्थ– मुनि को चाहिये कि वह हृदय में किञ्चित् भी मान को प्राप्त न हो । यदि वह आत्मज्ञान रूपी सरोवर में स्नान करना चाहता है तो जिनवचन–जिनागम में रूचि करे एवं एकान्त वन में निवास करे ।।७।।

यातियतिर्यदि जातु न कर्म तस्यावश्यं हृदि भातु।
स्वतत्त्वमिति हि विधातुर्गीर्जगद्भ्यः सुखं ददातु।।

"यदि यतिः कर्म न याति जातु, (तदा) तस्य हृदि स्वतत्त्वम्
अवश्यं भातु" –इति विधातुः गीः (सा) जगद्भ्यः सुखं ददातु।

जो कर्म को यति यदा करता नहीं है,
आत्मा उसे वह तदा, दिखता सही है ।
ऐसा सदैव कहती जिनदेव वाणी,
होते सुखी सुन जिसे, सब भव्य प्राणी ।।८।।

अर्थ– यदि मुनि कभी बाह्यक्रियाओं के आडम्बर को प्राप्त न हो तो उसके हृदय में आत्मतत्व नियम से सुशोभित होने लगे । जिनेन्द्र भगवान् की ऐसी वाणी जगत् के लिये सुख प्रदान करें ।।८।।

भवता विषयवासनाऽपास्यतामुपास्यतां निजभावना।
प्रोहेति जैनोऽमना यद् भवन्तमटेत् शिवाङ्गना।।

भवता विषयवासना अपास्यताम्, निजभावना उपास्यताम्।
यद् भवन्त शिवाङ्गना अटेत्–इति अमनाः जैनः प्राह।

तू छोड के विषमयी उस वासना को,
निश्चिन्त हो,कर निजीय उपासना को ।
निर्भ्रान्त ही शिवरमा तुझको वरेगी,
योगी कहे, परम प्रेम सदा करेगी ।।६।।

अर्थ– हे साधो ! तुम्हें विषयवासना–इन्द्रिविषयों की अभिरूचि छोड देनी चाहिए और स्व–स्वरूप की भावना करना चाहिये, जिससे मुक्तिरूपी स्त्री तुझे वर सके, ऐसा भावमनरहित केवलज्ञानी जिनदेव ने कहा है ।।६।।

श्रमैकफलारम्भतः पौद्‌गलिक-पुण्यपापोपलम्भतः।
दृक्कथमुदेति हन्त। नवनीतं नीरमन्थनतः ? ।।

पौद्‌गलिक–पुण्यपापोपलम्भतः श्रमैकफलारम्भः हन्त !
दृक् कथम् उदेति ? (किं) नीरमन्थनतः नवनीतम् (उदेति) ?

हैं पुण्य-पाप पर, पुद्‌गल रूप जानूं,
सम्यक्त्व भाव इनसे किस भांति मानूं ।
ना नीर के मथन से, नवनीत पाना,
अक्षुण्ण कार्य करके थक मात्र जाना ।।१०।।

अर्थ– एक खेद ही जिसका फल है, ऐसे आरम्भ से तथा पौद्‌गलिक पुण्यपाप की प्राप्ति से सम्यग्दर्शन कैसे उत्पन्न हो सकता है? खेद की बात है कि, क्या कहीं जल के मन्थन से मक्खन की प्राप्ति होती है ? अर्थात् नहीं।।१०।।

स्वानुभवकरणपटवस्ते तान्विकततपस्तनूकृतत्तनवः।
विविक्तपटाश्च गुरवरित्तिष्ठन्तु हृदि मे मुमुक्षवः।।

स्वानुभवकरणपटवः तान्विकतपस्तनूकृतत्तनवः मुमुक्षवः
विविक्तपटाश्च ते गुरवः मे हृदि तिष्टन्तु।

नाना प्रकार तप से तन को तपाया,
हैं छोड वस्त्र जिनने अघ को हटाया ।
पाया निजानुभव को निज को दिपाया,
मैंने उन्हें विनय से उर बीच पाया ।।११।।

अर्थ– जो स्वानुभाव के करने में निपुण हैं, जिनका शरीर, शारीरिक तप से कृश हो गया है, जिन्होंने वस्त्र का परित्याग कर दिया है और जो मोक्षाभिलाषी हैं, वे गुरू हमारे हृदय में स्थित हों । मैं निरन्तर उनका ध्यान करता हूँ ।।११।।

निन्द्यं न नीतमस्तं मनो नैमित्तिकं येन समस्तम्।
अन्धोऽरुणं प्रशस्तं किं संपश्यति पुरुषं स तम्।।

येन समस्तं नैमित्तिकं निन्द्य मनः अस्तं न नीतम, किं स तं प्रशस्तं पुरूषं संपश्यति ? (नैव), यथा अन्धः प्रशस्तम् अरुणम् (नैव पश्यति)।

कम्पायमन मन को जिसने न रोका,
आत्मा उसे न दिखता जड से अनोखा ।
आकाश में अरूण शोभित हो रहा है,
क्या अन्ध को नयनगोचर हो रहा है ?।।१२।।

अर्थ– जिसने समस्त नैमित्तिक निन्दनीय मन को अस्त नहीं किया वह क्या प्रशस्त परमात्मा का अवलोकन कर सकता है? जैसे अन्धा मनुष्य क्या प्रशस्त सूर्य को देख सकता है ? अर्थात् नहीं ।।१२।।

जितक्षुधादिपरिषहः पुद्‌लकृतरागादि-भावासहः।
वीतरागतामजहच्चाञ्चति यतिः स्वं मुदा सह।।

जितक्षुधादिपरिषहः पुद्गलकृत–रागादि–भावासहः
वीतरागताम् अजहत् यतिः स्वं मुदा सह अञ्चति।

जो जीतता सब क्षुधादि परीषहों को,
संहार रागमय-भाव स्ववैरियों को ।
है वीतराग बनता वह शीघ्रता से,
शुद्धात्म को निरखता, बचता व्यथा से ।।१३।।

अर्थ– जिसने क्षुधा आदि परिषहों को जीत लिया है, जो पुद्गलकृत रागादिभावों को सहन नहीं करता है और वीतरागता को नही छोड़ता है, ऐसा साधु हर्ष के साथ स्वात्मा को प्राप्त होता है ।।१३।।

वै यम्ययत्यप्ययं दिव्यं स्वीयमनिन्द्यं यद् द्रव्यम्।
निश्चयनयस्य विषयं गृहीव परिग्रही नाव्ययम्।।

अयं परिग्रही यमी अपि निश्चयनयस्य विषयं यद् स्वीयम् अनिन्द्यं
दिव्यम् अव्ययं द्रव्यं गृही इव वै न अयति।

है वन्ध दिव्य निज आतम द्रव्य न्यारा,
जो शुद्ध निश्चय नयाश्रित मात्र प्यारा ।
योगी गृही सम उसे न कभी निहारें,
जो त्याग के पुनि परिग्रह-भार धारें ।।१४।।

अर्थ– यह परिग्रहवान् मुनि भी निश्चयनय के विषयभूत, अनिन्दनीय, दिव्य और अविनाशी स्वकीय द्रव्य को गृहस्थ के समान प्राप्त नहीं होता । अर्थात् जिस प्रकार परिग्रही गृहस्थ शुद्ध आत्मा को प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार परिग्रही साधु भी नहीं प्राप्त होता ।

अमन्दमनोमराल ! विविक्तविविधविकल्पवीचिजालम्।
कलितवृषकमलनालं वित्-सरो मुक्त्वाऽन्येनालम्।।

अमन्दमनोमराल ! विविक्त–विविध–विकल्पवीचिजालं
कलितवृषकमलनालं वित्सरः मुक्त्वा अन्येन आलम्।

सद्बोध रुप हैं सर शोभित है विशाल,
ना हैं जहाँ वह विकल्प तरंग-जाल ।
शोभे तथा परम धर्म पयोज प्यारे,
तू छोड के मनमराल ! उसे न जा रे ! ।।१५।।

अर्थ–हे चंचलमनरूपी हंस ! नाना विकल्परूपी तरंगों के जाल से रहित तथा धर्मरूप कमल की मृणालों से सहित जो ज्ञानरूपी सरोवर है उसे दोड़ अन्य सरोवर व्यर्थ हैं ।।१५।।

यो हीन्द्रियाणि जयति विश्वयत्नेन स जायते यतिः।
मुनिरयं तं कलयति शुद्धात्मानं च ततोऽयति।।

यः इन्द्रियाणि विश्वयत्नेन जयति, स यतिः जायते।
अयं मुनिः तं कलयति, ततः शुद्धात्मानं च अयति।

जीतीं जिनेश ! जिसने निज इन्द्रियाँ हैं,
माना गया यति वही, जग में यहाँ है ।
श्रद्धा-समेत उसको सिर मैं नमाता,
शुद्धात्म को निरख, शीघ्र बनूँ प्रमाता ।।१६।।

अर्थ– जो पूर्ण यत्न से इन्दियों को जीतता है निश्चय से वह यति–साधु है। यह मुनि इन्द्रियविजय अथवा इन्द्रियविजेतापने को प्राप्त होता है ।अतः रागादिविकारों से रहित शुद्ध आत्मा को प्राप्त होता है–उस रूप परिणमन करता है। ।।१६।।

सुपीतात्मसुधारसः संयमी सुधीर्यश्च सदाऽरसः।
ऋषे! विषयस्य सरसः किल किं वार्वाञ्छति नरः सः?।।

ऋषे ! यः सुपीतात्मसुधारसः सुधीः संयमी सदा अरसः सः
नरः विषयस्य वार् किल वाञ्छति ?

सद्‌बोध से परम शोभित जो यहाँ है,
पीयूष पी स्वपद में रमता रहा है।
क्या संयमी विषय-पान कदापि चाहे ?
जो जीव को विष समान सदैव दाहे ।।१७।।

अर्थ–हे ऋषे ! जिसने आत्मारूपी अमृतरस का अच्छी तरह पान किया है, जो संयमी है, हिताहित के विवेक से सहित है। और सदा विषयास्वाद से विरक्त है, वह मनुष्य विषयरूपी तालाब के जल की क्या इच्छा करता है ? अर्थात् नहीं ।।१७।।

य: समयति स्वसमयं विबोधबलेन विहाय परसमयम्।
संवरोऽस्तु स्वयमयं तस्यास्रवारिः प्रतिसमयम्।।

यः विबोधबलेन परसमयं बिहाय स्वसमयं समयति,
तस्य अयम् आस्रवारिः संवरः स्वयं प्रतिसमयम् अस्तु।

विज्ञान से स्वपद को जिसने पिछाना,
त्यागा सभी तरह से पर को सुजाना।
वो दुःखरूप उस आस्रव को नशाता,
स्वामी ! सही सुखद संवर तत्त्व पाता।।१८।।

अर्थ– हे भगवान् ! जो विज्ञान के बल से परसमय–परपदार्थों को छोड़कर स्वसमय–निज शुद्ध आत्मा को प्राप्त होता है, उसी का अनुभव करता है, उसके प्रत्येक समय–क्षण में आस्रव का विरोधी संवर स्वयं प्राप्त होता है। ।।१८।।

व्रतिनो न शल्यत्रयं कलयन्तु किलाऽखिलारत्नत्रयम्।
शुद्धं स्पृशन्त्वत्र यं निजात्मानं स्तुतजगत्त्रयम्।।

अखिलाः व्रतिनः किल रत्नत्रयं कलयन्तुं, न शल्यत्रयम्।
यं स्तुतजगत्त्रयं शुद्धं निजात्मानम् अत्र स्पृशन्तु।

मायादि शल्य-त्रय को मुनि नित्य त्यागें,
ज्ञानादि रत्नत्रय धार सदैव जागें ।
वे शुद्धतत्व फलतः पल में लखेंगे,
संसार में परम सार उसे गहेगें।।१६।।

अर्थ–समस्त व्रती मनुष्य यथार्थ में रत्नत्रय को प्राप्त हों–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को प्राप्त करने का प्रयत्न करें। माया,मिथ्यात्व और निदानरूप शल्य को प्राप्त न हों। साथ ही, उस रत्नत्रय रूप लक्षण से जगत्त्रय के द्वारा स्तुत निजशुद्ध आत्माका स्पर्श–अनुभव करें ।।१६।।

अधिगतोचितानुचितः स्वचिन्तनवशीकृतचञ्चलचित्तः।
शिवपथपथिकः कश्चित् पदं कुपथं नयति किं क्वचित्?।।

कश्चित् अधिगतोचितानुचितः स्वचिन्तनवशीकृतचञ्चलचित्तः
शिवपथपथिकः किं क्वचित् कुपथं पदं नयति ?

आदेय-हेय जिनने सहसा पिछाने,
लाये स्वचिन्तनतया मन को ठिकाने ।
ज्ञानी वशी परम धीर मुमुक्षु ऐसे,
स्वामी ! रखें कुपथ में निजपाद कैसे ? ।।२०।।

अर्थ—जिसने उचित और अनुचित को जान लिया है तथा आत्मचिन्तन के द्वारा जिसने चन्चलचित्त को अपने अधीन कर लिया है, ऐसा मोक्षमार्ग का कोई पथिक कहीं क्या अपना पग कुमार्ग में ले जाता है ? अर्थात नहीं ।।२०।।

जिनसमयं जानीत आत्मानं नेति जिनेन स गीतः।
यद्यपि यो भवभीतः प्रमादेन विकारं नीतः।।

'यद्यपि यो भवभीतः, प्रमादेन विकारं नीतः,जिनसमयं जानीते,
सःआत्मानं न (जानीते)' –इति जिनेन (सः) गीतः ।

संसार से बहुत यद्यपि जो डरा है,
जाना जिनागम सभी जिसने खरा है ।
आत्मा उसे न दिखता, यदि है प्रमादी,
ऐसा सदैव कहते गुरू सत्यवादी ।।२१।।

अर्थ– यद्यपि जो संसार से भयभीत है परन्तु प्रमाद से विकार को प्राप्त हो गया है वह जिनसगय–जिनशास्त्र को जानता हुआ भी आत्मा को नहीं जानता है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है।।।२१।।

मायादिभावमवहन्नघज्ञानघनौघममलं महः।
मुहुः कलयामि तदहमुदीक्ष्य मयूरो मुदा सह ।।

मायादिभवम् अवहन् अहं मयूरः तद् अमलं महः
अनघज्ञानघनौघं मुहुःउदीक्ष्य मुदा सह कलयामि ।

है ज्ञान जो सघन पावन पूर्ण प्यारा,
सद्ज्ञान रूप जल की झरती सुधारा ।
शोभामयी अतुलनीय सुखैक डेरा,
नीचे उसे निरख मानस-मोर मेरा ।।२२।।

अर्थ–मायाचार आदि विकारीभावों को न धारण करने वाला मैं मयूर,उस प्रसिद्ध तेजोमय निष्कलंक ज्ञानरूप मेघसमूह को देखकर हर्ष के साथ स्तवन करता हूँ अथवा नृत्य करता हूँ।।२२।।

सद्दृग्विद्भ्यां मित्रं युक्तं व्यक्तमात्मनश्च चरित्रम् ।।
सुखं ददाति विचित्रं तीर्थं त्वं धारय पवित्रम् ।।

सद्दृग् विद्भ्यां युक्तं, व्यक्तं यत् विचित्रं सुखं ददाति,
तीर्थं पवित्रं मित्रं (एतादृशं)आत्मनः चरित्रं त्वं धारय।

होते घनिष्ठ जिसके दृग-बोध साथी,
होता वही चरित आतम का सुखार्थी।
देता निजीय सुख,तीरथ भी कहाता,
तू धार मित्र ! उसको दुःख क्यों उठाता?।।२३।।

अर्थ–सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से युक्त प्रकट हुआ जो विविध सुख को देता है, मित्र तथा तीर्थ स्वरूप उस आत्मचारित्र–निश्चयचारित्र को हे श्रमण ! धारण करो।।२३।।

यः स्वकमनुभवति स तां लभतेऽसुलभां श्रियमिति मतं सताम्।
येहानन्यसदृशतां समावहति शुचिं विलासताम् ।।

यः स्वकम् अनुभवति,स तां असुलभां श्रियं लभते,
या (श्रीः)इह अनन्यसदृशतां शुचिं विलासतां (च)समावहति--इति सतां मतम्।

पीता निजानुभव पावन पेय प्याला,
डाले गले शिवरमा उसके सुमाला।
जो लोक में अनुपमा शुचि-धारिणी है ,
ऐसा जिनेश कहते, सुख-कारिणी है ।।२४।।

अर्थ--जो मुनि निज आत्मा का अनुभव करता है वह उस दुर्लभ लक्ष्मी को प्राप्त होता है जो इस जगत् की अनुपम पवित्रता और शोभा को धारण करती है।।२४।।

समुपलब्धौ समाधौ साधुस्तथागतरागाद्युपाधौ ।
यथा सरिद् वारिनिधौ मुदमुपैति च निर्धनो निधौ ।।

गतरागाद्युपाधौ समुपलब्धौ समाधौ साधुः तथा मुदम् उपैति,
यथा सरित् वारिनिधौ निर्धनः च निधौ (उपैति)।

रागादि भाव जिसमें न,वही समाधि,
पाके उसे मुदित्त हो मुनि अप्रमादी।
होती नदी अमित सागर पा यथा है,
किं वा दरिद्र खुश हो निधि पा अथाह ।।२५।।

अर्थ–रागादिरूप उपाधि से रहित शुक्लध्यान के प्राप्त होने पर मुनि उस प्रकार हर्ष को प्राप्त होता है, जिस प्रकार समुद्र के प्राप्त होने पर नदी और खजाना के मिलने पर दरिद्र मनुष्य।।२५।।

भवकारणतो देह-रागात्किल दूरीभवन् सदेह ।
सुखप्रदे स्वपदेऽहमनुवसामि मुनिर्जितादेह !।।

जितादेह ! भवकारणतः देहरागात् इह सदा दूरीभवन्
अहं मुनिः सुखप्रदे स्वपदे अनुवसामि ।

है देह-नेह भव-कारण तो उसी से,
मोक्षेच्छु मैं,बहुत दूर रहूं,खुशी से ।
मैं हो विलीननिज में, निज को भजूँगा,
स्वामी ! अनन्त सुख पा, भव को तजूँगा ।।२६।।

अर्थ–हे कामविजेता ! जिनेन्द्र ! संसार के कारणभूत शरीरसम्बन्धी राग से सदा दूर रहता हुआ मैं मुनि,सुखदायक निजपद में–ज्ञायकस्वभावी निजआत्मा में निवास करता हूँ।।२६।।

प्राप्तो यैरेवैष स्वात्मानुभवो गतरागद्वेषः।
तैर्जगति को ऽवशेषः प्राप्तव्योऽत्र ततो विशेषः ।।

एष गतरागद्वेषः स्वात्मानुभवः यैः(एषः) प्राप्तः तैः
अत्र जगति ततः विशेषः कः प्राप्तव्यः अवशेषः ?

जो भी निजानुभव को जब प्राप्त होते,
वे रागद्वेष लव को न कदापि ढोते।
तो कौन सा फिर पदार्थ रहा ?
प्राप्तव्य जो कि उनको न रहा विशेष ।।२७।।

अर्थ-- जिन महानुभावों ने रागद्वेष से रहित स्वानुभव को प्राप्त कर लिया,उन्हें इस जगत् में स्वानुभव से अधिक और विशेष बाकी क्या रहा ? अर्थात् कुछ नही ।।२७।।

रागादीन् सुधीः पुमान् नैमित्तिका ननियतान् नैतीमान्।
अनधिगत तत्वोऽसुमान् यति तु पर्यायान् परकीयान् ।।

सुधीः पुमान् इमान् नैमित्तिकान् अनियतान् रागादीन् न एति ।
अनधिगततत्वः असुमान् तु परकीयान् पर्ययान्याति ।

रागादि भाव पर हैं,पर से न नाता,
ज्ञानी-मुनीश रखता पर में न जाता ।
धिक्कार मूढ पर को करता, कराता,
ना तत्व-बोध रखता, अति दुःख पाता ।।२८।।

अर्थ–ज्ञानी मनुष्य इन नैमित्तिक अस्थिर रागादि को प्राप्त नहीं होता–उन्हें अपना नहीं मानता। परन्तु तत्वव्यवस्था को न जानने वाला अज्ञानी प्राणी परकीयपर्यायों को प्राप्त होता है–उन्हें अपनी मानता है ।।२८।।

बध्यते विध विधिः स प्राहेति बोधैकनिधिर्विधिः।
साधुर्विहितात्मविधिः येनाधिगतो हि विधेर्विधिः।।

येन हि विधेः अधिगतंः विधि साधुः (भवति)।
स बोधैकनिधिः—'विधिः विधिना बध्यते" इति प्राह।

सम्बन्ध होत विधि से विधि का सदा है,
बोधैकधाम 'जिन'ने जग को कहा है।
ऐसा रहस्य फिर भी मुनि ने गहा है,
जो आत्मभाव करता साहस रहा है ।।२६।।

अर्थ—जिसने विधि—कर्म—भाग्य की विधि को जान लिया, जिसने आत्मा का विधि ा—कार्य—संवर निर्जरा सम्पन्न कर ली है और सम्यग्ज्ञान ही जिसकी अद्वितीय निधि है ऐसा साधु अपनी विधि—नियमित चर्या से बद्ध होता है, बँधा रहता है, ऐसा विधिब्रम्हा—जिनेन्द्रदेव ने कहा है ।।२६।।

यदा साऽऽत्मानुभूतिरुदेति शुद्धचैतन्यैकमूर्तिः।
मुनिर्नश्वरविभूति-मिच्छति किं दुःखप्रसूतिम्?।।

शुद्धचैतन्यैकमूर्तिः सा आत्मानुभूतिः यदा उदेति, (तदा)
किं मुनिः नश्वरविभूतिं दुःखप्रसूतिम ! इच्छति ? (नेति)

आत्मानुभूति वर चेतन-मूर्ति प्यारी,
साक्षात् यदा उपजती शिवसौख्यकारी ।
माँगे तथापि मुनि क्या जग-सम्पदा को ?
देती सदा जनम जो बहु आपदा को ।।३०।।

अर्थ–शुद्ध चैतन्य की अद्वितीयमूर्तिस्वरूप वह आत्मानुभूति जब प्रकट होती है। तब क्या मुनि दुःख को उत्पन्न करने वाली भंगुर संपदा की इच्छा करता है ? अर्थात् नहीं।।३०।।

भवत्यां भोगसंपदि मुनिर्मोदमेति न कदापि सपदि।
धारयति समतां हृदि हा ! न विषण्णो भवति च विपदि।।

भोगसंपदि भवत्यां (सत्यां) सपदि मुनिः कदापि मोदं न एति ।
हा ! (सः) विपदि विषण्णो न भवति, हृदि (च)समतां धारयति ।

संपूर्ण भोग मिलने पर भी कदापि,
भोगी नहीं मुनि बने, बनते न पापी ।
पीते तभी सतत हैं समता सुधा को,
गाली मिले, न फिर भी करते क्रुधा को।।३१।।

अर्थ–भोगसंपदा के रहते हुए मुनि कभी भी शीघ्र हर्ष को प्राप्त नहीं होता । हृदय में समता को धारण करता है और हर्ष है कि विपत्ति में खेद खिन्न भी नहीं होता।।३१।।

पदं कुदृष्ट्यै देहि मा सास्ति भवेऽत्र दुःखप्रदेऽहिः।
त्वमित्थमवेहि देहिंस्तां त्यज स्वसम्पदं यदेहि ।।

अत्र दुःखप्रदे भवे सा (कुदृष्टिः) अहिः अस्ति। (अतः) त्वं कुदृष्ट्यै पदं मा देहि ।
(हे) देहिन् ! दत्थम् अवेहि, तां त्यज। यत् (यस्मात् कारणात्) स्वसम्पदम् एहि ।

मिथ्यात्व को ह्रदय में, मत स्थान देना,
है दुष्ट व्याल वह, क्यों दुःख मोल लेना ।
छोडो उसे, निकट भी उसके न जाओ,
तो शीघ्र ही अतुल संपति-धाम पाओ।।३२।।

अर्थ–इस दुःखदायक संसार में मिथियादर्शन ही सर्प है। अतः तुम उसके लिए पद स्थान मत देखो–उस ओर पग मत बढ़ाओ। हे प्राणी ! ऐसा तुम जानो, उस मिथ्यादर्शन को छोड़ो जिससे स्वयंसंपदा को प्राप्त हो सको।।३२।।

जलाशये जलोद्भवमिवात्मानं भिन्नं जलतोऽनुभव।
प्रमादी माऽये भव भव्य ! विषयतो विरतो भव ।।

अये! भव्य! प्रमादी मा भव, विषयतः विरतो भव ।
आत्मानं जलाशये जलोद्भवम् इव जलतः भिन्नम् अनुभव ।

जैसे कहे जलज जो जल से निराला,
वैसे बना रह सदा जड से खुशाला ।
क्यों तू प्रमत्त बनता, बन भोग त्यागी,
रागी नहीं बन कभी, बन वीतरागी ।।३३।।

अर्थ–हे भव्य तू प्रमादी मत हो, पञ्चेन्द्रियों के विषय से निवृत्त हो। जिस प्रकार जलज–कमल जल से उत्पन्न होकर भी अपने आपको जल से भिन्न रखता है। उसी प्रकार तू भी संसार से उत्पन्न होकर भी जड़–पौद्गलिक संसार से अपने आपको पृथक् अनुभव कर। ।।३३।।

भिन्नोऽहमङ्ंगान्मद-रूपिणोऽपि च भिन्नमित्यङ्ंगमदः।
मुञ्चामीत्वेति मद-माङ्ग हे गत-भवहेतुमद !।।

हे गतभवहेतुमद ! अहम् अङ्गात् भिन्नः । अपि च अरूपिणः मत्
अदः अङ्ग भिन्नम् अस्ति–इति ईत्वा (अहं) आङ्ंग गदं मुञ्चामि ।

हूँ देह से पृथक चेतन शक्ति वाला,
स्वामी ! सदैव मुझसे तन भी निराला ।
यों जान, मान तनका मद छोड़ता हूँ,
मैं मात्र मोक्ष-पथ से मनजोड़ता हूँ।।३४।।

अर्थ–हे संसार के कारणभूत मद से रहित ! मैं शरीर से भिन्न हूँ और यह शरीर भी मुझ अमूर्तिक से भिन्न है, ऐसा जानकर मैं शरीर सम्बन्धी मद–गर्व को छोडता हूँ ।।३४।।

विगतेऽघे मनोभुवि विहरति शुद्धात्मनि मुनिः स्वयंभुवि।
कथं बद्धः प्रभुर्विः खे चरितु-मिदमसाध्यं भुवि ।।

अघे मनोभुवि गते (सति) शुद्धात्मनि स्वयं भुवि मुनिः विहरति ।
(यथा) बद्धः विः खेचरितुं कथं प्रभुः? इदं भुवि असाध्यं (वर्तते)।

हो काम नष्ट,अघ भी मिटता यदा है,
योगी विहार करता निज में तदा है ।
आकाश में विहग क्या फिर भी उड़ेगा?
जो जाल में फँस गया, फिर क्या करेगा?।।३५।।

अर्थ–पापी काम के नष्ट हो जाने पर मुनि अनाद्यनन्त शुद्धात्मा में रमण करता है। जैसे जाल में बँधा पक्षी क्या आकाश में उडने के लिए ।समर्थ है? अर्थात् नहीं है। यह कार्य पृथिवी में असाध्य है ।।३५।।

यस्य हृदि समाजातः प्रशमभावः श्रमणो यथाजातः ।
दूरोऽस्तु निर्जरातः कदापि मा शुद्धात्मजातः ।।

यस्य हृदि प्रशमभावः समाजातः (स) यथाजातः श्रमणः
शुद्धात्मजातः निर्जरातः कदापि दूरः मा अस्तु।

सौभाग्य से श्रमण जो कि बना हुआ है,
सच्चा जिसे प्रशमभाव मिला हुआ है ।
छोड़े नहीं वह कभी उस निर्जरा को,
जो नाशती जनम-मृत्यु तथा जरा को ।।३६।।

अर्थ–जिसके हृदय में प्रशमभाव प्रकट हुआ है वह दिगम्बर मुद्रा का धारक–निर्ग्रन्थ साधु शुद्धात्मा से होने वाली निर्जरा से भी दूर नहीं हो ।।३६।।

यत् संसारे सारं स्थायीतरमस्ति सर्वथाऽसारम् ।
सारं तु समयसारं मुक्तिर्यल्लभ्यते साऽरम् ।।

संसार यत् स्थयीतरं सारं (तत्) सर्वथा असारम् अस्ति।
सारं तु समयसारम् (एव) यत् सा मुक्तिः अरं लभ्यते।

संसार में धन न सार, असार सारा,
स्थायी नही,न उनसे सुख हो अपारा।
है सार तो समय-सार अपार प्यारा,
हो प्राप्त शीघ्र जिससे वह मुक्तिदारा।।३७।।

अर्थ–संसार में जो क्षणभङ्गुर सार–धन है वह सब प्रकार से असार है–सारहीन है। सार–श्रेष्ठ तो समयसार–शुद्धात्म परिणति ही है जिससे वह मुक्ति शीघ्र प्राप्त होती है।।३७।।

निस्संङः सदागतिः विचरतीव कन्दरेषु सदागतिः ।
ततो भवति सदागतिः स्वरसशमितमारसदागतिः ।।

—स्वरसशमितमारसदागतिः निस्संगः सदागति इव सदागतिः कन्दरेषु विचरति।
ततः (तस्मात् कारणात्) सदागतिः भवति।

निस्संग हो विचरते गिरि-गह्वरों में,
वे साधु ज्यों पवन हैं वन कन्दरों में ।
कामाग्नि को स्वरस पी झट से बुझा के,
विश्राम पूर्ण करते निज-धाम जाके।।३८।।

अर्थ—जिसने स्वरस—आत्मबल अथवा स्वानुभवरूप जल से कामरूपी अग्नि को शान्त कर दिया है ऐसा वायु के समान निःसङ्ग साधु वन की गुफाओं में विचरण करता है इस कारण उसे सदागति—निर्वाण प्राप्त होता है।।३८।।

सरस्तत् पुष्करेण यतितिमिर्भातु ध्यानपुष्करेण।
मृदुता च पुष्करे न नरेऽविरते गीः पुष्करे न।।

तत् सरः पुष्करेण भातु, यतितिमिः ध्यानपुष्करेण (भातु) पुष्करे च मृदुता (भातु) अविरते नरे न (भातु) पुष्करे गीः न (भातु)।

शोभे सरोज-दल से सर ठीक जैसा,
सद्ध्यान रूप जल से मुनि-मीन वैसा।
हो कंज में मृदुपना, न असंयमी में,
'ना शब्द व्योम गुण है'-कहते यमी हैं ।।३६।।

अर्थ--वह सरोवर पुष्कर--कमल से सुशोभित हो और मुनिरूप मीन ध्यानरूपी पुष्कर--जल से सुशोभित हो। कोमलता पुष्कर--कमल में सुशोभित हो असंयमी मनुष्य में नहीं और शब्द पुष्कर आकाश में नहीं।।३६।।

संसारमूलमेन आर्तरौद्रद्वयं रोचते मे न।
हेममयः कथमेण ईप्सितस्तेन रामेण?।।

संसारमूलम् आर्तरौद्रद्वयं एनः मे न रोचते।
हेममयः एणः तेन रामेण कथम् ईप्सितः?

ये आर्तरौद्र मुझको रुचते नहीं हैं,
संसार के प्रमुख कारण पाप वे हैं ।
श्री रामचन्द्र फिर भी मृग-भ्रान्ति भूले ?
जो देख कांचन-मृगी इस भाँति फूले ।।४०।।

अर्थ–संसार के प्रमुख कारण,पापरूप आर्त और रौद्रध्यान मुझे अच्छे नहीं लगते। सुवर्णमय मृग तिवेकी राम के द्वारा कैसे चाहा गया ?।।४०।।

स्वानुभवैकयोगतः परां वीतरागतां यो गतः।
बिभेत्यङ्गवियोगतः किं चलति शुद्धोपयोगतः।।

स्वानुभवैकयोगतः यः परां वीतरागतां गतः, सः किम्
अङ्गवियोगतः बिभेति? शुद्धोपयोगतः चलति?

योगी निजानुभव से पर को भुलाता,
है वीतरागपन को फलरूप पाता ।
वो क्या कभी मरण से मुनि हो डरेगा ?
शुद्धोपयोग धन को फिर क्या तजेगा ?।।४१।।

अर्थ–जो मुनि स्वानुभव के अद्वितीय संयोग से वीतरागता को प्राप्त हुआ है वह क्या शरीर के वियोग से डरता है ? और शद्धोपयोग से विचलित होता है? अर्थात् नहीं ?।।४१।।

यो दूरो निजस्वतश्चरति च दृक्कंजविकास-भास्वतः।
स हि परभावनास्वतः कुर्याद् रुचिमज्ञानी स्वतः।।

दृक्कंजविकासभास्वतः निजस्वतः यः दूरः चरति,
अतः स हि अज्ञानी परभावनासु स्वतः रुचिं कुर्यात्।

जो भानु है, दृग-सरोज विकासता है,
योगी सुदूर रहता उससे यदा है।
वो तो तदा नियम से पर भावनायें,
हा ! हा ! करे, सहत है फिर यातनायें।।४२।।

अर्थ–जो मुनि,सम्यग्दर्शनरूपी कमल को विकसित करने के लिये सूर्यरूप आत्मधन से दूर रहता है इसीलिये वह अज्ञानी परपदार्थों की भावनाओं में स्वयं रूचि करता है ।।४२।।

कलय व्रतानि पञ्च तापपदानि मुञ्च पापानि पञ्च।
नो हि रागप्रपञ्च-मजं भज स्तुतशत-सुरपञ्च।।

पञ्च व्रतानि कलय, तापपदानि पञ्च पापानि मुञ्च।
स्तुतशतसुरपम् अजं भज, रागप्रपञ्चं नो हि (भज)।

ये पंच पाप इनको बस शीघ्र छोड़ो,
धारो महाव्रत सभी मन को मरोड़ो ।
औ ! राग का तुम समादर ना करो रे !
देवाधिदेव 'जिन' को उर में धरो रे ! ।।४३।।

अर्थ–अहिंसा आदि पांचव्रतों को धारण करो, दुःख के स्थानभूत पाँच पापों को छोडो । राग का विस्तार मत करो और सौ इन्द्रों के द्वारा स्तुत जिनदेव की सेवा करो।।४३।।

भवहेतुभूता क्षमा त्यक्ता जिनेन या स्वीकृता क्षमा।।
तां विस्मर नृदक्ष ! मा, यतः सैव शिवदाने क्षमा।।

या भवहेतुभूता क्षमा जिनेन त्यक्ता, (याच) क्षमा स्वीकृता, हे नृदक्ष !
तां (क्षमां) मा विस्मर, यतः सा एव शिवदाने क्षमा (वर्तते)।

रे ! 'वीर'ने जडमयी तज के क्षमा को,
है धार ली तदुपरान्त महा क्षमा को।
जो चाहते जगत में बनना सुखी हैं,
धारे इसे, परम मुक्ति-वधू सखी है ।।४४।।

अर्थ–जो संसार की कारणभूत है ऐसी क्षमा–पृथिवी का जिनेन्द्र भगवान् ने त्याग किया है और कल्याण प्राप्ति में जो हेतुभूत है ऐसी क्षमा–शान्ति को स्वीकृत किया है। हे चतुरनर ! तू जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा स्वीकृत क्षमा को मत भूल । क्योंकि मोक्षप्रदान करने में वही क्षमा–समर्थ है।।४४।।

प्रत्ययो यस्य वृत्तं जिने निजचिन्तनतो मनो वृत्तम्।
तस्य वृतं हि वृत्तं कथयतीतीदमत्र वृत्तम्।।

यस्य जिने प्रत्ययो वृत्तं, निजचिन्तनतः (यस्य) मनः वृत्तं,
तस्य वृत्तं हि वृत्तम्–इति इदं वृत्तम् अत्र कथयति।

आस्था घनिष्ठ निज में जिनकी रही है,
विज्ञान से चपलता मन की रुकी है।
होता चरित्र उनका वर मोक्ष-दाता,
ऐसा रहस्य यह छन्द हमें बताता ।।४५।।

अर्थ–जिसका जिनेन्द्र भगवान् में विश्वास है और आत्मचिन्तान में जिसका मन लगा हुआ है उसी का चारित्र वास्तव में चारित्र है ऐसा रहस्य यहाँ यह छन्द हमें बता रहा है।।४५।।

रुचिमेति कुधीः के न परवस्तुदत्तचित्तो युतोऽकेन।
स्वस्थो जीवति केन सह मुनिस्तं नमामि केन।।

अकेन युतःपरवस्तुदत्तचित्तः कुधीः के न रुचिम् एति।
स्वस्थः मुनिः केन सह जीवति, तं केन नमामि।

आत्मा जिसे न रुचता वह तो मुधा है,
मिथ्यात्व से रम रहा पर में वृथा है।
ज्ञानी निजीय घर में रहते सदा ये,
वन्दूँ,उन्हें, द्रुत मिले निज संपदायें ।।४६।।

अर्थ–जो अक दुःख या पाप से सहित है तथा जिसका चित्त परपदार्थों में लग रहा है, ऐसा कुबुद्धि–अज्ञानी मानव क–आत्मा में रूचि–प्रीति अथवा प्रतीति को प्राप्त नहीं होता। इसके विपरीत जो मुनि स्वस्थ–आत्मस्थ होता हुआ क–सुख से जीवित रहता है उसे मैं क–शिर से नमस्कार करता हूँ।।४६।।

क्व सा दाहकता विना तिष्ठतु कथं, स च तया विनाऽविना।
वस्तुतोऽस्तु यच्च विना ज्ञानमात्मना किन्तु न विना।।

सा दाहकता अविना विना क्व कथञ्च तिष्ठतु? स (अग्निः) तया विना च (कथं तिष्ठतु?) वस्तुतः यत् ज्ञानं विना विना–अस्तु, किन्तु आत्मना (विना) न (अस्तु)। (भवतीत्यर्थः)।

कैसे रहे अनल दाहकता बिना वो,
तो अग्नि से पृथक दाहकता कहाँ हो ?
आकाश के बिन कहीं रह तो सकेगा,
पै ज्ञान आतम बिना न कहीं रहेगा ।।४७।।

अर्थ–वह दाहकता अग्नि के बिना कहाँ और कैसे रह सकती है और अग्नि दाहकता के बिना कैसे रह सकती है। वास्तव में ज्ञान वि–आकाश के बिना तो रह सकता है पर आत्मा के बिना नहीं रह सकता। ।।४७।।

न निश्चयेन नयेन किन्त्वलङ्कृतस्तद्विषयेण येन।
यस्तं व्रजेन्नयेन मुक्तिरसंयमिनस्तान् ये न।।

यः निश्चयेन नयेन न अलंकृतः, किन्तु तद् (तस्य निश्चयनयस्य) विषयेण येन (अलंकृतः) तं (नर) मुक्तिः नयेन व्रजेत्। (परञ्च) ये असंयमिनः तान् न (व्रजेत)।

जो मात्र शुद्धनय से न हि शोभता है,
पै वीतरागमय भाव सुधारता है ।
लक्ष्मी उसे वरण है करती खुशी से,
सागार को निरखती तक ना इसी से ।।४८।।

अर्थ– जो निश्चयनय से अलंकृत नहीं हैं किन्तु उसके विषयभूत संयमाचरण से अलंकृत है उस मनुष्य को मुक्ति नय–परम्परा से प्राप्त हो सकती है । परन्तु जो असंयमी हैं उन्हें मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती ।।४८।।

त्वं त्याज्यं त्यज मानं विस्मर यममलमात्मानं मा नम्।
भवन्नमानी मानं गतः स जिनोऽनन्यसमानम्।।

त्वं त्याज्यं मानं त्यज, यम् अमलम् आत्मानं नं मा विस्मर।
स जिनः अमानी भवन् अनन्यसमानं मानं गतः।

"हैं पूर्व में मुनि सभी बनते अमानी,
पश्चात् जिनेश बनते,' यह 'वीर' वाणी ।
तू भी अभी इसलिये तज मान को रे,
शुद्धात्म को निरख,ले सुख की हिलोरें ।।४६।।

अर्थ–हे मुने ! तू छोडने योग्य मान को छोड। प्रशस्त निर्मल आत्मा तथा जिनदेव को मत भूल । वह जिनदेव मान–गर्व रहित होते हुए अनुपम–अद्वितीय मान–ज्ञान अथवा आदर को प्राप्त हुये हैं।।४६।।

यदि भवभीतोऽसि भवं भज भक्त्याऽभवमिच्छसि भव्य भवम्।
दृशावस्य मनोभवं त्वङ्कुरु शुच्या निजानुभवम्।।

भव्य ! यदि भवभीतः असि, अभवं भवम् (च) इच्छसि चेत् शुच्या दृशा
मनोभवम् आवस्य त्वं भक्त्या भवं भज, निजानुभवं (च) कुरु।

संसार सागर किनार निहारना है,
तो मार मार, दृग को द्रुत धारना है ।
औ ! जातरूप 'जिन' को नित पूजना है,
भाई ! तुझे परम आतम जानना है ।।५०।।

अर्थ– हे भव्य ! यदि तू संसार से भयभीत है और अभव–जन्मरहित भव–सिद्धपर्याय को चाहता है तो निर्मलदृष्टि–सम्यक्त्व अथवा विवेक से मनोभव–काम को नष्ट कर भक्तिपूर्वक भव–जिनेन्द्रदेव की आराधना कर तथा शुद्ध आत्मा का अनुभव कर।।५०।।

सन्तः समालसन्तः सन्तु सन्ततं स्वे स्वकं भजन्तः।
अन्तेऽनन्ततामतः प्रयान्तु शिवालये वसन्तः।।

सन्तः स्वकं भजन्तः (अतएव) समालसन्तः स्वे सन्ततं सन्तु।
अतः अन्ते शिवालये वसन्तः अनन्ततां प्रयान्तु।

सल्लीन हों स्वपद में सब सन्त साधु,
शुद्धात्म के सुरस के बन जाये स्वादु ।
वे अन्त में सुख अनन्त नितान्त पावें,
सानन्द जीवन शिवालय में बितावें ।।५१।।

अर्थ–साधुजन स्वकीय आत्मा का भजन करते हुये एवं सम्यक् प्रकार से सुशोभित होते हुए निरन्तर आत्मा में रहें–उसी का चिन्तन–मनन करें। इससे अन्त में मुक्तिधाम में रहते हुए अनन्तता–अविनश्वरता को प्राप्त हों।।५१।।

सुकृतैनोभ्यां मौनमिति व्रज मत्वाहं देहमौ ! न।
ध्रुवौ धर्मावमौ न रागद्वेषौ च ममेमौ नः !।।

औ ! नः ! "अहं देहं न, मम इमौ रागद्वेषौ अमौ ध्रुवौ
धर्मौ न" – इति मत्वा सुकृतैनोभ्यां मौनं व्रज !

'ये रोष-रागमय भाव विकार सारे,
मेरे स्वभाव नहिं हैं '-.बुध यों विचारें ।
ये पाप पुण्य ,इनमें फिर मौन धारे,
औ देह-स्नेह तजके निज को निहारे ।।५२।।

अर्थ–हे मानव ! मैं देह--शरीर नहीं हूँ और मेरे ये रागद्वेषरूपी रोग स्थायी धर्म नहीं हैं, ऐसा मानकर पुण्यपाप से मौन को प्राप्ताकर अर्थात् इनका विकल्प छोड शुद्धात्म का अनुभव कर।।५२।।

भावना चेद्धि भवतः कदा निवृत्तिरियमिति भवेद् भवतः।
निक्षिपतु मनोऽभवतः पदयोर्दूरं मनोभवतः।।

"भवतः इयं निवृत्तिः कदा भवेत्" इति हि भवतः भावना चेत्
(अ) भवतः पदयोः मनः निक्षिपतु, मनोभवतः (मनः) दूरं निक्षिपतु।

संसार के जलधि से कब तैरना हो,
ऐसी त्वदीय यदि हार्दिक भावना हो ।
आस्वाद ले जिनप-पाद -पयोज का तू,
ना नाम ले अब कभी उस 'काम'का तू ।।५३।।

अर्थ—'संसार से यह निवृत्ति कब होगी' ऐसे निश्चय से यदि तेरी भावना है तो तू अभवतः—जन्म ग्रहण न करने वाले अरहन्त के चरणों में मन लगा और काम से मन को दूर रख ।।५३।।

स ना नैति नालीकः स्वं तेनेतोऽर्थोऽतो नालीकः।
यः समाननालीकः शिवश्रियेऽप्यस्तु नालीकः?।।

स ना नालीकः, यः स्वं न एति। अतः हे न ! तेन अलीकः अर्थः इतः यः (च) समाननालीकः (वर्तते), स शिवश्रिये अपि अलीकः न अस्तु ? (अस्तु एव–इत्यर्थः)

संसार-बीच बहिरातम वो कहाता,
झूठा पदार्थ गहता, भव को बढ़ाता !
बेकार मान करता निज को भुलाता,
लक्ष्मी उसे न वरती, अति कष्ट पाता ।।५४।।

अर्थ–वह मनुष्य नालीक–मुर्ख है जो आत्मा सको नही प्राप्त होता–नहीं जानता। अतः हे जिन ! उसने अलीक–मिथ्या अर्थ को प्राप्त किया है–जान रखा है जो समाननालीक–अहंकारी एवं अज्ञानी है। ऐसा मनुष्य शिवश्री–कल्याणकारी लक्ष्मी अथवा मोक्षलक्ष्मी के लिए भी अलीक–अप्रिय क्यों न हों ? अवश्य हो।।५४।।

तेनाऽऽप्यते साऽऽशु चिदेकमूर्तिश्च गतार्थैकाऽशुचिः।
धृतदशधर्मैकशुचिर्यो निजं श्रमणः श्रयति शुचिः।।

गतार्थैकाऽशुचिः चिदेकमूर्तिः च सा आशु तेन आप्यते,
यः श्रमणः धृतदशधर्मशुचिः शुचिः निजं श्रयति।

जो पाप से रहित चेतन मूर्ति प्यारी,
हो प्राप्त शीघ्र उनको भव-दुःखहारी ।
जो भी महाश्रमण हैं निज गीत गाते,
सच्चे क्षमादि दश धर्म स्वचित्त लाते ।।५५।।

अर्थ-- उस श्रमण–साधु के द्वारा वह प्रसिद्ध–ज्ञानिजन सुलभ अर्थपुरूषार्थ सम्बन्धी अपवित्रता से रहित चैतन्य की अद्वितीयमूर्ति प्राप्त की जाती है, ाजो दशधर्म सम्बन्ध ी पवित्रता को धारण करने वाला उज्ज्वलहृदय श्रमण निज आत्मा का आश्रय लेता है।।५५।।

परिणतो दृशा साकं यदि नैति विधेरुदयात् सहसाऽकम्।
कं मुक्तिरेतु साकं कश्चामितं तदाञ्जसा कम्।।

यदि ना दृशा साकं परिणतः विधेः उदयात् सहसा अकम् एति तदा सा
मुक्तिः कं कं अञ्जसा एतु ? कः (च) अमितं कम् (एतु)?

सम्यक्त्व-लाभ वह है किस काम आता,
है कर्म का उदय ही यदि पाप लाता ।
तो हाय ! मुक्ति-ललना किसको वरेगी ?
वो सम्पदा अतुलनीय किसे मिलेगी ।।५६।।

अर्थ-- यदि सम्यग्दर्शन के साथ तद्रूपता को प्राप्त हुआ मनुष्य कर्म के उदय से सहसा पाप को प्राप्त होता है अर्थात् चारित्र से पतित होता है, तो रत्नत्रय की एकता से प्राप्त होने वाली मुक्ति किस आत्मा को यथार्थरूप से प्राप्त होगी ? अर्थात् किसी को नहीं। इसी प्रकार चारित्र से पतित कौन मनुष्य अनन्तसुख को प्राप्त होता है? अर्थात् कोई नहीं ।।५६।।

निजीयं ननु नरायं श्रयन्तु मुनयो जडमयं न रायम्।
चेन्न ते (किं) (वा) नरा यं वाञ्छन्ति न विज्ञा नरायम्।।

ननु मुनयः निजीयं श्रयन्तु, जडमयं रायं न। चेत् न,
ते किन्नराः (वानंरा) विज्ञाः नराः यं यं न वाञ्छन्ति।

लेवें निजीय विधि का मुनि वे सहारा,
संसार मूल जड वैभव को बिसारा ।
ना चाहते विबुध वे यश सम्पदा को,
हाँ,चाहते जड उसे,सहते व्यथा को ।।५७।।

अर्थ–मुनि आत्मसम्बन्धी पूज्यधन का अवलम्बन लेवें, अचेतनधन का नहीं। यदि ऐसा नहीं करते हैं तो वे किन्नर हैं–खोटे मनुष्य हैं अथवा वानर हैं। ज्ञानी मनुष्य यश की इच्छा नहीं करते। ।।५७।।

अत्र सुखं न वै भवे स्वीये कथमपि कुरु रुचिं वैभवे।
माने वचसि वैभवे मा भ्रम मुधा मुने ! वै भवे।।

वै अत्र भवे सुखं न। वै मुने ! कथमपि स्वीये वैभवे ऐभवे माने वचंसि (वा) रुचिं कुरु। भवे मुधा मा भ्रम।

संसार में सुख नहीं, दुःख का न पार,
ले आत्म में रुचि भला, सुख हो अपार ।
सिद्धान्त का मनन या कर चाव से तू,
क्यों लोक में भटकता पर भाव से तू ? ।।५८।।

अर्थ–हे मुने ! निश्चय से इस संसार में सुख नहीं है । तू किसी तरह अपने मोक्षरूप भव में अथवा वैभव–भगवत्सम्बन्धी ज्ञान और सिद्धान्त में रूचिकर, व्यर्थ ही संसार में मत भटक, अथवा भव–कल्याण के विषय में भ्रम –संदेह मत कर ।।५८।।

ते यान्ति सुखं समये समावसन्ति हि सदाधिगतसम ! ये।
दुःखं हि गते समये कार्यमपि च कृतं तदसमये।।

(हे) अधिगतसम ! ये समये सदा समावसन्ति, हि, ते सुखं यान्ति।
हि समये गते दुःखम्, असमये कृतं तत् कार्यम् अपि च (दुःखम्)।

जो भी रहे समय में रत, मौन धारे,
पाते अलौकिक सही सुख शीघ्र सारे।
वो विज्ञ ना समय का, वह कष्ट पाता,
पीडार्त हो,समय है जब बीत जाता ।।५६।।

अर्थ--हे अधिगतसम ! हे श्रेष्ठ पदार्थों को प्राप्त करने वाले श्रमण ! जो मुनि सदा समय-शुद्धात्मा में वास करते हैं--उसका ध्यान करते हैं वे निश्चय से सुख को प्राप्त होते हैं। क्योंकि समय-सिद्धान्त अथवा योग्यकाल के निकल जाने पर दुःख होता है,इसके सिवाय जो कार्य असमय-अयोग्यकाल में किया जाता है वह भी दुःख रूप होता है ।।५६।।--

स्वं सुदृशाऽमागच्छममितगुणानां सदा समागच्छ।
मा कमपि च मागच्छ वदात्रेति शीघ्रमागच्छ।

अमितगुणानां गच्छं स्वं सुदृशा अमा सदा समागच्छ। "अत्र शीघ्रम् आगच्छ, (तत्र) मा गच्छ" -- इति कम् अपि मा वद।

आत्मा अनन्त-गुण-धाम, सदैव जानो,
सम्यक्त्व प्राप्त करके निज को पिछानो।
जाओ वहाँ, इधर या तुम शीघ्र आओ,
आदेश ईदृश नहीं पर को सुनाओ ।।६०।।

अर्थ--हे मुने ! अपरिमित गुणों के समूह स्वरूप स्वशुद्धात्मा को सम्यग्दर्शन के साथ प्राप्त करो। 'तुम यहाँ आओ, वहाँमत जाओ' ऐसा किसी से मत कहो। ।।६०।।

खविषयो यो नागतः समादृतश्च येन गतोऽनागतः।
सत्यं यश्च नागतः किं बिभेति यते ! स नागतः

(हे) यते ! यः आगतः गतः अनागतः खविषयः येन च न समादृतः यः
(च) ना सत्यं गतः, स किं नागतः बिभेति ? (न इति)

भोगे हुए विषय को मन में न लाता ।
आ प्राप्त को पकडना न जिसे सुहाता ।
कांक्षा नहीं उस अनागत की करेगा,
वो सत्य पाकर कभी अहि से डरेगा ?।।६१।।

अर्थ–हे मुने ! जो वर्तमान में प्राप्त हैं,पहले प्राप्त थे और आगे प्राप्त होंगे–ऐसे तीन काल सम्बन्धी इन्द्रियविषय जिसके द्वारा आदर को प्राप्त नहीं हुए है। साथ ही, जो मनुष्य सत्य–यथार्थवस्तुस्वरूप को जान चुका है वह क्या नाग–सर्प से भयभीत होगा? अर्थात् नहीं।।६१।।

ते मुनिजनका नत्वा स्वरसं कलयन्ति कजनका न! त्वा।
जनाः (नराः) पयः किं न त्वाऽऽस्वाद्यंपक्वपौंडकानत्त्वा।।

हे न ! ते मुनिजनकाः कजनकाः (ये) त्वा नत्वा स्वरसं कलयन्ति। जनाः (नराः) पक्वपौंडकान् अत्त्वा आस्वाद्यं पयः किं न (कलयन्ति) ? (तु पादपूर्त्यै)

हे वीर देव ! तुमको नमते मुमुक्षु,
पीते तभी स्वरस को सब सन्त भिक्षु।
क्यों बीच में मनुज तेज कचौडि खाते ?
पश्चात् अवश्य फलतः हलुवा उडाते ।।६२।।

अर्थ– हे जिनदेव ! वे मुनिजन सुख के जनक हैं, जो आपको नमनकर आत्मरस–आत्मानुभव को प्राप्त होते हैं। पका हुआ गन्ना खाकर क्या मनुष्य मधुर दूध को ग्रहण नहीं करते?।।६२।।

जिनपदपद्मयमस्य नुमञ्चति स यश्चादरं यमस्य।
वाणीरितीयमस्य सन्मतेश्च गुरोर्जितयमस्य।।

'यः जिनपदपद्यमस्य नुम् अञ्चति --सः (च) यमस्य आदरम् अञ्चति'
इति सन्मतेः गुरोः अस्य जितयमस्य च इयं वाणी (वर्तते)।

चारित्र का नित समादर जो करेंगे,
वे ही जिनेन्द्र-पद की स्तुति को करेंगे !
ऐसा सदैव कहती प्रभु भारती है,
नौका-समान भव पार उतारती है ।।६३।।

अर्थ-- जो जिनेन्द्रदेव के चरणकमलयुगल की स्तुति को प्राप्त होता है वह चारित्र के आदर को प्राप्त होता है, ऐसी महावीर तथा मृत्युजंयी गुरू की वाणी है ।।६३।।

योऽत्ति न सदाहारं रत्नत्रयं च कलयति न सदा हारम् ।
गतमानसदाहाऽरं तमेतु स त्रासदं हा ! रम् ।।

यः सत् आहारं न अत्ति, रत्नत्रयं हारं च सदा न कलयति,
हे गतमानसदाह ! सः(जनः) त्रासदं तं कम् अरं हा ! एतु ।

आहार जो न करते समयानुसार,
औ धारते न रतनत्रय-रूप हार ।
रागाग्नि से सतत वे जलते रहेंगे,
संसार वारिधि महा फिर क्यों तिरेंगे ?।।६४।।

अर्थ--जो मनुष्य शुद्ध सात्विक आहार को ग्रहण नहीं करता और न सदा रत्नत्रयरूपी हार को धारण करता है। हे कामाग्नि सम्बन्धी मानसिक दाह से रहित मुने ! वह, खेद है दुःखदायक कामाग्नि को शीघ्र ही प्राप्त होवे ।।६४।।

सुखिनः सुखे सखे न मरुत्सखाः खेचरोऽयुतः सखेन।
नरो जिनदास ! खे न ह्यार्तस्ततः स्वे वस खे न।।

सखे, जिनदास ! मरुत्सखाः सुखे सुखिनः न, सः खेचरः खेन अयुतः,
नरः खेन आर्तः, ततः स्वे वस, खे न (वस)।

देखो सखे ! अमर लोग सुखी न सारे,
वे भी दुःखी सतत, खेचर जो बिचारे।
दुःखार्त्त हि दिख रहे नर मेदिनी में,
शुद्धात्म में रम अतः, मंन रागिनी में ।।६५।।

अर्थ-- हे मित्र ! जिनदास ! इन्द्र स्वर्ग में सुखी नहीं है,वह खेचर–विद्याधर सुख से रहित है। और मनुष्य वेदना से पीड़ित है। अतः तू अपने आप में-- शुद्धात्मस्वरूप में निवास कर, इन्द्रियों में नहीं ।।६५।।

तप्त ! मनोभववसुना भव्य चिदनुभवसवेन भव वसुना।
तृप्तोऽलं भववसु ना स्यात् सुखीत्वा विद्भववसुना।।

भव्य ! मनोभववसुना तप्त ! चिदनुभव सवेन वसुना तृप्तः भव,
भववसुना अलम् ना विद्भववसु ईत्वा सुखी स्यात्।

कामाग्नि से परम तप्त हुआ सदा से,
तू आत्म को कर सुतृप्त स्व की सुधा से ।
कोई प्रयोजन नहीं जड सम्पदा से,
पा बोध , हो नर ! सुखी अति शीघ्रता से।।६६।।

अर्थ— हे ! कामाग्नि से संतप्त भव्य ! तू आत्मानुभवरूप जल से संतुष्ट हो जा,संसार के धन से वाज आओ। क्योंकि मनुष्य आत्मोत्थधन को पाकर सुखी हो सकता है।।६६।।

जडजेन माऽक्षरेण कुरु किन्तु सम्बन्धममाऽक्षरेण।
कलयतु विना क्षरेण न दवेन कुस्तप्ताऽक्ष ! रेण।।

जडजेन अक्षरेण सम्बन्धं मा कुरु, किन्तु हे अक्ष ! अक्षरेण अमा (सम्बन्धं कुरु)। रेण दवेन तप्ता कुः क्षरेण विना न कलयतु।

सम्बन्ध द्रव्य श्रुत से नहिं मात्र रक्खो,
रक्खो स्वभाव श्रुत से,निज स्वाद चक्खो ।
है मेदिनी तप गई रवि ताप से जो,
क्यों शाँत हो जल बिना, जल नाम से वो।।६७।।

अर्थ– हे आत्मन् ! पौद्गलिक अक्षररूप द्रव्यश्रुत से सम्बन्ध मत करो, किन्तु अक्षर–ब्रम्हरूप आत्मा से सम्बन्ध करो अर्थात् भावश्रुत से सम्बन्ध जोडों क्योंकि तीक्ष्ण दावानल से संतप्तभूमि जल अथवा मेघ के बिना शान्ति को प्राप्त नहीं हो सकती।

असावभावो भावः पर्यायस्य न भावस्य च भावः।
त्रैकालिकस्तु भावः परमेष्ठिमतस्येति भावः।।

असौ भावः अभावः च पर्यायस्य, भावस्य भावः न। भावः
तु त्रैकालिकः–इति परमेष्ठिमतस्य भावः।

"पर्याय वो जनमती मिटती रही है।
त्रैकालिकी यह पदार्थ, यही सही है।"
श्री वीर देव जिन की यह मान्यता है,
पूजूँ उसे विनय से यह साधुता है।।६८।।

अर्थ– यह उत्पाद और व्यय पर्याय का है, द्रव्य का नहीं। भाव–द्रव्य तो त्रैकालिक है–नित्य है, यह जैनमत का भव–आशय है।।६८।।

यत्र रागाय वीचिर्मरीचेश्चेतसि चेन्मदो-वीचिः।
तत्र न चकास्तु वीचिः किं न स दुःखपूर्णोऽवीचिः।।

यत्र मरीचेः चेतसि रागाय वीचिः च मदः वीचि (स्यातां) चेत्,
तत्र वीचिः न चकास्तु। सः किं दुःखपूर्णः अवीचिः न ? (अस्त्येव)

संमोह राग मद है यदि भासमान,
या विद्यमान मुनि के मन में ऽभिमान।
आनन्द हो न उस जीवन में कदापि,
हा ! हा ! वही नरक कुण्ड बना ऽतिपापी ।।६६।।

अर्थ–मुनि के जिस हृदय में राग के लिये अवकाश है ।तथा अल्प अथवा सन्ततिबद्ध अभिमान है, उसमें सुख सुशोभित नही हो सकता । ऐसा मुनि क्या दुःखों से भरा हुआ नरक नहीं है ? अर्थात् नरक ही है।।।६६।।

यो भुवि मुनिलिङ्गमितस्तेनाप्यत इति को जिनवागमितः।
येन मदोन्तंगमितश्चात्मा ह्यविनश्वरो गमितः।।

"यः भुवि मुनिलिङ्गम् इतः येन मदः अन्तंगमितः, अविनश्वरः आत्मा च गमितः तेन अमितः कः आप्यते" – इति जिनवाक्।

श्रद्धाभिभूत जिसने मुनि लिंग धारा,
कंदर्प को सहज से फिर मार डारा ।
अत्यन्त शान्त निजको उसने निहारा,
औ अन्त में बल ज्वलन्त अनन्त धारा।।७०।।

अर्थ–पृथिवी पर जो मुनिलिंग–निर्ग्रन्थवेष को प्राप्त हुआ है, जिसने अभिमान को नष्ट किया है और जिसने अविनाशी आत्मा को जान लिया है, उसके द्वारा अपरिमित सुख प्राप्त किया जाता है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् का वचन है ।।७०।।

तदस्त्यसुमतामहित-मकं ततो दूरीभव त्वमहितः।
यो प्राणिग्राममहितः स वदतीति मुनिसमितिमहितः।।

'तत् अकम् असुमताम् अहितम् अस्ति। ततः अहितः त्वम् दूरीभव"
इति – यः मुनिसमितिमहितः प्राणिग्रामहितः– स वदति।

"रे ! पाप ही अहित है, रिपु है तुम्हारा,
काला कराल अहि है, दुःख दे अपारा ।
हो दूर शीघ्र उससे, तब शान्ति धारा,"
ऐसा कहें जिनप जो जग का सहारा ।।७१।।

अर्थ – 'वह पाप प्राणियों का अहितकारी–शत्रु है–सर्परूप उस पाप से तू दूर रह' ऐसा मुनियों के समूह से पूजित और प्राणिसमूह के लिये हितकारी जिनेन्द्र कहते हैं।।७१।।

स मुद्‌मेति वासन्तः समुत्सवो वने यदा वासन्तः।
नेत्वा निजवासवन्त आशु शं शिष्या वा सन्तः।।

यदा वासन्तः समुत्सवः वने एति (तदा) स वासन्तः मुदम् एति। हे न ! ते शिष्याः सन्तः वा निजवासं शम् ईत्वा आशु (मुदं यन्ति)।

ले रम्य दृश्य ऋतुराज वसन्त आता,
ज्यों देख कोकिल उसे मन मोद पाता।
हे वीर ! त्यों तव सुशिष्य खुशी मनाता,
शुद्धात्म को निरख औ' दुःख भूल जाता।।७२।।

अर्थ–जब वन में वसन्त का उत्सव आता है, तब कोयल हर्ष को प्राप्त होती है। इसी तरह हे जिन ! आपके शिष्य और सत्पुरुष आत्मस्थ–आत्मसम्बन्धी सुख को प्राप्त कर मोद को प्राप्त होते हैं।।।७२।।

कुधीः सुखी नाके न ततो युतो भव केन नो नाऽकेन।
दुःखिनो विना के न दृशा किं नरकेण नाकेन।।

हे नः ! नाके कुधीः सुखी न, ततः केन युतः भव, अकेन युतः न भव। (अतः) नरकेण (च) नाकेन च किम् ? दृशा विना के (जनाः) दुःखिनः न ?।

होता कुधी, वह सुखी दिवि में नहीं है,
तू आत्म में रह, अतः सुख तो वही है।
क्या नाक से, नरक से ? इक सार माया,
सम्यक्त्व के बिन सदा ! दुःख ही उठाया।।७३।।

अर्थ–हे मनुज ! स्वर्ग में अज्ञानी–मिथ्यादृष्टि जीव सुखी नहीं है। अतः तू क–आत्मा से युक्त हो, अक–पाप से युक्त मत हो। इसलिये नरक और स्वर्ग से क्या ? सम्यग्दर्शन के बिना कौन मनुष्य दुःखी नहीं है ? ।।७३।।

प्रतापी ह्यपि रोहितः पवनपथि यथा पयोदतिरोहितः।
आत्माप्याह रोहितः कर्मरजसेति नृवरो हितः।

पवनपथि प्रतापी अपि रोहितः यथा पयोदतिरोहितः (भवति) (तथैव) रोहितः
आत्मा अपि कर्मरजसा (तिरोहितः भवति) इति नृवरः हितः आह।

ज्योत्स्ना लिये, तपन यद्यपि है प्रतापी,
छा जाय बादल, तिरोहित हो तथापि।
आत्मा अनन्त द्युति लेकर जी रहा है,
हो कर्म से अवश, कुन्दित हो रहा है ।।७४।।

अर्थ–जिस प्रकार आकाश में प्रतापी होने पर भी सूर्य मेघों से छिप जाता है, उसी प्रकार आत्मा भी कर्मरूपी सूर्यरूपी धूलि से तिरोहित हो रहा है – छिप रहा है, ऐसा कल्याणकारी नरोत्तम – जिनदेव ने कहा है। ।।७४।।

नो सुखं सदाशातो जन्माप्राक्तो रवेः कदाऽऽशातः?
तथापि निजदाशातो दूरोऽतो ऽज्ञः सदा शातः?

अशातः सत् सुखं न। अप्राक्तः आशातः रवः जन्म कदा (भवति)?
तथापि निजदाशातः अज्ञः सदा दूरः (वसति), अतः शातः (भवति)।

कैसे मिले ? नहिं मिले सुख माँगने से,
कैसे उगे अरुण पश्चिम की दिशा से ?
तो भी सुदूर वह मूढ़ निजी दशा से,
होता अशान्त अति पीड़ित ही तृषा से ।।७५।।

अर्थ–आशा – तृष्णा से समीचीन सुख नहीं होता। पूर्वेतर – पश्चिमादि दिशा से सूर्य का उदय कब होता है? फिर भी अज्ञानी मनुष्य निज दशा से दूर रहता है इसीलिये वह सदा अशांत – सुखरहित अर्थात् दुःखी रहता है। ।।७५।।

स्वे वस मुदाऽमा यते ! निजानुभवं कुरु चिन्तां माऽऽयतेः।
नास्तु हीहामाय ते श्रयमुरसि भयमेहि माऽऽयतेः।।

यते ! मुदा अमा स्वे वस। निजानुभवं कुरु; आयतेः चिन्ता मा(कुरु)।
आयतेः भयं मा एहि। हि ते उरसि ईहामाय श्रयं न अस्तु।

लिप्सा कभी विषय की मन में न लाओ,
चारित्र धारण करो, पर में न जाओ।
चिन्ता कदापि न अनागत की करोगे,
विश्राम स्वीय घर में चिरकाल लोगे ।।७६।।

अर्थ–हे श्रमण ! हर्ष के साथ अपने आत्मस्वरूप में निवास करो। निज का अनुभव करो। भविष्य की चिन्ता मत करो। मृत्यु के भय को प्राप्त मत होओ -- मृत्यु से डरो नहीं और तुम्हारे हृदय में इच्छारूपी रोग के लिए स्थान नहीं हो ।।७६।।

क्षारतः संसारतः पारावारतो दुःखमसारतः।
निजे भवाञ्जसारतः सुखं सत् स्यात् स्वतः सारतः।।

असारतः क्षारतः पारावारतः संसारतः दुखं (हि प्राप्यते)।
अतः निजे अञ्जसा रतः भव। स्वतः सारतः सत् सुखं स्यात्।

संसार सागर असार अपार खारा,
है दुःख ही, सुख जहां न मिले लगारा।
तो आत्म में रत रहो, सुख चाहते जो,
है सौख्य तो सहज में, नहिं जानते हो ? ।।७७।।

अर्थ–सारहीन, खारे, सागरस्वरूप संसार से दुःख ही प्राप्त होता है। इसलिये निजस्वरूप में यथार्थतः लीन हो, सारभूत निज से सच्चा सुख होता है ।।७७।।

न हि कैवल्यसाधनं केवलं यथाजात - प्रसाधनम्।
चेन्न, पशुरपि साधनं व्रजेदव्ययमञ्जसा धनम्।।

केवलं यथाजात–प्रसाधानं न हि (इत्थम्) चेत् न,
(तर्हि) पशुः अपि अञ्जसा अव्ययं साधनं धनं व्रजेत्।

'कैवल्य-साधन न केवल नग्न-भेष,''
त्रैलोक्य वन्द्य इस भांति कहें जिनेश।
इत्थम् न हो, पशु दिगम्बर क्या न होते?
होते सुखी ? दुखित क्यों दिन रात रोते?।।७८।।

अर्थ–मात्र नग्नवेष ही मोक्ष का उपाय नहीं है। यदि ऐसा न हो, पशु भी यथार्थ में अविनश्वर गति–मोक्षरूपी धन को प्राप्त हो।

स्वीयतो भुवि भावतः शिवं भवेद् भववृद्धिर्विभावतः।
विरतो भव विभावत इति वाग्घि विवेकविभावतः।।

"स्वीयतः भावतः भुवि शिवं भवेत्, भववृद्धिः विभावतः (भवेत्)
अतः विभौ विरतः भव" इति हि विवेकविभावतः वाग्।

"संसार की सतत वृद्धि विभाव से है,
तो मोक्ष सम्भव स्वतन्त्र स्वभाव से है।
हो जा अतः अभय, हो विभु में विलीन,"
हैं केवली-वचन ये - "बन जा प्रवीण"।।७६।।

अर्थ- 'स्वकीय स्वभाव से पृथिवी पर शिव - कल्याण अथवा मोक्ष होता है और विभाव- रागादि परिणाम से संसार की वृद्धि होती है। अतः हे श्रमण ! तू वीतराग सर्वज्ञ प्रभु में विलीन हो जा ऐसी विवेकविभावान् केवलज्ञान की प्रभा से युक्त जिनेन्द्र की वाणी है।।७६।।

चरणमुकुटःशिरसि त आभवतो न सुदृगसितमणिरसितः।
धृतोऽतो यो न रसित - गोचरः कोऽसौ शुचिरसितः।।

आभवतः ते शिरसि सुदृगसितः- मणिरसितः चरणमुकुटः न धृतः।
अतः यः रसितगोचरः न, असौ शुचिः कः असितः?

सम्यक्त्व नीलम गया जिसमें जड़ाया,
चारित्र का मुकुट ना सिर पै चढ़ाया।
तू ने तभी परम आतम को न पाया,
पाया अनन्त दुःख ही, सुख को न पाया।।८०।।

अर्थ--हे भगवन् ! मैने अनादिसंसार से आज तक सम्यक्त्वरूपी नीलमणि से खचित आपका चारित्ररूपी मुकुट अपने मस्ताष्क पर नहीं चढाया, इसीलिये जो शब्द का विषय नहीं वह निर्मल आत्मा मेरे लिये अज्ञात रही।।८०।।

यस्त्रियोगैरञ्जनं रागमयं विहाय जगद्-रञ्जनम्।
भजति जिनं निरञ्जनं तमेति मुक्तिःसाऽरं जनम्।।

यः त्रियोगैः रागमयम् अंजनं विहाय, जगदञ्जनं निरञ्जनं जिनं भजति,
तं जनं सा मुक्तिः अरम् एति।

जो काय से वचन से मन से सुचारे,
पा बोध, राग मल धोकर शीघ्र डारे।
ध्याता निरन्तर निरंजन जैन को है,
पाता वही नियम से सुख चैन को है।।८१।।

अर्थ–जो मन–वचन–काय से रागरूप काजल को छोड़कर जगत् को आनन्द देने वाले, कर्मकालिमा से रहित जिनेन्द्र की सेवा करता है, उस पुरुष को वह मोक्षलक्ष्मी शीघ्र ही प्राप्त होती है।।८१।।

त्यजेत्वा सङ्गमेन आश्वलमनेन च दुःसङ्गमेन।
भज नमसङ्गमेनमनात्मनि विश्वासं गमे न।।

सङ्ग एनः ईत्वा आशु त्यज। अनेन दुस्सङ्गमेन च अलम्।
असङ्गम् एनं नं भज। अनात्मनि गमे विश्वासं न (कुरु)।

दुस्संग से प्रथम जीवन शीघ्र मोड़ो,
तो संग को समझ पाप तथैव छोड़ो।
विश्वास भी कुपथ में न कदापि लाओ,
शुद्धात्म को विनय से तुम शीघ्र पाओ।।८२।।

अर्थ–परिग्रह को पाप जानकर शीघ्र छोड़ो। इस परिग्रह और कुसंगति से वाज आओ, दूर रहो। इन निर्ग्रन्थ. जिनेन्द्र की सेवा करो, पर पथ में विश्वास मत करो।।८२।।

तथा जितेन्द्रियोऽङ्गतो निस्पृहोऽभवं योगी च योगतः।
पक्वपर्णोपचयोऽगतो यथा पतन् मा चल योगतः।।

यः जितेन्द्रियः योगी अभवंगतः, अङ्गतः च तथा निःस्पृहः यथा
अगतः पतन् पक्वपर्णपचयः (निस्पृहो भवति) अतः योगतः मा चल।

पत्ता पका गिर गया तरु से यथा है,
योगी निरीह तन से रहता तथा है।
औ ब्रह्म को हृदय में उसने बिठाया,
तू क्यों उसे विनय से स्मृति में न लाया?।।८३।।

अर्थ—जो जितेन्द्रिय साधु अभव—संसाराभाव को प्राप्त हुआ है, वह शरीर से उस प्रकार निस्पृह रहता है, जिस प्रकार वृक्ष से पड़ता हुआ सूखे पत्तों का समूह। अतः हे योगिन्! तू (शारीरिक उत्पात आने पर) योग से विचलित न हो।।८३।।

यो धत्ते सुदृशा समं मुनिर्वाङ्मनोभ्यां च वपुषा समम्।
विपश्यति सहसा स मं ह्यनन्तविषयं न तृषा समम्।।

यः मुनिः सुदृशा वाङ्मनोभ्यां च वपुषा समं समं धत्ते,
स हि अनन्तविषयं मं सहसा समं विपश्यति, तृषा (समं) न (पश्यति)।

वाणी, शरीर, मन को जिसने सुधारा,
सानन्द सेवन करे समता-सुधारा।
धर्माभिभूत मुनि है वह भव्य जीव,
शुद्धात्म में निरत है रहता सदैव।।८४।।

अर्थ–जो मुनि सम्यग्दर्शन के साथ मन–वचन–काय से साम्यभाव को धारण करता है, निश्चय से वह अनन्तपदार्थों के ज्ञाता ब्रह्मा–आत्मा को शीघ्र ही देखने लगता है–उसका अनुभव करने लगता है, किन्तु तृष्णा के साथ नहीं।।८४।।

करणकु ञ्जरंकन्दरं स्वरससेवन - संसेवित - कन्दरम्।
त्वा स्तुवे मे ऽकं दरं कलय गुरो ! दृक्कृषिकंद ! रम्।।

(हे) गुरो ! दृक्कृषिकन्द ! स्वरससेवन – संसेवितकन्दरं
करणकुञ्जरकन्दरं त्वां स्तुवे। मे अकं दरं कलय।

जो साधु जीत इन इन्द्रिय-हाथियों को,
आत्मार्थ जा, वन बसें, तज ग्रन्थियों को।
पूजूं उन्हें सतत वे मुझको जिलावें,
पानी सदा दृगमयी कृषि को पिलावें।।८५।।

अर्थ–'हे गुरो ! हे सम्यक्त्वरूपी खेती को जल देने वाले ! जो इन्द्रियरूपी हाथियों को वश करने के लिये अंकुश हैं तथा आत्मानुभव का सेवन करने के लिये जो कन्दराओं – गुफाओं में निवास करते हैं, ऐसे आपकी मैं स्तुति करता हूँ आप मेरे तीव्र दुःख को लघु – हल्का कर दें।।८५।।

स हि मुनिर्मयाऽरमितः प्रणतिं यो क्षमारामया रमितः।
गदितमिति जिनैरमितश्चाप्यते कोऽनया नर ! मितः।।

यः क्षमारामया रमितः स हि मुनिः मया अरं प्रणतिम् इतः (हे) नर !
अनया अमितः मितः च कः आप्यते–इति जिनैः गदितम्।

मैं उत्तमङ्ग उसके पद में नमाता,
जो है क्षमा-मणि से रमता-रमाता।
देती क्षमा अमित उत्तम सम्पदा को,
भाई ! अतः तज सभी जड़-संपदा को।।८६।।

अर्थ–जो क्षमारूपी रमणी से रमा गया है–उसमें निरन्तर लीन है वह मुनि मेरे द्वारा शीघ्र ही प्रणाम को प्राप्त होता है–मैं उसे सहसा प्रणाम करता हूं। हे मानव ! 'इस क्षमा से मोक्ष का अपरिमित और स्वर्गादि का परिमित सुख प्राप्त होता है' ऐसा जिनेन्द्र भगवन्तों ने कहा है।।८६।।

ननु निश्चयो यो नयः शिवदो न वन्द्यो न न च नयोऽनयः।
नमः पयोजयोनय आशु नाश्यन्ते कुयोनयः।।

ननु यः निश्चयः नयः (सः) शिवदः न, वन्द्यः (च) न,
नयः अनयः च न। पयोजयोनये नमः (यस्मात्) कुयोनयः आशु नाश्यन्ते।

ना वन्द्य है, न नय निश्चय मोक्ष-दाता,
ना है शुभाशुभ, नहीं दुःख को मिटाता।
मैं तो नमूं इसलिए मम ब्रह्म को ही,
सद्यः टले दुःख मिले सुख और बोधि।।८७।।

अर्थ—परमार्थ से जो निश्चयनय है वह मोक्ष को देने वाला नहीं है इसलिये वन्दनीय भी नहीं है। तात्पर्य यह है कि निश्चयनय मात्र मोक्षपथ का प्रदर्शक है मोक्षप्रदायक नहीं, मोक्ष के लिये पुरुषार्थ आत्मा को ही करना होता है। निश्चयनय मोक्ष का देने वाला नहीं है तथा वन्दनीय भी नहीं है, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि नय व्यर्थ है। प्रारम्भिक दशा में नय अनय नहीं है कल्याणकारी विधि से रहित नहीं है, अतः सार्थक है। अथवा मैं नय और कुनय के पक्ष में न पड़कर पद्मयोनि - ब्रह्मस्वरूप आत्मा को नमस्कार करता हूँ, जिससे सब नरकादि कुयोनियाँ नष्ट होती हैं।।८७।।

तदाऽऽत्मा मेऽजायते मयि यदैव सच्चेतना जायते।
त्वमतस्तां भजाऽऽयतेर्न भयं या स्वभावजा यते !।।

यदा एव मयि सच्चेतना जायते, तदा (एव) मे आत्मा अजायते।
(हे) यते ! स्वभावजा या (सच्चेतना) तां भज ! आयतेः भयं न (भज)।

सत् चेतना हृदय में जब देख पाता,
आत्मा मदीय भगवान समान भाता।
तू भी उसे भज जरा, तज चाह-दाह,
क्यों व्यर्थ ही नित व्यथा सहता अथाह।।८८।।

अर्थ—जिस समय मुझमें सच्चेतना प्रकट होती है—मेरी ज्ञानपरिणति रागादिक विभावभावों से रहित होती है, उसी समय मेरी आत्मा अज—भगवान् जैसी हो जाती है। हे श्रमण ! जो स्वाभाविक सच्चेतना है उसी की तू सेवा कर—आराधन—मनन—चिन्तन कर, भविष्यत् का भय न कर।।८८।।

निजरस्य गतमदा नवः समावहन्तस्तं समं दानवः।
क एति कामदा नवस्तानाह नुतयमदानवः।।

"(ये) गतमदाः निजस्य नवः तं समं समावहन्तः दानवः, तान् कामदा नवः कः एति" – इति नुतयमदानवः आह।

"गम्भीर-धीर यति जो मद ना धरेंगे,
औ भाव-पूर्ण स्तुति भी निज की करेंगे।
वे शीघ्र मुक्ति ललना वर के रहेंगे,"
ऐसा जिनेश कहते - 'सुख को गहेंगे'।।८६।।

अर्थ–जो निरभिमान हो निज शुद्धात्मा की स्तुति करते हैं तथा उसी को सदा साथ धारण करते हैं वे वीर हैं। उन वीरों को मनोरथों का पूरक नूतन प्रकाश (केवलज्ञान) प्राप्त होता है–ऐसा सुर–असुरों से स्तुतजिनेन्द्र भगवान् ने कहा है।।८६।।

शुचिर्विवेकदृशा न आत्मा दृश्यतेऽनया च दृशा न।
ना विना को दृशा न ते विदुरादर्श - सदृशा नः!।।

(हे) नः ! विवेकदृशानः शुचिः आत्मा अनया दृशा च न दृश्यते। दृशा
विना कः न (आप्यते) – (एवं) ते आदर्श -- सदृशाःनाःविदुः।

आत्मावलोकन कदापि न नेत्र से हो,
पूरा भरा परम पावन बोधि से जो।
आदर्श-रूप अरहन्त हमें बताते,
कोई कभी दृग बिना सुख को न पाते।।६०।।

अर्थ–हे मानव ! पूज्य निर्भल आत्मा भेदविज्ञानरूप दृष्टि से दिखाई देता है – अनुभव में आता है, इस चर्ममयी दृष्टि से नहीं। दृष्टि के बिना क–आत्मा, सूर्य, प्रकाशादि प्राप्त नहीं होते–ऐसा दर्पण के समान वे जिनराज जानते हैं।।६०।।

दृशा विना चरणस्य भारं वहता च मदं च चरणस्य।
नुमञ्चताऽऽचरणस्य नाप्तिर्नुतनृनभश्चर ! णस्य।।

(हे) नुतनृनभश्चर ! दृशा विना चरणस्य भारं, चरणस्य मदं च वहता,
आचरणस्य नुम् अञ्चता णस्य आप्तिः न (भवतीति)।

जो 'वीर' के चरण में नमता रहा है,
चारित्र का वहन भी करता रहा है।
औ गोत्र का, दृग बिना, मद ढो रहा है।
विज्ञान को न गहता, जड़ सो रहा है।।६१।

अर्थ—हे ! मनुष्य एवं विद्याधरों से स्तुत जिनदेव ! जो सम्यग्दर्शन के विना चारित्र का भार ढोता है, उस चारित्र से अपने उच्चगोत्र का गर्व करता है और स्वकीय आचरण की स्तुति – प्रशंसा करता है वह मनुष्य निर्णय अथवा ज्ञान को प्राप्त नहीं होता।।६१।।

सङ्गेऽङ्गेऽसं रतः शिवाङ्गच्युतो यौऽङ्ग ! स सङ्गरतः।
किं दूरः सङ्गरतस्त्वमतोऽकाद्विरम सङ्गरतः।।

(हे) असङ्ग ! अङ्ग ! यः शिवाङ्गच्युतः, सङ्गे, अङ्गे रतः सः किं
सङ्गरतः दूरः ? अतः त्वं सङ्गरतः सङ्गरतः अकात् विरम।

धिक्कार ! मोक्ष-पथ से च्युत हो रहा है,
तू अंग-संग ममता रखता अहा है।
भाई ! अतः सह रहा नित दुःख को ही,
ले ले विराम अघ से, तज मोह मोही !।।६२।।

अर्थ–हे निर्ग्रन्थ ! जो मोक्ष के निमित्तभूत सम्यग्दर्शनादि से च्युत हो परिग्रह और शरीर की संभाल में लीन है, वह संगर – आपत्ति से दूर है क्या ? अतः तू विपत्तिरूप एवं विषरूप पाप से विरत हो।।६२।।

सतः समयसाररसतः सन्त्वलयोऽदूराः सहसा रसतः।
पराऩ्न दृक्साऽरसतः स्वतः सुधा स्रवति सारसतः।।

सतः अलयः समयसाररसतः अदूराः सन्तु, रसतः (च) सहसा (दूराः) (सन्तु)।
सा दृक् परात् न (लभ्यते)। अरसतः स्वतः सारसतः (सा दृक्) सुधा स्रवति।

जो सन्त हैं समय-सार सरोज का वे,
आस्वाद ले भ्रमर-से पर में न जावें।
सम्यक्त्व हो न पर से, निज आत्म से ही,
भाई ! सुधा-रस झरे शशि-बिम्ब से ही।।६३।।

अर्थ– भ्रमर (गुणग्राहीजन) समीचीन, समय–आत्मारुपी सारस कमल से अदूर रहें– निकटस्थ रहें और रस – शरीर से दूर रहें। वह सम्यग्दर्शन पर से नहीं प्राप्त होता, रस – पौद्‌गलिक गुण से रहित स्वतः स्वकीय आत्मा से प्राप्त होता है। जैसे कि सुधा – अमृत सारस – चन्द्रमा से झरती है, अन्य पाषाणादि से नहीं।।६३।।

पुण्यमुदयागतमदश्चाकमितरद भयं भवाद् गतमदः।
न गतोऽखिलं गतमंद इति वेद्मि विदन्तर्गतमदः।।

भवात् भयंगत ! अदः उदयागतं पुण्यम् अकं च मत् इतरत्,
अखिलं गतः गतमदः अः मत् इतरं न इति विदन्तर्गतमदः (अहं) वेद्यि।

आया हुआ उदय में यह पुण्य पिण्ड,
औ' पाप, भिन्न मुझको जड़ का करण्ड।
ब्रह्मा न किन्तु पर है वह वर-बोध भानु,
मैं सर्व-गर्व तज के इस भाँति जानूँ।।६४।।

अर्थ–हे संसार से भयभीत ! श्रमण ! उदय में आया हुआ वह पुण्य और पाप मुझसे भिन्न है।सर्वत्र व्यापक (सबको जानने वाला) एवं गतमद–गर्वरहित अ–परमेश्वर मुझसे भिन्न नही है। जिसका गर्व या हर्ष ज्ञान में विलीन हो गया है,ऐसा मैं जानता हूँ।।६४।।

यते सन्मतेऽमल ! य ऋषयस्तत्पद्पमयुग्ममलयः।
भजन्ति गतो यो मलयः समदृष्टिं कृतमदाऽमलयः।।

यते ! सन्मते ! अमल ! कृतमदाऽमलयःयःमलयः समदृष्टिं गतः,
तत् पदपद्मयुग्मं ये ऋषयः अलयः भजन्ति।

साधु सुधार समता, ममता निवार,
जो है सदैव शिव में करता बिहार।
तो अन्य साधु तक भी उसके पदों में,
होते सुलीन अलि-से, फिर क्या पदों में?।।।६५।।

अर्थ–हे यते ! हे सन्मते ! हे अमल ! जिसने मद- गर्वरूपी रोग का नाश कर दिया है, जो विश्वरुप आत्मा में लीन है एवं समदृष्टि को प्राप्त है, उसके चरणकमलयुगल को ऋषिरूपी भ्रमर भजते हैं- नमन करते हैं ।।६५।।

चाप्ता ह्यसावसुरताऽसति तपसि रतैस्तपस्विभिः सुरता।
संस्तुत-नृसुरासुर ! ताः श्रियस्तु न स्वजा भासुरताः।।

हि असौ असुरता सुरता च असति तपसि रतैः तपस्विभिःआप्ता ।
(हे) संस्तुतनृसुरासुर ! ताःस्वजाःभासुरताः श्रियःतु न (प्राप्ता)।

प्रायः सभी कुतप से सुर भी हुए हैं,
लाखों दफा असुर हो, मर भी चुके हैं।
दैदीप्यमान नहिं 'केवलज्ञान' पाया,
हे वीर देव। हमने दुःख ही उठाया।।६६।।

अर्थ- निश्चय से यह असुरों और सुरों की पर्याय कुतप में लीन तपस्वियों के द्वारा प्राप्त की हैं परन्तु हे नर और देवदानवों से संस्तुत भगवन् ! वे आत्मोत्थ एवं देदीप्यमान केवलज्ञानादि लक्ष्मियां उनके द्वारा प्राप्त नहीं की गई।।६६।।

किं जितानङ्ग ! ते न ! मते मतं मतं वितानं गतेन।
श्रीरिता नं गतेन नेति कमभजताऽनङ्ग ! तेन।।

जितानङ्ग ! अनङ्ग ! न ! नं गतेन तेन कम् अभजता
श्रीः न इता मतं वितानं गते ते मते किम् इति- न मतम् ?

''सानन्द यद्यपि सदा जिन नाम लेते,
योगी तथापि न निजातम देख लेते।
तो वे उन्हें शिवरमा मिलती नहीं है,''
तेरा जिनेश ! मत ईदृश क्या नहीं है ? ।।६७।।

अर्थ– हे मदनविजयी ! हे अशरीर ! (शरीर सम्बन्धी राग से रहित) हे जिन ! जिनदेव को प्राप्त होकर भी जो आत्मा की आराधना नहीं करता है–आत्मा के ज्ञायक स्वभाव की ओर दृष्टि नहीं देता है उसे केवलज्ञानरूप लक्ष्मी प्राप्त नही होती । इस प्रकार समादृत विस्तारको प्राप्त हुए आपके मत में क्या नहीं माना गया है?।।६७।।

मोहतमः समुदायवृतमानस ! के कुरू वास मुदायः ।
यदिति भवेत् स मुदा यः प्राह परो यतिसमुदायः ।।

मोहतमः–समुदायवृतमानस ! के वासं कुरू। यत् उदायः भवेत्
इति:यः परः च सः यतिसमुदायः मुदा प्राह ।

अत्यन्त मोह-तम में कुछ ना दिखेगा,
तू आत्म में रह, प्रकाश वहां मिलेगा।
स्वादिष्ट मोक्ष-फल वो फलतः फलेगा,
उद्दीप्त दीपक सदैव अहो! जलेगा।।६८।।

अर्थ– मोहरूपी अन्धकार के समूह से जिसका मन घिरा है, ऐसे हे श्रमण ! 'तू आत्मारूपी प्रकाश में निवास कर जिससे तेरा ऊर्ध्वगमन–मोक्षप्राप्ति के लिये प्रयत्न हो सके' ऐसा जो श्रेष्ठ मुनिसमूह है, उसने हर्ष से कहा है।।६८।।

न मनोऽन्यत् सदा नय दृशा सह तत्वसप्तकं सदानय ।
यदि न त्रासदाऽनयः पन्थास्ते स्वरसदा न यः।।

मनः सदा अन्यत् न नय । सत् तत्वसप्तकं दृशा सह आनय ।
यदि (एवं) न, (तर्हि) ते यः पन्थाः (सः) त्रासदा, अनयः स्वरसदा (अपि) न ।

तू चाहता विषय में मन ना भुलाना,
तो सात तत्व-अनुचिन्तन में लगा ना !
ऐसा न हो, कुपथ से सुख क्यों मिलेगा ?
आत्मानुभूति झरना फिर क्यों झरेगा ? ।।६६।।

अर्थ– हे श्रमण ! मन सदा अन्यत्र न ले जा, सम्यग्दर्शन के साथ श्रेष्ठ साततत्वों में ला । यदि ऐसा नहीं करता है तो मेरा मार्ग दुःखदायक तथा कल्याणकारक विधि से रहित होगा एवं आत्मानुभव को देने वाला नहीं होगा ।।६६।।

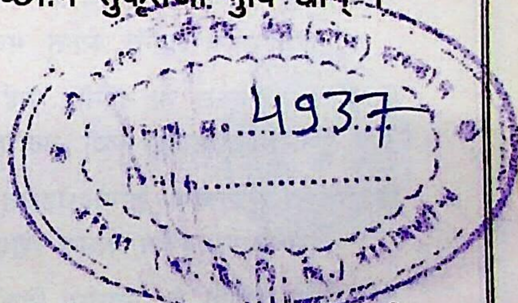
अतिलघौ लघुधियि मयि त्यक्तकरणविषयेऽये समतामयि !
कुरु कृपा करूणामयि! विशुद्धचेतने ! सुधामयि ! ।।

अये ! सुधामयि ! करूणामयि ! समतामयि ! विशुद्धचेतने !
लघुधियि त्यक्तकरणविषये अतिलघौमयि कृपां कुरु।

हूँ बाल, मन्द-मति हूँ, लघु हूँ, यमी हूँ,
मैं राग की कर रहा क्रम से कमी हूँ।
हे चेतने ! सुखद-शान्ति-सुधा पिला दे,
माता ! मुझे कर कृपा मुझमें मिला दे।।१००।।

अर्थ– हे समतामयी ! हे करूणामयि ! हे सुधामयि ! हे विशुद्धचेतने ! मुझ अल्पबुद्धि संयमी पर दया करो । मुझे विशुद्ध चेतनामय बनाओ ।।१००।।

वै विषमयीमविद्यां विहाय 'ज्ञानसागरजां' विद्याम् ।
सुधामेम्यात्मविद्यां नेच्छामि सुकृतजां भुवि द्याम् ।



आत्मवित् (अहम्) वै विषमयीम् अविद्यां विहास ज्ञानसागरजां सुधां विद्याम् एमि।
सुकृतजां यां कृतजां यां द्यां भुवि न इच्छामि ।

चाहूं कभी न दिवि को अयि वीर स्वामी !
पीउँ सुधा रस निजीय, बनूँ न कामी।
पा 'ज्ञानसागर' सुमन्थन से सुविद्या,
'विद्यादिसागर' बनूँ, तज दूँ अविद्या।।१०१।।

अर्थ– मैं आत्मज्ञ, निश्चय से विषमयी अविद्या को छोड़कर ज्ञानरूप सागर में उत्पन्न गुरू ज्ञानसागर जी से प्राप्त आत्मविद्या को प्राप्त होता हूँ। पुण्य से प्राप्त होने वाला जो द्यौ – स्वर्ग है, उसे नहीं चाहता हूं।।१०१।।

विभावतः सुदूराणां, सन्ततिर्जयतात् तराम्।
द्यामेत्य पुनरागत्य, स्वानुभूतेः शिवं व्रजेत।।१।।

साधुता सा पदं ह्योत, भूपतौ च जने-जने।
गवि सर्वत्र शान्तिः स्यात्, मदीया भावना सदा।।२।।

रेपवृत्तिं परित्यज्य, ना नवनीत मार्दवम्।
णलाभायं भजेद् भव्यो, भक्त्या साकं भृशं सदा।।३।।

विद्याब्धिना सुशिष्येण, ज्ञानोदधेरलङ्कृतम्।
रसेनाध्यात्मपूर्णेन, शतकं शिवदं शुभम्।।४।।

चित्ताकर्षि तथापि ज्ञैः, पठनीयं विशोध्य तैः।
तं मन्ये पण्डितं योऽत्रं, गुणान्वेषी भवेद् भवे।।५।।

क-गुप्ति-खोपयोगेऽदः, संवत्सरे च विक्रमे।
वैशाखपूर्णिमामीत्वेतीमामितिमिति गतम्।।६।।

मंगल कामना

यही प्रार्थना वीर से, अनुनय से कर जोर।
हरी भरी दिखती रहे, धरती चारों ओर।।१।।

विषय कषाय तजो भजो, जरा निर्जरा धार।
ध्याओ निज को तो मिले, अजरामर पद सार।।२।।

सागर वो कचना तजे, समझ उसे निस्सार।
गलती करता क्यों भला, तू अघ को उर धार।।३।।

रवि सम पर उपकार में, रहो विलीन सदैव।
विश्व शान्ति वरना नहीं, यों कहते निजदेव।।४

रग-रग से करुणा झरे दुखीजनों को देख।
चिर रिपु लख ना नयन में, चिता रुधिर की रेखा।।५।।

तन-मन-धन से तुम सभी, पर का दुःख निवार।
शम-दम-यम युत हो सदा, निज में करो विहार।।६।।

तरणि ज्ञानसागर गुरो ! तारो मुझे ऋषीश।
करुणाकर ! करुणा करो, कर से दो आशीर्ष।।७।।



निरंजन - शतकम्



सविनयं ह्यभिनम्य निरंजनम्, नतिमितं नृसुरैर्मुनिरंजनम्।
भवलयाय करोमि समासतः, स्तुतिमिमां च मुदात्र समा सतः।।

अत्र मुनिरंजनम् नृसुरैः नतिम् इतम् निरंजनम् सविनयम् हि (अहं) अभिनम्य
मुदा रामा सतः (निरंजनस्य) इमां स्तुतिम् च समासतः भवलयाय करोमि।

सन्तों नमस्कृत सुरों बुध मानवों से,
ये हैं जिनेश्वर नमूं मन वाक्तनों से।
पश्चात् करूँ स्तुति निरंजन की निराली,
मेरा प्रयोजन यही कि मिटे भवाली।।१।।

अर्थ– इस जगत् में (मैं विद्यासागर) मनुष्यों और देवों के द्वारा स्तुत तथा मुनियों को प्रमुदित करने वाले, कर्मकालिमा से रहित सिद्ध परमात्मा को विनयपूर्वक नमस्कार कर अपना संसार–परिभ्रमण नष्ट करने के लिए हर्ष सहित उन निरञ्जन – जिनेश्वर अथवा सिद्ध परमेष्ठी की संक्षेप से इस स्तुति को करता हूं।।१।।

निजरुचा स्फुरते भवतेऽयते, गुणगणं गणनातिगकं यते!
विदितविश्व ! विदा विजितायते ! ननु नमस्तत एष जिनायते।।

विदितविश्व ! विदा विजितायते ! यते ! निजरुचा स्फुरते गणनातिगकं गुणगणं
अयते ननु नमः ततः एषः (अहम् स्तुतिकर्त्ता विद्यासागरः) जिनायते।।

स्वामी ! अनन्त-गुण-धाम बने हुए हो,
शोभायमान निज की द्युति से हुए हो।
मृत्युंजयी सकल-विघ्न विभावनाशी,
वदूँ तुम्हें, जिन बनूँ सकलावभाशी(षी)।।२।।

अर्थ – जिन्होंने समस्त पदार्थों को जान लिया है, जिन्होंने ज्ञान के द्वारा अपने भविष्य को विजित किया है तथा जो महामुनीन्द्र हैं, ऐसे हे जिनेन्द्र ! अपरिमित गुण समूह को प्राप्त करने वाले आपके लिये मेरा निश्चय से नमस्कार है। इस नमस्कार से मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि मैं जिन के समान हो गया हूँ आपके स्तवन से मैं जिन बनूँगा, इसमें संशय नहीं है।।२।।

परपदं ह्यपदं विपदास्पदं, निजपदं नि पदं च निरापदम्।
इति जगाद जनाब्जरविर्भवान्, ह्यनुभवन् स्वभवान् भववैभवान्।।

विपदास्पदम् अपदम् हि परपदम्। निरापदम् निजपदम् नि (निश्चयेन) पदम् च।
इति स्वभवान् भववैभवान् हि अनुभवन् जनाब्जरविःभवान् जगाद।

सच्चा निजी पद निरापद सम्पदा है,
तो दूसरा पद घृणास्पद आपदा है।
हे ! भव्यकंजरवि ! यों तुमने बताया,
शुद्धात्म से प्रभव वैभवभाव पाया।।३।।

अर्थ – निश्चयतः आत्मस्वभाव से भिन्न – अन्यपद विपदाओं के स्थान हैं, अतएव अपद–अरक्षक हैं और आत्मस्वभावरूप निजपद विपदाओं से रहित तथा आत्मरमण का स्थान है। परमार्थ से स्वोत्पन्न सांसारिक वैभवों का अनुभव करते तथा जनरूपी कमलों को विकसित – प्रफुल्लित करने के लिये सूर्यस्वरूप आपने, ऐसा स्पष्ट कहा है।।३।।

पदयुगं शिवदं नु शमीह ते, श्रयतु चेत्स्वपदं स समीहते।
अधनिनो धनिनं हि धनाप्यते, किमु भजंति न लब्धधनाप्त ! ये।।

हे लब्धधन ! आप्त ! चेत् शमी स्वपदम् समीहते (तर्हि) न नु ते शिवदम् पदयुगं श्रयतु। इह (जगति) ये अधनिनः धनाप्यते किमु धनिनम् न भजन्ति? (भजन्त्येवेति)।

जो चाहता शिव सुखास्पद सम्पदा है,
वो पूजता तव पदाम्बुज सर्वदा है।
पाना जिसे कि धन है अयि 'वीर' देवा !
क्या निर्धनी धनिक की करता न सेवा?।।४।।

अर्थ – हे आत्मधन को प्राप्त करने वाले अरहन्तदेव ! इस जगत् में यदि शान्त स्वभाव वाला जन सुखस्वरूप स्वपद शुद्धात्मतत्त्व को प्राप्त करना चाहता है तो वह मोक्षदायक अथवा कल्याणप्रदाता आपके चरणयुगल की सेवा करे। क्योंकि इस जगत् में जो निर्धन मनुष्य हैं, वे धन प्राप्ति के लिये क्या धनिकपुरुष की सेवा नहीं करते? अर्थात् अवश्य करते हैं।।४।।

यदसि सत्यशिवोऽसि सदा हितः, तव मदो महसा हि स दाहितः।
गतगतिः सगतिर्गतसंमतिः, मम मतेः सुगतिर्भुवि सन्मतिः।।

हे विभो ! तव महसा हि स मदः दाहितः यत् सत्यशिवः असि। (अतः) भुवि सदा हितः असि।
गतगतिः सगतिः गतसंमतिः सन्मतिः (अपि असि) (ततः) मम मतेः सुगतिः (त्वमेव असि)।

सत् तेज से मदन को तुमने जलाया,
अन्वर्थ नाम फलरूप "महेश" पाया।
नीराग हो अमति सन्मति विज्ञ प्यारे,
स्वामी मदीय मन को तुम ही सहारे।।५।।

अर्थ – यतश्च आपके तेज के द्वारा वह मद–गर्व अथवा मदन दग्धकर दिया गया। अतः तुम्हीं सत्यशिवरूप हो और तुम्हीं सदा हितरूप हो यतश्च आप गतगति चतुर्गति रूप परिभ्रमण से रहित हो, सगति – मोक्षरूप गति से सहित और गतसंमति समीचीन मति से सहित हैं।।५।।

नयनयुग्मनिभेन नयद्वयम्, समयनिश्चयहेतु न ! यद्वयम्।
कलयतीति तदाशयवेदका, निजमयाम इव व्यपवेदकाः।।

हे न ! (तव) नयद्वयम् नयनयुग्म निभेन समय निश्चय हेतु इति कलयति !
यत् वयम् तत् आशयवेदकाः निजम् व्यपवेदकाः इव अयामः।

हें ! देव दो नयन के मिस से तुम्हारे,
हैं वस्तु को समझने नय मुख्य प्यारे।
यों जान, मान, हम लें उनका सहारा,
पावें अवश्य भवसागर का किनारा।।६।।

अर्थ – हे जिनेन्द्र ! आपके निश्चय व्यवहारनयों का युगल, नेत्रयुगल के समान समय–आगम अथवा द्रव्यपर्यायात्मक पदार्थ के निश्चय का कारण है, ऐसा जान उसके अभिप्राय को जानते हुये हम वेदरहित पुरुष–अखण्डब्रह्मचारी के समान स्वकीय स्वभाव को प्राप्त होते हैं।।६।।

अधिपतौ निजचिद्विमलक्षितेः, व्यय-भव-ध्रुव-लक्षण-लक्षिते।
मयि निरामयकः सहसा गरेऽवतरतीव शशी किल सागरे।।

निजचिद् विमलक्षितेः अधिपतौ व्ययभवध्रुव लक्षणलक्षितो मयि गरे निरामयकः
भवान् किल सहसा सागरे शशी इव अवतरति !

उत्पाद ध्रौव्य व्यय भाव सुधारता हूँ,
चैतन्यरूप वसुधातल पालता हूँ।
पाते प्रवेश मुझमें तुम हो इसी से,
स्वामी ! यहाँ अमित सागर में शशी से ।।७।।

अर्थ – जो स्वकीय चेतनारूपी निर्मलभूमि का स्वामी है तथा उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यरूप लक्षण से राहित है ऐसे मुझमें, विष के बीच नीरोग रहने वाले आप समुद्र में चन्द्रमा के समान सहसा अवतीर्ण हुए हैं।।७।।

स्तुतिरियं तव येन विधीयते, तमुभयावयतो न विधी यते !।
गजगणोऽपि गुरुर्गजवैरिणम्, नखबलैः किमटेद् विभवैरिनम्।।

हे यते ! येन (धीमता मुनिना) तव इयम् स्तुतिः विधीयते तं उभयौ विधी (द्रव्यभावमयौ) न अयतः नखबलैः विभवैः इनम् गजवैरिणम् गुरुः गजगणः अपि किम् अटेत्? (नकदापि इति)।

जो आपमें निरत है सुख लाभ लेने,
आते न पास उसके विधि कष्ट देने।
क्या सिंह के निकट भी गज झुण्ड जाता ?
जाके उसे भय दिखाकर क्या सताता ?।।८।।

अर्थ – हे यतीन्द्र ! जिस बुद्धिमान् के द्वारा आपकी यह स्तुति की जाती है, उसके पास दोनों प्रकार के कर्म नहीं जाते हैं। क्या हाथियों का समूह स्थूल होने पर भी अपने नखबल के वैभव से वनराज सिंह के सामने जाता है ? अर्थात् नहीं जाता।।८।।

निगदितुं महिमा ननु पार्यते, सुगत ! केन मनो ! मुनिपार्य ते।
वदति विश्वनुता भुवि शारदा, गणधरा अपि तत्र विशारदाः।।

हे आर्य ! मुनिप ! मनो ! ते महिमा ननु केन निगदितुं पार्यते (इति) भुवि विश्वनुता शारदा वदति तत्र विशारदाः गणधराः अपि (वदन्ति)।

हे ! शुद्ध ! बुद्ध ! मुनिपालक ! बोधधारी !
है कौन सक्षम कहे महिमा तुम्हारी?
ऐसा स्वयं कह रही तुम भारती है,
शास्त्रज्ञ पूज्य गणनायक भी व्रती हैं।।६।।

अर्थ – हे बुद्ध ! हे मनुरूप ! हे मुनिपालक–मुनिश्रेष्ठ ! हे आर्य ! हे पूज्य ! निश्चय से आपकी महिमा किसके द्वारा कही जा सकती है? अर्थात् किसी के द्वारा नही। पृथिवी पर सब के द्वारा स्तुत सारस्वती ऐसा कहती है और स्तुतिविद्या में निपुण गणधर भी ऐसा ही कहते हैं।।६।।

निजनिधेर्न्लियेन सताऽतनो-, र्मतिगता वमता ममता तनोः।
कनकता फलतो ह्युदिता तनौ, यदसि, मोहतमः सविताऽतनो !।।

हे अतनो ! अतनोः निजनिधेः निलयेन मतिमता सता तनोः ममता वमता।
फलतः तनौ कनकता हि उदिता। यत् (यस्मात्) मोहतमः सविता असि।

है आपने स्वतन की ममता मिटादी,
सच्चेतना सहज से निज में बिठादी।
लो ! देह में इसलिये कनकाभ जागी,
मोहान्धकार विघटा, निज ज्योति जागी।।१०।।

अर्थ – हे अतनो ! हे अशरीर ! यतश्च आप विशाल आत्मराम्पदा के आधार हैं, यतश्च स्वपरभेदविज्ञानी होकर आपने शरीर सम्बन्धी ममताओं को दूर किया है और यतश्च आपके शरीर में सुवर्ण जैसी आभा प्रकट हुई है अतः आप मोहरूपी तिमिर को नष्ट करने के लिये सूर्यतुल्य हैं।।१०।।

जिनपदौ शरणौ त्वपि कौ कलौ, कमलकोमलकौ विमलौ कलौ।
जनजलोद्भवरात्र्यहितौ हितौ, मयि मयाद्य हितौ महितौ हि तौ।।

हे (जिन !) तौ जनजलोद्भव--रात्र्यहितौ विमलौ कलौ कमलकोमलकौ मया महितौ हि मयि हितौ अद्य अपि कौ कलौ जिनपदौ शरणौ (इति आनन्दसूचिका)।

श्रीपाद ये कमल-कोमल लोक में हैं,
ये ही यहाँ शरण पंचम काल में हैं।
है भव्य कंज खिलता, इन दर्श पाता,
पूजूँ अतः हृदय में इन को बिठाता।।११।।

अर्थ – हे जिन ! जो भव्यजनरूपी कमलों को विकसित करने के लिये सूर्य स्वरूप हैं, कमल के समान कोमल हैं, निर्मल हैं, मनोहर हैं, हितकारी हैं और मेरे द्वारा पूजित होकर अपने हृदय में विराजमान किये गये हैं, ऐसे जिनेन्द्रचरण ही पंचमकाल में पृथिवी पर परमार्थ से शरणभूत हैं – रक्षक हैं।।११।।

सुरसयोगमितं यदयोगतं, कनकतां शिवमेष अयोगतः।
इति भवान् क्व रसः क्व मनो चिता, तदुपमा सहसा सह नोचिता।।

गनः ! सुररायोगम् इताम् यत् अयः कनकताम् गतम् ! एष (स्तुतिकर्त्ता तु) अयोगतः शिवम् (गतः) ततः भवान् क्व रसः क्व इति (मत्त्वा) चिता सह (भवताराह) तदुपमा सहसा न उचिता।

लोहा बने कनक पारस संग पाके,
मैं शुद्ध किन्तु तमसा तुम संग पाके।
वो तो रहा जड़, रहे तुम चेतना हो,
कैसा तुम्हें जड़ तुला पर तोलना हो?।।१२।।

अर्थ – यंतश्च लोहा समीचीन रसायन का संयोग पाकर सुवर्णता को प्राप्त हो गया परन्तु यह स्तुतिकर्ता आपके प्रभाव से रसायन के सम्बन्ध के बिना ही (पक्ष में – योगरहित अवस्था से) शिव कल्याणरूपता स्वर्णरूपता (पक्ष में मोक्ष) को प्राप्त हो गया। इस तरह आप कहाँ? और रसायन कहाँ? दोनों में बड़ा अन्तर है। आप चैतन्यरूप हैं और रसायन जडरूप है। अतः चैतन्यरूप के साथ अचेतन रस की उपमा बिना विचार किये देना उचित नहीं।।१२।।

जिनगतस्त्वयि योऽपि मुदालयं, स्वमयते सह स स्वविदालयम्।
गुणकुलैरतुलैर्ननु संकुलम्, कलकलं विकलय्य भृशं कुलम्।।

हे अयि जिन ! त्वयि यो मुदा लयम् गतः ननु स स्वविदा सह कुलम् भृशम्
विकलय्य अतुलैः गुणकुलैः संकुलम् कलकलम् स्वम् आलयम् अयते।

आनन्द भव्य तुम में लवलीन होता
पाता स्वधाम सुख का, गुणधाम होता।
औ देह त्याग कर आत्मिक वीर्य पाता,
संसार में फिर कभी नहिं लौट आता।।१३।।

अर्थ – हे जिन ! जो भी पुरुष हर्ष से आप में लीनता को प्राप्त होता है वह आत्मज्ञान के साथ शरीर को अत्यन्त पृथक् कर अनुपम गुणसमूहों से व्याप्त एवं मनोहर कलाओं से युक्त स्वकीय गृह को प्राप्त होता है।।१३।।

असितकोटिमिता अमिताः तके, नहि कचा अभिलास्तव तात ! के।
वरतपोऽनलतो बहिरागता, सघनधूम्रमिषेण हि रागता।।

हे तात ! तव के (मस्तके) तके (ते एव तके) अमिताः असितकोटिम् इताः अलिभाः कचाः नहि (सन्ति) (किन्तु) वरतपोऽनलतः सघनधूम्रमिषेण रागता हि बहिःआगता (इति मन्ये)!

काले घने भ्रमर से शिर में तुम्हारे,
ये केश हैं नहि विभो ! जिन देव प्यारे।
ध्यानाग्नि से स्वयम को तुमने जलाया,
लो ! सान्ध धूम्र मिस बाहर राग आया।।१४।।

अर्थ – हे पूज्य ! आपके शिर पर वे अपरिमित काले केश नहीं है किन्तु उत्कृष्ट ध्यानरूप अग्नि से उठे हुए धूम के बहाने भीतर की रागपरिणति बाहर आयी है।।१४।।

अयशसां रजसां वपुषाकरः, तव जितो महसा स निशाकरः।
जिन!रतोऽत्र ततोऽप्यमहानये, नखमिषेण पदे ह्यघहानये।।

अये ! जिन । अयशसां रजसां वपुषा आकरः स निशाकरः तव महसा जितः ततः
(स) अमहान् (त्व) पदे अत्र नखमिषेण हि अघहानये रतः।

लो ! आपके सुभग-सौम्य-शरीर द्वारा
दोषी शशी अयशधाम नितान्त हारा।
वो आपके चरण की नख के बहाने,
सेवा तभी कर रहा यश कान्ति पाने।।१५।।

अर्थ – हे जिनदेव ! वह चन्द्रमा, जो कि शरीर के द्वारा अपयशरूपी मलिन धूलि की खान हो रहा है, आपके तेज से पराजित हो अमहान् – तुच्छ बन गया, इसीलिये वह इस जगत् में पापों को नष्ट करने के लिये नखों के बहाने (सपरिवार) आपके चरणों में आ पडा है।।१५।।

विधिनिशा किल संव्रियतेऽनया, कवितया विभयाभय तेऽनया।
किमुदितेऽप्यरुणे ह्यरुणे यते !, स्थितिरितिं तमसो न मुनेऽयते।।

हे मुने ! अभय ! यते ! ते अनया कवितया विभया किल अनया विधिनिशा संव्रियते (उचितमेव) अरुणे अपि अरुणे उदिते हि तमसः स्थितिः इतिम् किं न अयते (अवश्यमेवेति)।

लो आपकी सुखकरी कविता विभा से,
मोहान्धकार मिटता अविलम्बता से।
ज्योतिर्मयी अरुण है जब जाग जाता,
कैसे कहूँ कि तम है कब भाग जाता ?।।१६।।

अर्थ – हे मनु ! हे निर्भय ! हे यते ! आपकी इस कवितारूपी विभा–प्रभा से अनय – नयरहित दुष्कर्म रूपी रात्रि संवृत हो जाती है--समाप्त हो जाती है, यह उचित ही है क्योंकि प्रातःकाल की लाल–लाली के प्रकट होने पर क्या अन्धकार की स्थिति विनाश को प्राप्त नहीं होती? अवश्य होती है।।१६।।

असुषमां सुषमाममितां मनोः, ममपिबत् तृषितं हि मितान्मनो।
स्वरससेवनमेव वरं भवे, - दिति समीक्ष्य जगाद विभुर्भवे।।

(हे जिन !) मनोः अमितां असुषमां सुषमां मम मनः पिबत् (अपि) हि मितात् तृषितम्।
इति समीक्ष्य विभुः भवे स्वरससेवनं एव वरम् भवेत् इति जगाद।

सौंदर्य पान कर भी मुख का तुम्हारे,
प्यासा रहा मन तभी, तुम यों पुकारे।
पीयूष पी निज, तृषा यदि है बुझाना,
बेटा ! तुझे सहज शाश्वत शांति पाना।।१७।।

अर्थ – हे जिन ! मनुस्वरूप आपकी लोकोत्तर–सर्वश्रेष्ठ एवं अपरिमित शोभा का पान करता हुआ भी मेरा मन सीमित होने के कारण तृषित–प्यारा–असंतुष्ट रहा है। अर्थात् बाह्य शोभा को देखकर मन संतुष्ट नहीं होता। ऐसा विचार कर आपने कहा कि जगत् में आत्मरस–स्वस्वभाव की आराधना करना ही श्रेष्ठ है।।१७।।

त्वदधरस्मितवीचिसुलीलया, विदितमेव सतां सह लीलया।
त्वयि मुदम्बुधिर्हि नटायते, अहमिति प्रणतोऽप्यपटायते।।

(हे विभो!) त्वयि मुदम्बुनिधिः हि नटायते। (यतः) त्वदधरस्मितवीचि सुलीलया सतां सह लीलया विदितम् एव (अतः) ते अपटाय अहम् अपि प्रणतः (अस्मि) इति।

मूँगे समा अधर पे स्मित सौम्य रेखा,
है प्रेम से कह रही मुझ को सुरेखा।
आनन्द वार्धि तुम में लहरा रहा है,
पूजूँ तुम्हें, बन दिगम्बर, भा रहा है।।१८।।

अर्थ – हे भगवन् ! आपके अधरोष्ठ सम्बन्धी मन्द मुस्कानों की सुन्दर लीला से ही सत्पुरुषों को यह अनायास विदित हो गया है कि आप में आनन्द का सागर लहरा रहा है इसलिये मैं भी निर्ग्रन्थमुद्रा का धारक आपके लिये प्रणत हूँ – नमस्कार करता हूँ।।१८।।

सति तिरस्कृतभास्करलोहिते, महसि ते जिन ! वि:सकलो हिते।
अणुरिवात्र विभो ! किमु देव ! न ! वियति भं प्रतिभाति तदेव न।।

हे जिन ! देव ! विभो ! न ! ते अत्र तिरस्कृतभास्करलोहिते, हिते सति, महसि सकलः वि: अणुः इव प्रतिभाति भं तदेव वियति (अणुः इव) किमु न प्रतिभाति?)।

नक्षत्र है गगन के इक कोन में ज्यों,
आकाश है दिख रहा तुम बोध में त्यों।
ऐसी अलौकिक विभा तुम ज्ञान की है,
मन्दातिमन्द पड़ती द्युति भानु की है।।१६।।

अर्थ – हे जिनदेव ! हे विभो ! हे पूज्य ! इस पृथिवी पर सूर्य के प्रकाश को तिरस्कृत करने वाले आपके केवलज्ञानरूप तेज में सम्पूर्ण आकाश अणु के समान प्रतिभासित होता है। ठीक ही है क्योंकि अनन्त आकाश में एक नक्षत्र क्या अणु के समान नहीं जान पड़ता?।।१६।।

त्वयि जगद् युगपन्मुनिरंजने, लयमुपैति भवं च निरंजने।
परममानसुमेयतया तया, सरसिवीचिवदेव न वार्तया।।

(गुरो !) त्वयि मुनिरजने निरंजने जगत् युगपत् लय भवं च (ध्रुवता च)
तया परममानसुमेयतया उपैति। न वार्तया सरसि वीचिवत् एव।

है एक साथ तुममें यह विश्व सारा,
उत्पन्न हो मिट रहा ध्रुव भाव धारा।
कल्लोल के सम सरोवर में न स्वामी!
पै ज्ञेय ज्ञायकतया, शिवपंथगामी।।२०।।

अर्थ – मुनिजनों को आनन्द देने वाले तथा कर्मकालिमा से रहित आप में यह जगत् एक ही साथ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को उस प्रकार प्राप्त हो रहा है जिस प्रकार कि सरोवर की तरङ्ग। जगत् प्रसिद्ध ज्ञेयज्ञायकभाव की अपेक्षा यह सब यथार्थ में हो रहा है, कहने मात्र की अपेक्षा नहीं।।२०।।

सुखमजं न भजन्नपि दीदिवि,- र्भजति तावदहोऽतनुधीर्दिवि।
मुनिरयं तनुधीरपि रागत,- स्त्वयि च यावदके गतरागतः।।

(हे जिन !) दिवि अतनुधीः दीदिविः अजं (त्वाम) भजन् अपि अहो तावत् सुखम् न भजते।
त्वयि रागतः तनुधीः अपि अयम् मुनिः (ग्रन्थकर्ता) अके गतरागतः च यावत ! (सुखम्) भजति।

मैं रागत्याग तुझमें अनुराग लाके,
होता सुखी कि जितना लघु ज्ञान पाके।
तेरी बृहस्पति सुभक्ति करें, तथापि,
हो स्वर्ग में नहिं सुखी उतना कदापि ।।२१।।

अर्थ--हे जिनेन्द्र ! स्वर्ग में आपकी आराधना करने वाला विशाल बुद्धि का धारक बृहस्पति उतने सुख को प्राप्त नहीं होता, जितने सुख को पर वस्तुओं मे राग रहित मुनि अल्पबुद्धि होकर भी आप में राग होने तथा अक–अनात्म पदार्थ में रागरहित होने से प्राप्त होता है।।२१।।

स्पृशति ते वदनं च मनोहरं, तव समं मम भाति मनो हर !
समुपयोग पयो ह्यपयोग तन्ननु भवेन्न पयोऽपि पयोगतम्।।

हे अपयोग ! समुपयोग ! हर ! ते मनोहरं वदनं च मम मनः (यदा) स्पृशति (तदा) तव सामम् हि भाति ! तत ! पयोगतम् पयः अपिः पयः ननु न भवते (भवेदित्यर्थः)।

ज्यों ही मदीय मन है तव स्पर्श पाता,
त्यों ही त्वदीय सम भासुर हो सुहाता।
रागी विराग बनता तव संघ में हैं।
लो ! नीर, दूध बनता गिर दूध में है।।२२।।

अर्थ—हे अपयोग ! मन, वचन और काय की प्रवृत्ति से रहित ! हे समुपयोग ! ज्ञानदर्शन रूप समीचीन उपयोगों से सहित, हे हर ! हे जिनेन्द्र ! जब मेरा मन आपके मनोहर वदन—मुख का स्पर्श करता है—आपके वैराग्यपूर्ण मुखमुद्रा का ध्यान करता है तब वह आपके समान वैराग्यपूर्ण हो जाता है। ठीक ही है क्योंकि दूध में मिला हुआ पानी क्या दूध या दूध के समान नहीं हो जाता ? अवश्य हो जाता है।।२२।।

असि शशी सितशीतसुधाकरैः, स्वगतशुद्धगुणैश्च सदा करैः।
यदि न दृक्सलिलं समभावि भो ! मम मनोमणितो न झरेद्विभो ! ।।

भो ! विभो ! (त्वम्) सितशीतसुधाकरैः स्वगतशुद्धगुणैः करैः च सदा शशी असि !
यदि न (असि तर्हि) मम मनोभणितः समभावि दृक्सलिलं न झरेत्।

मानूँ तुम्हें तुम शशी तम में भरी हैं,
सच्ची सुधा गुणमयी मन को हरी है।
ऐसा न हो, मम मनोमणि से भला यों,
सम्यक्त्वरूप झरना, झर है रहा क्यों ?।।२३।।

अर्थ–हे विभो ! आप उज्ज्वल–शान्तिदायी सुधा के खान स्वकीय शुद्धगुणरूप किरणों से सदा चंद्रमारूप हैं। यदि ऐसा नहीं है तो मेरे मनरूपी चंद्रकान्तमणि से तत्काल सम्यग्दर्शनरूप जल न झरता।

विमदवञ्चितविश्वमकं पते ! सुमन एति न भूभृदकंप ! ते।
निजपदं ह्यय एव विभावत-,स्त्यजति नो कनकं भुवि भावतः।।

हे पते ! भूभृदकंप ! ते सुमनः अकम् न एति। विमदर्वाचेतविश्वम् तु (एति) (उचितमेव) अयः एव विभावतः निजपदम् त्यजति(किन्तु) भुवि कनकं (निजपदम्) नो (त्यजति)।

सम्मोह से भ्रमित हो जग पाप पाता,
पै आपका मन नहीं अघ ताप पाता।
लोहा स्वभाव तजता जब जंग खाता,
हो पंक में कनक पै सब को सुहाता।।२४।।

अर्थ– हे पर्वत के समान अकम्प रहने वाले प्रभो ! आपका प्रशस्त हृदय अक–पाप को नहीं प्राप्त होता किन्तु विविध प्रकार के मदों से प्रसारित जगत् अक को प्राप्त होता है। यह उचित ही है क्योंकि पृथ्वी पर विरुद्ध परिणमन के कारण लोहा ही अपने स्वभाव को छोडता है, स्वर्ण नहीं।

अलि शुचिश्च शशीव सुकेवली, गमित इत्यपि नो कुधियाऽबली।
असित एव शशी कुदृशा सितः, सदय ! यद्यपि यः सुदृशा शितः।।

हे सदय ! शशी इव शुचिः सुकेवली च असि (तथापि) कुधिया अपि नो इति गमितः (किन्तु) अबली (गमितः) यद्यपि यः शशी सुदृशा शितः (ज्ञातः) (तथापि) कुदृशा असितः एव सितः।

हो केवली तुम बली शुचि शान्त शाला,
ऐसा तुम्हें कब लखे अघ दृष्टि वाला।
हो पीलिया नयन रोग जिसे हमेशा,
पीला शशी नियम से दिखता जिनेशा !।।२५।।

अर्थ–हे कृपालु जिनेन्द्र ! यद्यपि आप चन्द्रमा के समान उज्ज्वल और उत्तम केवलज्ञान से युक्त हैं तथापि कुबुद्धिजन आपको वैसा नहीं मानते। वह आपको अबली–बलहीन मानते हैं। उचित ही है, क्योंकि विकृत नेत्रवाला--पीलिया रोगवाला मनुष्य चन्द्रमा को असित–पीला जानता है, परन्तु निर्विकार नेत्रवाला मनुष्य चन्द्रमा को सित--शुक्ल ही जानता है।।२५।।

मतिरियं भवता मयि भाविता, रुचिमतो भवतीह विभाविता।
जगदिदं क्षणिकं नहि रोचते, गुरुमुखं प्रविहाय गुरो ! च ते।।

हे गुरो ! मयि इयं मतिःभवता अतः इह भवति विभौ च रुचिम् (सा) इता (अतः)
ते गुरुगुखम् प्रविहाय इदम् क्षणिकम् जगत् च नहि रोचते।

ऐसी कृपा यह हुई मुझपे तुम्हारी,
आस्था जगी कि तुममें मम निर्विकारी।
संसार भोग फलतः रुचते नहीं हैं,
प्रत्यक्ष मात्र तुम हो जड़ गौण ही है।।२६।।

अर्थ–हे गुरुदेव ! मुझमें विद्यमान यह बुद्धि यतश्च आपके द्वारा सुसंस्कारित है अतः इस जगत् में एक आप में ही श्रद्धा को प्राप्त हुई है। अब मुझे आपके श्रेष्ठतमगुख को छोड़कर यह नश्वर संसार अच्छा नहीं लगता।।२६।।

सति हृदि त्वयि मेऽत्र विरागता, समुदिता गुणतामितरा गता।
पयसि चेत् सुमणौ न पयोऽङ्ग ! त,-दरुणतां किमु याति नियोगतः।।

हे विभो ! अत्र मे हृदि त्वयि सति विरागता समुदिता इतरा (रागता) गुणतां (इता) गता।
चेत् सुमणौ पयसि (तदा) तत् पयः अरुणताम् किमु नियोगतः न याति(यात्येव)।

स्वामी ! निवास करते मुझमें सुजागा,
आत्मानुराग फलतः पर राग भागा।
लो दूध में जब कि माणिक ही गिरेगा,
क्या लाल लाल तब दूध नहीं बनेगा?।।२७।।

अर्थ–मेरे इस हृदय में आपके विद्यमान रहते हुये विरागता–वीतरागता प्रकट रहती है इससे भिन्न सरागता–अप्रधानता को प्राप्त हो नष्ट हो जाती है। ठीक ही है, यदि दूध में पद्मरागमणि रहता है तो वह दूध क्या नियम से लालिमा को प्राप्त नहीं हो जाता? अवश्य हो जाता है।।२७।।

विगतरागतया स्वमहिंसया, शिवमितोऽसि जगन्नहि हिंसया।
उचितमेव सदोचितसाधनं, भुवि ददाति शुभं सहसा धनम्।।

हे जिन ! विगतरागतया अहिंसया शिवम् ! त्वम् इतः असि। हिंसया तु जगत् (नहि)
(शिवम् इतम्) उचितमेव सदा भुवि उचितसाधनम् शुभं धनं सहसा ददाति।।

वैराग्य से तुम सुखी भज के अहिंसा,
होता दुखी जगत है कर राग हिंसा।
सत् साधना सहज साध्य सदा दिलाती,
दुःसाधना दुखमयी विष ही पिलाती।।२८।।

अर्थ–हे भगवन् ! आप वीतरागतारूप अहिंसा से शिव–मोक्ष अथवा सुख को प्राप्त हुए हैं इसके विपरीत सरागता रूप हिंसा से जगत् शिव–मोक्ष अथवा सुख को प्राप्त नहीं हो रहा है। यह उचित ही है कि पृथ्वी पर योग्य साधन ही सदा इष्ट धन को शीघ्र देता है, अयोग्य साधन नहीं। ।।२८।।

अनुदिनं त्वयि यो रमतेऽञ्जसा, भवित ते स समः समतेजसा।
वपुरदोऽपि जडं परमं। भवेन्ननु तदा चिदियं न भवेद् भवे।।

हे भगवन ! त्वयि यः अनुदिनं रमते स अंजसा समतेजसा (साकं) ते समः भवति। भवे अदः जडं अपि वपुः परमं। भवेत् (तदा) इयं चित्ननु न भवेत् (भवेदित्यर्थः)।

श्रद्धा समेत तुम में रममान होता,
वो ओज तेज तुम सा स्वयमेव ढोता।
काया हि कंचन बने कि अचेतना हो,
आश्चर्य क्या ? द्युतिमयी यदि चेतना हो।।२६।।

अर्थ–हे भगवन् ! जो मनुष्य प्रतिदिन आप में रमण करता है– आपके ध्यान में लीन रहता है वह अनन्तचतुष्टरूप लक्ष्मी से युक्त तेज से आपके समान हो जाता है। उचित ही है, कि जब वह अचेतन शरीर भी आपके सम्पर्क से परम–श्रेष्ठ परमौदारिक बन जाता है तब यह ज्ञानदर्शन सम्पन्न जीव क्या आपके समान नहीं हो सकेगा? अवश्य हो सकेगा।।२६।।

गुणगणैर्गुरुभिश्च समानतः, स्वचितये समगोऽसि समानतः।
सनिजमात्र इवावनये नगः, कुसुमपत्रफलैश्च नयेऽनघः।।

नये अनघः स नगः अवनये निजमात्रे कुसुमपत्रलैः च समानतः इव हे !
देव ! स्वचितये गुरुभिः गुणगणैः समानतः असि। समानतः (हेतौ) समगः(असि)।

जैसा कि वृक्ष फल फूल लदा सुहाता,
माथा, धरा जननि के पद में झुकाता।
ऐसे लगे कि गुण भार लिए हुए हो,
चैतन्यरूप-जननी पद में झुके हो।।३०।।

अर्थ–हे भगवन् ! जिस प्रकार नीति का निर्दोष पालन करने वाला वृक्ष पुष्प, पत्र और फलों से विनत हो अपनी जननी तुल्य पृथिवी के लिए प्रणाम करता है। उसी प्रकार बहुत भारी गुणसमूह से संगत आप गुणसमूह को उत्पन्न करने वाली स्वकीय चेतना को प्रणाम करते से जान पड़ते हैं।।३०।।

नहि रुचिस्तव तां प्रति कांचनप्रकृतभूतिमितोऽपि च काचन।
गणधरैःशमिनस्तव गीयते, न गरिमा ममका तनुगीर्यते !।।

हे यते ! कांचन प्रकृत भूतिम् इतः अपि तव ताम् प्रति काचन रुचिः नहि (अस्ति)।
तव शमिनः गरिमा गणधरैः (अपि) न गीयते (तदा) मम तनुगीः का।

छत्रादि स्वर्णमय वैभव पा लिए हो,
स्वामी ! न किन्तु उनसे चिपके हुए हो।
तेरी अपूर्व गरिमा गणनायकों से,
जाती कही न फिर क्या ? हम बालकों से।।३१।।

अर्थ– हे मुनीन्द्र ! स्वर्णनिर्मित छत्रत्रयादि वैभव को प्राप्त होने पर भी आपकी उस ओर रुचि–प्रीति नहीं है तथा अत्यन्त शान्त रहने वाले आपकी गरिमा–महिमा गणधरों द्वारा भी जब नहीं गायी जाती है तब मेरी अल्पवाणी क्या है? कुछ नहीं।।३१।

विशदविद्वनिता त्वयि तेऽज ! सा, समनुभाति सदाव्ययतेजसा।
शशिनि शीत करैर्निशि वामतः, शशिकलैवमलं व्ययवामतः।।

हे अज ! ते सा विशदविद्वनिता त्वयि सदा अव्ययतेजसा समनुभाति।
(किन्तु) शशिनि शीतकरैः निशि वामतः व्ययवामतः शशिकला एवं अलम् ?

विज्ञानरूप रमणी तुममें शिवाली,
जैसी लसी अमित अव्यय कांतिवाली।
वैसी नहीं शशिकला शशि में, निराली,
अत्यन्त चूँकि कुटिला व्यय-शील-वाली।।३२।।

अर्थ– हे अज ! जन्मातीत जिनेन्द्र ! आपकी वह प्रसिद्ध केवल ज्ञानरूपी रमणी आप में अपने अविनाशी तेज से सदा सुशोभित रहती है। परन्तु रात्रि के समय शीत रश्मियों से उपलक्षित चन्द्रमा मे चन्द्रकला ऐसी नहीं है, क्योंकि वह वाम–मेघ से आच्छादित हो जाती है और भङ्गुर–नश्वर होने से वाम–कुटिलरूप भी है।।३२।।

मुदमुपैमि मुनिर्मुनिभावतो, मुखमुदीक्ष्य विभो ! सुविभावतः।
जलभृतं जलदं जलदाध्वनि किल शिखीव गतं सुगुरुध्वनिम्।।

हे गुरों ! विभो ! जलदाध्वनि सुगुरुध्वनिम् गतम् जलभृतम् किल शिखी इव उदीक्ष्य सुविभावतः मुखम् (अहम् !) मुनिः मुनिभावतः (उदीक्ष्य) मुदम् उपैमि।

देखा विभामय विभो मुख आपका है,
ऐसा मुझे सुख मिला नहिं नाप का है।
जैसा यहाँ गरजता लख मेघ को है,
पाता मयूर सुख भूलत खेद को है।।३३।।

अर्थ–हे विभो ! आकाश में गरजते जलभरे मेघ को देखकर जिस प्रकार मयूर प्रमोद को प्राप्त होता है उसी प्रकार स्तुति करने वाला मैं, मुनि जैसे पवित्रभाव से उत्तमदीप्ति से युक्त आपका मुख देखकर प्रमोद को प्राप्त हो रहा हूँ।।३३।।

विभुरसीह सताम् जिनसंगतः, पृथगसीश सुखीति च संगतः।
ननु तथापि मुनिस्तव संगतः, सुखमहं स्मय एष हि संगतः।।

हे ईश ! जिन ! इह संगतः (सर्वगतत्वात्) सताम् विभुः असि। संगतः पृथक् इति सुखी असि च। तथापि एषः स्मयः हि अहम् ! मुनिः तव संगतः ननु सुखम् ! संगतः।

सर्वज्ञ हो इसलिए विभु हो कहाते,
निस्संग हो इसलिये सुख चैन पाते।
मैं सर्वसंग तजके तुम संग से हूँ,
आश्चर्य आत्म सुख लीन अनंग से हूँ।।३५।।

अर्थ– हे ईश ! हे जिन ! इस जगत् में ज्ञान की अपेक्षा लोकालोक में व्याप्त होने से आप सत्पुरुषों के स्वामी हैं। संगतः परिग्रह अथवा परजनसंपर्क से पृथक् हैं। अतः सुखी हैं। यद्यपि संग से पृथक् होने के कारण आप सुखी हैं, तथापि आपके संग से मैं मुनि आत्मसुख को प्राप्त हुआ हूँ। यह आश्चर्य है।।३४।।

लसति भानुरयं जिनदास ! खे, नयति तापमिदं च सदा सखे !
जितरविर्महसा सुखहेतुकम्, उरसि मेऽस्ति तथात्र न हेतुकम्।।

हे सखे !
जिन दास ! खे अयं भानुःलसाति सदा तापम् इदम् (जगति च) नयति। (किन्तु) अत्र मे उरसि महसाजितरविः सुखहेतुकं अस्ति। तथा तुकम् (मां बालम्) (तापम्)न नयति।

आकाश में उदित हो रवि विश्वतापी,
संतप्त त्रस्त करता जग को प्रतापी।
पै आप कोटि रवि तेज स्वभाव पाये,
बैठे मदीय उर में न मुझे जलाये।।३५।।

अर्थ–हे मित्र ! हे जिनसेवक ! आकाश में जो यह सूर्य सुशोभित हो रहा है वह इस जगत् को संताप प्राप्त कराता है। परन्तु तेज से सूर्य को जीतने वाले जिनेन्द्र, सुख के हेतु हो मेरे इस हृदय में विद्यमान हैं फिर भी सूर्यसदृश आप मुझ बालक को संताप नहीं करते।

सुरनगः सुरगौः सुरवैभवं, सुरपुरे वितनोति च वै भवम्।
भवविमुक्तिसुखं फलमेव च, स्तवनतस्तव साध्विति मे वचः।।

हे ईश ! सुरपुरे सुरनगः सुरगौः च सुरवैभवम् वै भवम् च वितनोति।
(किन्तु) तव स्तवनतः भवविमुक्तिसुखम् फलम् एव इति मे साधु वचः।

वे कामधेनु सुरपादप स्वर्ग में ही,
सीमा लिए दुख घुले सुख दें, विदेही !
पै आपका स्तवन शाश्वत मोक्ष-दाता,
ऐसा वसन्ततिलका यह छन्द गाता।।३६।।

अर्थ—हे भगवन् ! स्वर्ग में जो कल्पवृक्ष, कामधेनु और देवों का ऐश्वर्य है वह निश्चय से संसार को विस्तृत करता है। परन्तु आपके स्तवन से मुक्तिसुखरूपी फल ही प्राप्त होता है, ऐसा मेरा कहना है।।३६।।

सरसि ते स्तवने मम साधुता, शुचिमिता स्नपिता सहसा धुता।
भुवि विभो ! यदिदं मम चेतनं, स्तवनभाग्घि सतां द्युतिकेतनम्।।

हे विभो ! ते स्तवने सरसि मम साधुता शुचिम् इता स्नपिता सहसा धुता (च)
भुवि यत् (यस्मात्) इदम् मम चेतनम् द्युतिकेतनम् सताम् स्तवनभाक् हि (भूतं)।

जो आपकी स्तुति सरोवर में घुली है,
मेरी खरी श्रमणता शुचि हो धुली है।
तो साधु स्तुत्य मम क्यों न सुचेतना हो ?
औ शीघ्र क्यों न कल-केवल-केतना हो?।।३७।।

अर्थ–हे प्रभो ! आपके स्तवनरूप सरोवर में मेरी श्रमणता–मेरी साधुवृत्ति पवित्रता को प्राप्त है, नहलायी गई है और शीघ्र ही धुल चुकी है–उज्ज्वल हो चुकी है। यतश्च मेरा यह चैतन्यभाव केवलज्ञानरूप ज्योति का घर है, अतः निश्चय से सत्पुरुषों के स्तवन को प्राप्त हुआ है।

अिस सदात्मनि वेति मुनीरतः, परमशीतलको हिमनीरतः।
अनलतो निजतां प्रविहायतद्दहति नाज विधेर्विधिहा यतः।।

हे अज ! (त्वम्) सदा आत्मनि रतः असि वा (निश्चयेन) इति मुनिः (असि) हिमनीरतः परम शीतलकः (असि) तत् (नीरम्)अनलतः निजतां प्रविहाय दहति (किन्तु त्वं) यतः विधिहा विधेः (कर्मणः) न दहसि।

तल्लीन नित्य निज में तुम हो खुशी से,
नीरादि से परम शीतल हो इसी से।
पा अग्नि योग जल है जलता जलाता,
कर्माग्नि से तुम नहीं यह साधु गाथा।।३८।।

अर्थ– हे अज ! हे जन्मातीतजिनेन्द्र ! आप सदा आत्मस्वरूप में रत–लीन हो अथवा निश्चय से मुनि हो। बर्फ के पानी से अत्यधिक शीतल हो। वह पानी अग्नि से स्वरूप को– निजीशीतलता को छोड़कर जलाने लगता है, परन्तु आप विधिहा–कर्म को नष्ट करने वाले होने से कर्म से जलते–जलाते नहीं हो।

सुरमणी प्रथमा प्रगुणावलिः, तव परा च शुचिः सुगुणावलिः।
विरमतीव रतिश्च सति त्वयि, त्रिभुवनप्रगताऽपि सती त्वयि !।।

अयि देव ! तव प्रथमा प्रगुणावलिः सुरमणी परा च शुचिः सुगुणावलिः (किन्तु) त्वयि सति रतिः इव (प्रथमा) विरमति (परन्तु) त्रिभुवनप्रगता अपि सती (विरोधः)

लो आपकी रमणि एक गुणावली है,
दूजी सती विषदकीर्तिमयी भली है।
पै एक तो रम रही नित आप में है,
कैसा विरोध यह? एक दिगंत में है ।।३६।।

अर्थ–अये देव ! उत्तमगुणावली आपकी प्रथम सुभार्या है और उज्ज्वलकीर्ति द्वितीय सुभार्या है । इनमें प्रथम सुभार्या तो रति की तरह एक आप में ही विशेषरूप से रमती है, परन्तु द्वितीय सुभार्या त्रिभुवन में जा कर भी सती है। यह कैसा विरोध है?।।३६।।

परिचयात् तव यत्त्वयि मे मनो, विशति शामितवामवमे ! मनो !।
सुरनरै र्मुनिभि र्यशसामिते, नदपतौ नदवत् सहसाऽमिते।।

हे शामितवामवमे ! मनो ! तव परिचयात् सुरनरैः मुनिभिः यशसाम्
इते त्वयि मे यत् मनः सहसा अमिते नदपतौ नदवत् विशति।

देवाधिदेव मुनिवन्द्य कुकाम वैरी,
पाती प्रवेश तुम में मति हर्ष मेरी।
जैसी नदी अमित सागर में समाती,
होती सुखी मिलन से दुख भूल जाती।।४०।।

अर्थ–हे कामाग्नि को शान्त करने वाले भगवन् ! देव, मनुष्य और मुनियों के द्वारा यश को प्राप्त आप में, असीम समुद्र में नदी के समान जो मेरा मन प्रविष्ट हो रहा है वह आपके परिचय–सतत गुणचिंतन से हो रहा है।।४०।।

विकचकंजजयक्षमनेत्रकं, करुणकेसरकं भुवनेऽत्र कम्।
मम सुदृक् सततं सहसेव ते, सरसिजं भ्रमरोऽप्यनुसेवते।।

हे ! भुवनेश्वर ! अत्र भुवने ते करुण–केसर–कं कं विकचकजजयक्षम–
नेत्रकम् मम सुदृक् अपि सहसा सरसिजम् भ्रमरः इव अनुसेवते।

उत्फुल्ल नीरज खिले तुम नेत्र प्यारे,
हैं शोभते करुण केशर पूर्ण धारें।
मेरा वहीं पर अतः मन स्थान पाता,
जैसा सरोज पर जा अलि बैठ जाता।।४१।।

अर्थ–जिसके नेत्र प्रफुल्ल कमल को जीतने में समर्थ हैं तथा जिस पर वृक्ष की केसर के समान केशर सुशोभित है, ऐसे आपके मुख को इस जगत् में मेरी दृष्टि भी निरन्तर सहसा उस तरह सेवित करती है, जिस तरह भ्रमर कमल को सेवित करता है।

विषयसक्तखसामजकन्दरः, कुमदतापित विश्वकंकन्धरः।
विधिवनानलकोसि भयंकरो, भयवते जगते ह्यभयङ्करः।।

हे भगवन ! भयते जगते अभयङ्कर असि ! विषयसक्तखरागमजकन्दरः असि
कुमदतापितविश्वककन्धरः (असि) भयङ्करः विधिवनलकः (असि)।

हैं आप दीनजनरक्षक, साधु माने,
दावा प्रचण्ड विधि कानन को जलाने।
पंचेंद्रि-मत्त-गज-अंकुश हैं सुहाते,
हैं मेघ विश्वमदताप-तृषा बुझाते।।४२।।

अर्थ– हे भगवान् ! आप विषयों में आसक्त इन्द्रियरूपी हाथियों के लिए अंकुश हैं। खोटे मदों से संतापित जगत् के लिए मेघ हैं। कर्मरूपवन को भस्म करने के लिए प्रचण्ड दावानल हैं और भयभीत जगत् के लिए अभय प्रदान करने वाले हैं।।४२।।

गतगतिः सगतिश्च सदागति, र्मम तपोऽनलदीप्तिसदागतिः।
भव भवोप्यभवो भवहानये, निजभवो गतमोहमहानये !।।

हे ! अये ! भगवान ! गतगतिः सगतिः सदागतिः च असि (अतः) मम तपोऽनलदीप्ति सदागतिः भव। गतमोहमहान् निजभवः भवः (अपि असि) (अतः) मम भवहानये अभवः अपि (भव)।

चारों गती मिट गयी तुम ईश ! शम्भू,
हो ज्ञान पूर निजगम्य अतः स्वयम्भू,
ध्यानाग्नि दीप्त मम हो तुम वात हो तो,
संसार नष्ट मम हो तुम हाथ हो तो।।४३।।

अर्थ–अये भगवान् ! आप नरकादि गतियों से रहित हो, ज्ञान से सहित हो, ईश्वर हो, मेरी तपरूपी अग्नि को प्रदीप्त करने के लिए वायु हो, कल्याणरूप होकर भी कल्याणरहित (पक्ष में संसार से रहित) हो। अतः आप मेरे संसार को नष्ट करने के लिए हो, मोह के नष्ट हो जाने से आप महान् तथा स्वयंभू हो।।४३।।

अघततिः सघना प्रखरामिता, तव नुतेरितिमीश ! तरामिता।
वियति पूर्णतया ह्यपि वा ततः, स लय माशु घनोऽयति वाततः।।

हे ईश ! सघना प्रखरा अमिता अघततिः तव नुतेः तराम् इतिम् इता ! वियति
पूर्णतया अपि ततः स घनः वाततः आशु लयं अयति ! वा (निश्चयेन)।

हो आपको नमन तो सघना अघाली,
पाती विनाश पल में दुख शील वाली।
फैला पयोद दल हो नभ में भले ही,
थोड़ा चले पवन तो बिखरे उड़े ही।।४४।।

अर्थ– हे ईश ! सघन, अतितीक्ष्ण तथा अपरिमित पापपङ्क्ति आपके स्तवन से नाश को प्राप्त हो गई है। जैसे कि आकाश में पूर्णरूप से विस्तृत मेघ भी वायु से शीघ्र ही विनाश को प्राप्त हो जाता है ।।४४।।

चरणयुग्ममिदं तव मानसः, सनखमौक्तिक एव विमानस !।
भृशमहं विचरामि हि हसंक ! यदिह तत्तटके मुनिहंसकः।।

हे हंसक ! हे विमानस ! तव इदम् चरणयुग्मम् सनख- मौक्तिकः मानसः एव (अस्ति)।
यत् (यस्मात्)तत्-तटके इह अहं मुनिहंसकःहिभृशं विचरामि।

श्री पाद मानस सरोवर आपका है,
होते सुशोभित जहाँ नख मौक्तिका हैं।
स्वामी ! तभी मनस हंस मदीय जाता,
प्रायः वहीं विचरता चुग मोति खाता।।४५।।

अर्थ-हे विमानस ! हे आत्मरूपहंस ! नखरूप मोतियों से सहित आपका यह चरण युगल ही मानसरोवर है। इसलिये तो उसके इस तट पर मैं मुनिरूपी हंस अत्यधिक विचरता हूँ।।४५।।

मतिरिता भवतो मम सा दरं, पदयुगे शरणे तव सादरम्।
स्वपिति मातुरसौ सुखधातरि, शिशुरिहाङ्क इवाभयदातरि।।

सुखधातरि अभयदातरि मातुः अङ्के असौ शिशुः इव हे शरण्य ! भवतः दरम् इता सा मम मतिः तव शरणे पदयुगे सादरम् स्वपिति।

लो! आपके चरण में भवभीत मेरा,
विश्रान्त है अभय पा मन है अकेला।
माँ का उदारतम अंक अवश्य होता,
निःशंक हो शरण पा शिशु चूँकि सोता।।४६।।

अर्थ–हे शरण्य ! सुखधारक एवं अभयदायक माता की गोद में शिशु के समान मेरी बुद्धि संसार से भयभीत हो शरणभूत आपके चरणयुगल में आदर के साथ शयन कर रही है–लीन हो रही है।।४६।।

स्वकमयं ह्ययि नोऽलभमानतः, किमु सुखी विकलः किल मानतः।
उपगतोऽभयमेव च दुःखत, इह भवे सहितो भवदुःखतः।।

जिन प्रसंगे– अयि नः मनुज ! अयं (जिनः) किल मानतः विकलः किमु नो सुखी। दुःखतः अभयम् एव च उपगतः इव भवे भवदुःखतः असहितः। (मम प्रसंगे) दुःखतः भयम् एव उपगतः इह भवे भव दुःखत सहितः मानतः (विज्ञानत) विकलः स्वकम् अलभमानतः सन् किमु सुखी।

हो वर्धमान गतमान प्रमाणधारी,
क्यों ना सुखी तुम बनो जब निर्विकारी।
स्वात्मस्थ हो अभय हो मन अक्षजेता,
हो दुःख से बहुत दूर निजात्मवेत्ता।।४७।।

अर्थ–(जिनदेव के प्रसङ्ग में) हे मेरे मानव ! यह जिनेन्द्रदेव मान–गर्व से रहित हैं, तो क्या सुखी नहीं है? दुःख से अभय को ही प्राप्त हुए के समान संसार में जन्म सम्बन्धी दुःख से क्या रहित नहीं है? (अपने प्रसङ्ग में) दुःख से भय को प्राप्त हुआ नव इस भव में जन्म सम्बन्धी दुःख से सहित है, मान--विज्ञान से रहित है फलस्वरूप आत्मस्वरूप को प्राप्त नहीं होता हुआ क्या सुखी है? अर्थात् नहीं है।।४७।।

शिवपथे चरता व्रतसंगतः, प्रसमयोऽपि मया जिन ! संगतः।
ननु कियत् सदनं प्रविराजते, प्रवद दूरमितोऽप्यजराज ! ते।।

हे जिन ! अजराज ! व्रतसंगतः मया शिवपथे चरता प्रसमयः अपि संगतः (अतः)
ते सदनम् ननु इतिः कियत् दूरम् प्रविराजते प्रवद।

सन्मार्ग पे विचरता मुनि हो अकेला,
स्वामी ! हुआ बहुत काल व्यतीत मेरा।
मेरे थके पग अभी कितना विहारा,
बोलो कि दूर कितना तुम धाम प्यारा।।४८।।

अर्थ–हे जिन ! हे अजराज ! व्रतधारण कर मोक्षमार्ग में विचरते हुए मैंने अधिक समय व्यतीत किया है। अतः निश्चय से आप कहिये कि आपका वह सदन यहाँ से कितनी दूर सुशोभित हो रहा है।।४८।।

अमितभा सति भाति विभावतः, परमभानुरसीश ! विभावतः।
वद कथं यदि नोऽप्यमलोद्भवेन्मम तपोमणितोऽप्यनलो भवे।।

हे ईश ! अगल ! विभावतः (तव) अमितभा सति विभौ भाति भवे अतिः परमभानुःअसि।
यदि नो मम तपोमणितःअपि अनलः कथं उद्भवेत् (इति) वद ! ।।

स्वामी अपूर्व रवि हो द्युति धाम प्यारे,
ये तेज हीन रवि सम्मुख हो तुम्हारे,
मानों नहीं स्वयम को रवि हे विरागी !
क्यों अग्नि है मम तपो मणि में सुजागी ?।।४६।।

अर्थ—हे ईश ! हे अमल ! विभासम्पन्न आपकी अपरिमित प्रभा आप विभु के रहते हुए ही सुशोभित होती है। अतः इस जगत् में आप उत्कृष्ट सूर्य हैं। यदि ऐसा नहीं है, तो मेरी तपरूपी सूर्यकान्तमणि से अग्नि क्यों प्रकट होती है?।।४६।।

कुरु कृपां करुणाकर ! केवलं, क्षिप विदीश!विदं मयि के बलम्।
तनुचितोः प्रविधाय विभाजनं, निजमये यदरं सुखभाजनम्।।

हे करुणाकर ! विदीश ! केवलं कृपां कुरु मयि विदम् क्षिप, के (आत्मनि) बलं क्षिप ।
यत् (यस्मात्) तनुचितोः विभाजनम् प्रविधाय सुखभाजनम् निजम् अरम् अये।

हे ईश धीश मुझमें बल बोधि डालो !
कारुण्य धाम करुणा मुझमें दिखा लो।
देहात्म में बस विभाजन तो करूँगा,
शीघ्रातिशीघ्र सुख भाजन तो बनूँगा।।५०।।

अर्थ– हे दयाकर। हे ज्ञानेश्वर ! मुझ पर कृपा करो, मुझमें ज्ञान डालों और मेरी आत्मा में बल स्थापित करो। जिससे मैं शरीर और आत्मा का विभागकर सुख के पात्रस्वरूप निज आत्मा को शीघ्र प्राप्त हो जाऊँ।।५०।।

समयशामितरागविभावसुरुपगतः स्वयमेव विभावसु।
मयि तथापि सरागतमालये, वससि देव कथं नियमालये।।

हे देव ! समयशामितरागविभावसुः (असि) स्वयम् एव विभावसु (बोधधनं) उपगतः (असि) तथापि मयि सरागतमालये नियमालये कथं वससि?

विज्ञान से शमित की रति की निशा है,
पाया प्रकाश तुमने निज की दशा है।
तो भी निवास करते मुझमें विरागी!
आलोक धाम तुम हो, तम मैं, सरागी।।५१।।

अर्थ – हे देव ! यद्यपि आप विज्ञान से रागरूपी अग्नि तथा निशा को नष्ट करने वाले हैं और आप स्वयं ही विभारूपी धन को प्राप्त हुए हैं, तथापि रागरूपी अंधकार के घर तथा नियमों के स्थानभूत मुझमें क्यों निवास कर रहे हैं। तात्पर्य यह है कि मैं सराग एवं अज्ञानी होता हुआ भी आपका ध्यान करता हूँ।।५१।।

समयते निखिलं व्यवहारतः, स्वसमये नियतं भवहा ! रतः।
सहजवृत्तिरियं हि सदा सतां, प्रवहतां जगतां न खदासताम्।।

हे भगवन् ! स्वसमये नियत रतः भवहा ! (अस्ति) (अतः) निखिलं व्यवहारतः समयते।
सता हि इयं सहजवृत्तिः सदा (अस्तु) खदासतां प्रवहतां जगतां न (अस्तु)।

शुद्धात्म में तुम सुनिश्चय से बसे हो,
जो जानते जगत को व्यवहार से हो।
होती सदा सहजवृत्ति सुधी जनों की,
इच्छामयी विकृतवृत्ति कुधी जनों की।।५२।।

अर्थ – हे भवहाः ! संसार का परित्याग करने वाले जिनेन्द्र ! निश्चयनय से आप स्वसमय – शुद्धात्मस्वरूप में लीन हैं – उसी को जानते हैं और व्यवहारनय से सबको जानते हैं क्योंकि यह सहजवृत्ति – स्वाभाविक परिणति साधुजनों की सदा रहती है, इंद्रियों की दासता को धारण करने वाले – असाधुजनों की नहीं रहती।।५२।।

नहि जगज्जिन पश्यसि वस्तुतः, सततमात्मपदं तु भव स्तुतः।
त्वदुपयोगतले शुचिदर्शनेऽवतरतीव तदेव तु दर्शने।।

हे जिन ! भवस्तुतः वस्तुतः सततं आत्मपद पश्यसि नहि जगत् तु (पश्यसि) (यतः)
शुचिदर्शने त्वदुपयोगतले दर्शने इव तदेव तु (जगत् एव) अवतरति !।

संसार को निरखते न यथार्थ में हैं,
लो आप केवल निजीय पदार्थ में हैं।
संसार ही झलकता दृग में तथा हैं,
नाना पदार्थ दल दर्पण में यथा हैं।।५३।।

अर्थ – हे जिन। संसार – सभीजनों के द्वारा स्तुत आप यथार्थ से निरंतर आत्मपद–स्वरूप को देखते हैं–जानते हैं जगत् को नहीं। वही जगत् निर्मल दर्शन वाले आपके उपयोगतल में – केवलज्ञान में दर्पण की तरह प्रतिफलित होता है।।५३।।

समयसारत ईश! न सारतः, सविकलो विषयाज्जडसारतः।
जगति मक्षिकयैव सदादृतं, मलमलं भ्रमरेण सदादृत !।।

हे सदादृत ! हे ईश ! सारतः समयसारतः न सविकलः (किन्तु) विषयात् जडसारतः (सविकलः) असि (उचितमेव) जगति सदा मक्षिकया एव मलं आदृतम् भ्रमरेण अलम् (तिरस्कृतमित्यर्थः)।।

स्वादी तुम्हीं समयसार स्वसम्पदा के,
आदी कुधी सम नहीं जड़ सम्पदा के।
औचित्य है भ्रमर जीवन उच्च जीता,
मक्खी समा मल न, पुष्प पराग पीता।।५४।।

अर्थ – हे सत्पुरुषों से सन्मानित ! हे ईश ! आप श्रेष्ठतम समयसार – शुद्धात्मस्वरूप से रहित नहीं हो – परिपूर्ण हो, किंतु अचेतनों में प्रधानभूत पञ्चेन्द्रियों के विषयों से रहित हो। ठीक ही है, संसार में मल–विष्ठा मक्खी के द्वारा ही सदा आदृत होता है, भ्रमर के द्वारा नहीं।

प्रवचनेऽचिति साऽ प्रतिमानता, ननु मतात्र सता शुचिमानता।
तव विदं हि हठाद्यदसंग ! ताः, समयकाः स्वयमीश्वर ! संगताः।।

हे असंग ! ईश्वर ! अत्र तव अचिति प्रवचने सा अप्रतिमानता शुचिमानता ननु सता मता यत् (यस्मात्) (तत्र अयं हेतुः) तव विदम् हि ताः समयकाः हठात् स्वयं संगता।

है वस्तुतः जड़ अचेतन ही तुम्हारी,
वाणी तथापि जग पूज्य प्रमाण प्यारी।
है एक हेतु इसमें तुमने निहारा,
विज्ञान के बल अलोक त्रिलोक सारा।।५५।।

अर्थ -- हे निर्ग्रन्थ ! हे नाथ ! यहाँ आपकी अचेतन वाणी में निश्चय से जो प्रसिद्ध अनुपमता सत्पुरुषों ने स्वीकृत की है तथा निर्मलता को प्राप्त है, उसमें कारण यह है कि जगत् के समस्त पदार्थ आपके ज्ञान में हठपूर्वक स्वयं प्राप्त हुए हैं।

ननु दृगादिभिरात्मबलैः सुखं, करणजं ह्यपि तत्समलैः सुखम्।
जगति तन्तुभिरेव सुनिर्मितम्, पटमितीह जगाद मुनिर्मितम्।।

हे लोकेश ! आत्मबलैः दृगादिभिः ननु सुख समलैः (दृगादिभिः) तत् करणजं सुखं अपि (भवतु) इह जगति तन्तुभिः एव पटम् सुनिर्मितम् इति मितम् मुनिः जगाद।

सम्यक्त्व आदिक निजी बल मोक्षदाता,
वे ही अपूर्ण जब लौ सुर सौख्यधाता।
औचित्य वस्त्र बनता निज तन्तुओं से,
ऐसा कहा कि तुमने मित सत् पदों से।।५६।।

अर्थ – हे लोकेश ! निश्चय से जो आत्मोत्थ सुख है वह सम्यग्दर्शनादि आत्मशक्तियों से प्राप्त होता है। और जो इन्द्रियजन्यसुख है वह भी समल–सातिचार–अपूर्ण सम्यग्दर्शनादि आत्मशक्तियों से प्राप्त होता है। उचित ही है, इस जगत् में जो वस्त्र है वह तंतुओं से ही निर्मित होता है, ऐसा संक्षेप में आप मुनि ने कहा था।।५६।।

नयति विस्मरणं सुखयाचना-मजनुतौ विरतो दयया च ना।
मणिमयं जलधाववगाहितः, किमिह याचत ए खनगाहित ! ।।५७।।

ए खनगाहित ! अजनुतौदय या च विरतः ना सुखयाचनां विस्मरणं नयति।
(उचितमेव) इह जलधौ अवगाहितः अय (जनः) किं मणिम् याचते? (कदापि नेत्यर्थः)।

होता विलीन भवदीय उपासना में,
तो भूलता सहज ही सुख याचना मैं।
जो डूबता जलधि में मणि ढूँढ लाने,
क्या मांगता जलधि से मणि दे ! सयाने !।।५७।।

अर्थ – हे इन्द्रियसुख से विमुख ! भगवन् ! भगवत्स्तुति और दया से विमुख रहने वाला मनुष्य सुखयाचना को भूल जाता है। ठीक ही है -- समुद्र में गोता न लगाने वाला यह मनुष्य संसार में क्या मणि की याचना करता है? अर्थात् नही करता।।५७।।

स्ववपुषा प्रथमं पृथगम्बर-मज समुज्झ्य चिता च दिगंबरः।
यवमलं न तृणं ननु पाचकः, कलयति प्रथमं स्वकपाश्च क!।।

हे स्वकपा:! अज ! क ! प्रथमं पृथक् अम्बरं समुज्झ्य स्ववपुषा दिगम्बरः (जातः) च (पुनः) चिता (दिगम्बरः जातः) (उचितमेव) ननु पाचकः प्रथमं तृणं कलयति नच यवमलम् (यवमलं तु पश्चात् कलयति।)

औचित्य! है प्रथम अम्बंर को हटाया,
पश्चात् दिगम्बर विभो! मन को बनाया।
रे! धान का प्रथम तो छिलका उतारो,
लाली उतार, फिर भात पका, उड़ालो।।५८।।

अर्थ – हे आत्मरक्षक ! हे जन्मरहित ! हे ब्रह्मन् ! आप पहले वस्त्र को छोड़कर स्वशरीर से दिगम्बर हुए थे। पश्चात् चेतना से दिगम्बर हुये थे। यह उचित ही है, क्योंकि रसोई बनाने वाला पहले तुष्रूप तृण को बीनता है पश्चात् जौ के मल–ललाई आदि को ग्रहणकर दूर हटाता है।।५८.।।

य उपधि र्जगता समुपास्सितः, मृतिभयं न विनामृतपाः शित !
अभयताप्तय एव समुद्यतो, भवदुपासनया द्रुतमुद्यतः।।

हे अमृतपाः ! शित ! यः उपधिः जगता समुपासितः (स) मृतिभयं विना न (अतः)
एषः (मुनिः) अभयताप्तये भवदुपासनया समुद्यतः गतःद्रुतम् उत (स्यात्)।

शंका न मृत्यु भय ने सबको हराया,
संसार ने तब परिग्रह को सजाया।
हे सेव्य ! हे अभय ! सेवक मैं विरागी,
मैं भी बनूँ अभय जो सब ग्रन्थत्यागी।।५६।।

अर्थ – हे अमृतपाः ! मोक्ष अथवा प्रियवस्तु के रक्षक ! हे शित ! हे शांत ! जो परिग्रह जगत् के द्वारा सेवित है, वह मृत्यु के भय के बिना नहीं अर्थात् मृत्यु से बचने के लिये ही जगत् परिग्रह को उपार्जित, संचित और सुरक्षित रखता है। इसीलिये यह मुनि अभयता– निर्भयता की प्राप्ति के लिये आपकी उपासना में समुद्यत है। इसी से वह शीघ्र ऊर्ध्वगामी – सिद्ध हो जाता है।।५६।।

जड़तनोर्मदरागनिराकृतिर्जगति शान्तिरिहास्ति निराकृतिः।
परिगमस्तव शान्त! सुमुद्रया, समनुजायत एव सुमुद्रया।।

हे शान्त ! इह जगति निराकृतिः शान्तिः जडतनोः मदरागनिराकृतिः (एव) अस्ति (इति) तव शान्त सुमुद्रया परिगमः समनुजायते एव!

जो देह नेह मद को तजना कहाता!
स्वामी ! अतीन्द्रिय वही सुख है सुहाता।
तेरे सुशान्त मुख को लख हो रहा है,
ऐसा विबोध, मन का मल धो रहा है।।६०।।

अर्थ – हे शान्त ! हे लोकोत्तरशान्तिसम्पन्न ! इस जगत् मे जो आभ्यान्तर – अतीन्द्रिय शान्ति है वह जडशरीर संबंधी अहंकार–ममकार का निराकरण –परित्याग ही है, ऐसा सुबोध आपकी प्रमोददायिनी सुन्दर आकृति से होता है।।६०।।

नहि गभीर इहेदुनियोगतः, स जलधिस्स्खलितो निजयोगतः।
असि गभीरतमो निजधाम न, त्यजसि यत् सुखदं च मुधाऽमनः।।

हे अमनः ! इह (जगति) स जलधिः इन्दुनियोगतः निजयोगतः स्खलितः (अतः) न हि गभीरः (अस्ति किन्तु) (त्वं) सुखदं निजधाम च मुधा न त्यजसि यत् गभीरतमः (असि)।

गंभीर सागर नहीं शशि दर्श पाता,
गांभीर्य त्याग तट बाहर भाग आता।
गंभीर आप रहते निज में इसी से,
होते प्रभावित नहीं जग में किसी से।।६१।।

अर्थ – हे अमन ! हे भावमन से रहित ! इस जगत् में वह समुद्र चन्द्रमा के संयोग से स्वकीय गांभीर्य से विचलित हो जाता है। अर्थात् चन्द्रमा के दर्शन से समुद्र उद्वेलित हो जाता है। अतः वह गंभीर नहीं है किन्तु आप व्यर्थ ही अपने सुखदायकधाम – तेज अथवा स्थान का त्याग नहीं करते, अतः गम्भीरतम हैं।।६१।।

जिगमिषु र्निकटं तव ना विनाः, स नियमेन जडो ननु ना विना।
दृगिह बीजमजा अवनाविना, नहि सतां सुफलेऽमलिना विना।।

हे अजाः ! इनाः ! विनाः ! तव (युस्माकं) निकटं नियमेन विना जिगमिषुः ना ननु स जडः (एव अस्ति) (सत्यमेव) इह अवनौ बीजम् विना सतां अमलिना दृक् सुफले नहि (स्यात्)।

है चाहता अबुध ही तुम पास आना,
धारे बिना नियम संयम शील बाना।
धीमान कौन वह है ! श्रम देख रोये,
चाहे यहाँ सुफल क्या बिन बीज बोये।।६२।।

अर्थ – हे जन्मातीत ! हे नाथ ! हे अतिशयपूज्य जिनदेव ! जो पुरुष व्रतनियमादि के बिना आपके निकट जाना चाहता है, वह निश्चय से जड – अज्ञानी है। उचित ही है – इस पृथिवी में बीज के विना सज्जनों की निर्मलदृष्टि सुन्दरफल पर नहीं हो सकती।। ६२ ।।

त्वयि रुचिं च विना शिवराधनम्, भवतु केवलमात्मविराधनम्।
नगविदारणवत् शिरसा यते!, मतमिदं जगतां स्वरसायते।।

हे यते ! त्वयि रुचिं बिना शिवराधनम् केवलम् आत्मविराधनम् शिरसा नगविदारणवत्
भवतु ! इति ते इदम् मतम् (यत्) जगताम् स्वरसाय (अस्तु)।

शुद्धात्म में रुचि बिना शिवसाधना है,
रे निर्विवाद यह आत्मविराधना है।
हो आत्मघात शिर से गिरि फोड़ने से,
तेरा यही मत इसे सुख मानने से।।६३।।

अर्थ – हे यतिराज ! आप से प्रीति अथवा श्रद्धा के विना मोक्ष की आराधना करना – तपश्चरणादि करना शिर से पहाड फोडने के समान मात्र आत्मविराधना–आत्मघात है। आपका यह मत जगत् के सुख के लिये है।।६३।।

समुदयागत ईश!शुभे विधौ, नहि तथा किल शीतलतां विधौ।
अनुभवामि यथा तव सन्निधौ, ह्यतुलवैभवपूरितसन्निधौ।।

हे ईश ! समुदयागते शुभे विधौ विधौ (च) किल तथा शीतलता न हि
यथा तव हि अतुल वैभवपूरितसन्निधौ सन्निधौ अनुभवामि।

ना आत्म तृप्ति उदयागत पुण्य में है,
वो शांति की लहर ना शशिबिम्ब में है।
जो आपके चरण का कर स्पर्श पाया,
आनन्द ईदृश कहीं अब लौ न पाया।।६४।।

अर्थ – हे ईश ! समुदयागत--पुण्यकर्मोदय से प्राप्त शुभकार्य में और सम्यक् प्रकार से उदित चन्द्रमा में वैसी शीतलता का अनुभव नहीं करता हूँ जैसी कि अनुपम वैभव से परिपूर्ण समीचीन निधिस्वरूप आपकी सन्निधि-निकटता में करता हूँ।।६४।।

असि निजानुभवादिसमाधितः, स्खलितवान् भवतो द्रुतमाधितः।
सुधृतिमन्त इतीश ! तदाप्तये, स्वनिरता मुनयोऽपि सदाप्त ! ये।।

हे ईश ! आप्त ! निजानुभवादि समाधितः आधितः भवतः द्रुत स्खलितवान् इति (मत्वा)
तदाप्तये सुधृतिमंतः ये मुनयः सदा स्वनिरताः सन्ति।

स्वामी! निजानुभवरूप समाधि द्वारा,
पाया, मिटी-भव-भवाब्धि, भवाब्धि पारा।
ये धैर्य धार बुध साधु समाधि साधें,
साधें अतः सहज को निज को अबाधें।।६५।।

अर्थ – हे ईश ! हे आप्त ! आप निजानुभवनरूप समाधि–ध्यान से मानसिक व्यथारूप संसार से निवृत्त हुए हैं, ऐसा मानकर जो उत्तम धैर्य से युक्त मुनि हैं वे भी सदा स्वनिरत–आत्मलीन रहते हैं।।६५।।

विधिनगाशनिरीश ! सुराजते, कुमतकक्षदवो मुनिराज ! ते।
शशिशितं सुखदं शुचिशासनं, भवतु मे सततं सहसासनम्।।

मुनिराज ! ईश ! ते शशिशितम् सुखदम् शुचिशासनम कुमतकक्षदव:
विधिनगाशनि: सुराजते (तत्) मे राततम् सहसा आरानम् (आश्रयं) भवतु !।

है वज्र, कर्म-धरणी-धर को गिराता,
दावा बना कुमत कानन को जलाता।
ऐसा रहा सुखद शासन शुद्ध तेरा,
पाथेय पंथ बन जाय सहाय मेरा।।६६।।

अर्थ – हे ईश ! हे मुनिराज ! चंद्रमा के समान उज्ज्वल आपका सुखदायक निर्मलशासन कर्मरूप पर्वतों के लिये वज्र तथा मिथ्यारूपी वनों के लिये दावानल के रामान सुशोभित है, अतः वह निरन्तर मेरा आरान–आधार रहे।।६६।।

जननसागरशोषणभाकरः, तृषितजीवनदोऽसिशुभाकरः।
खझषजाल इतीह सुगी र्यतः सुमुनिना ह्यमुनाप्यथ गीयते।।

भगवन् ! इह (भुवि) जननसागरशोषणभाकरः शुभाकरः तृषितजीवनदः खझषजालः असि इति यतः सुगीः (वर्तते) अथ हि सुमुनिना ह्यमुना अपि गीयते (भगवान्)।

हो तेज भानु भवसागर को सुखाने,
गंगा तुम्हीं तृषित की कुतृषा बुझाने।
हो जाल इंद्रियमयी मछली मिटाने,
मैं भी, तुम्हें सुबुध भी, इस भाँति मानें।।६७।।

अर्थ – हे भगवन् ! इस जगत् में आप संसाररूपी समुद्र को सुखाने के लिये प्रचंड सूर्य हैं। तृष्णारूपी तृषा से पीड़ित मनुष्य को जीवन–संतोष रूपी जल को देने वाले हैं। शुभाकर पुण्य की खान हैं तथा इंद्रियरूपी मछलियों को वश करने के लिये जाल स्वरूप हो। इस तरह आपके विषय में गणधरादि मुनियों की उत्तम वाणी है। अब मुझ मुनि के द्वारा भी यही कहा जाता है।

मम मतिस्स्तवनेऽत्र सरोवरे, किमु तदा विफलो न सरो वरे।
अमृतनीरनिधौ जिन ! निष्क्रिय ! विषकणोऽस्तु तथापि स निष्क्रियः।।

हे जिन ! निष्क्रिय ! (तव) स्तवने वरे सरोवरे (यदा) मम मतिः तदा सरः (कामः) किमु न विफलः (भवतु?) अमृतनीरनिधौ स विषकणः अस्तु तथापि निष्क्रियः एव।

मेरी मती स्तुति सरोवर में रहेगी,
होगी मदाग्नि मुझमें, रह क्या करेगी।
पीयूष सिन्धु भर में विषबिन्दु क्या है?
अस्तित्व हो पर प्रभाव दबाव क्या है? ।।६८।।

अर्थ – हे जिन ! हे कृतकृत्य ! आपके स्तवनरूप उत्कृष्ट सरोवर में जब मेरी मति रह रही है तब काम क्या निष्फल न रहे? क्योंकि अमृत के सरोवर में विष का कण रहता भले ही हो पर वह निष्क्रिय – प्रभावशून्य ही रहता है।।६८।।

तव मते सति ते विफला मता, लयमयन्ति हठाद्विमला मताः।
लवणवद् अशने च सदाऽमिते, जिन! विदं सहजां सुखदामिते।।

हे जिन ! तव सहजां सुखदां विदं इते अमिते सति मते च अशने लवणवत्(हि)
सदा ते विफलाः मताः लयं अयंति हटात् विमलाःमताः (पूज्याः भवति)।

स्याद्ववादरूप मत मे, मत अन्य खारे,
ज्यों ही मिले मधुर हो बन जाएं प्यारे
मात्रानुसार यदि भोजन में मिलाओ,
खारा भले लवण हो अति स्वाद पाओ।।६६।।

अर्थ – हे जिन ! आपके सहज सुखदायक ज्ञान को प्राप्त अपरिमित प्रशस्त मत में यदि एकान्तवाद के कारण अकार्यकारी अन्य मत–धर्म लीनता को प्राप्त हो जावें तो विशाल भोजन में नमक की तरह वे भी हठात् निर्मल – निर्दोष होकर पूज्य हो जावें।।६६।।

स्तुतिबलं ह्यवलम्ब्य मनोर्भवे, ह्यनुचरामि निजात्मनि नो भवे।
कदपथेऽत्र वयोऽपि सपक्षका इति चरन्ति वदन्ति विपक्षकाः।।

हे जगद्वंद्य ! मनोः स्तुतिबलं अवलम्ब्य भवे निजात्मनि अनुचरामि, नो भवे (अनुचरामि)
अत्र कदपथे सपक्षकाः वयः एव अपि चरंति इति विपक्षकाः वदन्ति !

ले आपकी प्रथम मैं स्तुति का सहारा,
पश्चात् नितांत निज में करता विहारा।
ज्यों बीच बीच निज पंख विहंग फैला,
फैला विहार करता नभ में अकेला।।७०।।

अर्थ – हे जगद्वन्द्य ! निश्चय से आपकी स्तुति के बल का अवलम्बन लेकर मैं कल्याणकारी निज आत्मा में विचरण करता हूँ, संरार में नहीं। ठीक ही है पंखों से सहित पक्षी और एकान्तपक्ष से सहित दुराग्रही मानव भी कुमार्ग में विचरण करते हैं पक्षरहित मनुष्य और पंखरहित पक्षी कुमार्ग में (आकाश में) विचरण नहीं करते हैं ऐसा ज्ञानी जन कहते हैं।।७०।।

यदुदितं वचनं शुचि साधुना, वदति तत् न कुधीरिति साधु ना।
ज्वरमितः सुपयः किमु ना सितां, ह्यनुभवद् भुवि रोगविनाशिताम्।

हे साधो ! (त्वया) साधुना यत् शुचि वचनम् उदितम् तत् साधु न इति कुधीः ना वदति! (उचितमेव) भुविरोगविनाशितां सितां अनुभवत् सुपयः ज्वरमितः (ज्वरं गतः) ना किमु (तथा न वदति)।

मिथ्यात्व से भ्रमित चित्त सही नहीं है,
तेरे उसे वचन ये रुचते नहीं हैं
मिश्री मिला पय उसे रुचता कहाँ है ?
जो दीन पीड़ित दुखी ज्वर से अहा ! है।।७१।।

अर्थ – हे साधो ! आप साधु के द्वारा जो निर्दोष वचन कहा गया है, वह ठीक नहीं है, ऐसा अज्ञानी पुरुष कहता है। उचित ही है क्योंकि पृथिवी पर रोग को नष्ट करने वाली मिश्री से युक्त उत्तम दूध को ज्वरसहित मनुष्य वैसा नहीं है, मीठा नहीं है, ऐसा क्या नहीं कहता?।।७१।।

सुकवितां विरचय्य च केवलं, भवतु कोऽपि कविर्गत ! केवलम्।
स्वकवितां तु ततोऽहमशेषतामनुभवामि ममास्तु विशेषता।।

हे केवलं गत ! (त्वत्) केवलम् सुकवितां विरचय्य कः अपि कविः भवतु ! अहंतु
ततः अशेषताम् स्वकवितां अनुभवामि (अतः) मम विशेषता (अस्तु)।

लालित्य पूर्ण कविता लिख के तुम्हारी,
होते अनेक कवि हैं कवि नामधारी।
मैं भी सुकाव्य लिख के कवि तो हुआ हूँ,
आश्चर्य तो यह निजानुभवी हुआ हूँ।।७२।।

अर्थ – हे केवलज्ञान से युक्त जिनेन्द्र ! मात्र आपकी कविता रचकर कोई भी कवि हो सकता है। परंतु मैं संपूर्ण रूप से स्वकविता का अनुभव करता हूँ अतः यह मेरी विशेषता है।। ७२ ।।

जिनवरं परिवेत्ति विनिश्चितं, स नितरां हि निजं च मुनिश्चितम्।
किमु न धूम्रविदत्र सदागतेः, सहचरं सहजं च सदागते !।।

हे सदागतो ! (यः) जिनवरं परिवेत्ति स मुनिः हि नितराम् निजम् चितम् (परिवेत्ति) (उचितमेव) अत्र (भुवि) यः धूम्रवित् सदागतेः सहचरं च किमु न सहजम् (परिवेत्ति?)।

श्रद्धासमेत तुमको यदि जानता है,
शुद्धात्म को वह अवश्य पिछानता है।
धूवाँ दिखा अनल का अनुमान होता,
है तर्क शास्त्र पढ़ते दृढ़ बोध होता।।७३।।

अर्थ – हे सदागते ! हे शाश्वतिक ज्ञान के धारक ! जो जिनवर–अरहन्तदेव को जानता है वह मुनि निश्चय से अच्छी तरह निज आत्मा को जानता है। ठीक ही है क्योंकि पृथिवी पर जो धुवां का जानकार है वह क्या सहज ही अग्नि को नहीं जानता? अवश्य जानता है।।७३।।

समवधूय विधिं किल शाश्वतमिति पदं प्रगतं सहसा स्वतः।
शरणदं न विहाय ततोऽपरं, विरिव नावमये ह्ययजितापरम्।

हे अजित ! विधिं समवधूय किल शाश्वतं परम् शरणदम् इतिपदम् सहसा स्वतः प्रगतं (त्वां) विहाय ततः अपरम् विः इव नहि (अहं) अये।

मोहादि कर्म मल को तुमने मिटाया,
स्वामी स्वकीय पद शाश्वत सौख्य पाया।
लेता सहार मुनि हो अब मैं तुम्हारा,
तोता जहाज तज कुत्र उड़े बिचारा ?।।७४।।

अर्थ – हे अजित ! कर्मरूपी रज को अच्छी तरह उड़ाकर निश्चय से नित्य, श्रेष्ठ और शरणदायक इस आर्हन्त्यपद को स्वकीय पुरुषार्थ से शीघ्र प्राप्त करने वाले आपको छोड़कर, नाव को छोड़ पक्षी के समान मैं अन्य किसी को नहीं प्राप्त होता हूँ। 'मुक्त्वा भवन्तमिह कं शरणं व्रजानि'।। ७४।।

तव नुतेः सुखदश्च भृशं कर, उरसि मे विशतीह नु शंकर !।
दिनकरस्य शिवास्य विभावतः, सदनरंध्र इवाज ! हि भावतः।।

हे अज ! शंकर ! शिव ! तव नुतेः सुखदः करः च भृशम् मे इह उरसि
अस्य विभावतः दिनकरस्य सदनरन्ध्रे (करः) इव हि भावतः विशति।

त्यों आपके स्तवन की किरणावली है,
पाती प्रवेश मुझमें सुखदा भली है।
ज्यों ज्योति पुंज रवि की प्रखरा प्रभाली,
हो रंध्र में सदन के घुसती निराली।।७५।।

अर्थ – हे अज ! हे शांतिविधायक ! हे सुखस्वरूप ! आपकी स्तुति से आपका सुखप्रद श्रद्धान अथवा आपकी स्तुति की किरणावली मेरे इस हृदय में परमार्थ से उस तरह अत्यधिक प्रवेश कर रही है जिस तरह कि प्रभापुंज सूर्य की किरण सच्छिद्र घर में प्रवेश करती है।। ७५।।

सति शिवे हि मनोऽपि नियोजयेत्, मनसिजं सहजं समयो जयेत्।
जगति कारण एव लयं गत, इह नु कार्यमिदं ह्यभयंगत !।।

हे अभयंगत ! सति शिवे (त्वयि) हि मनः नियोजयेत् समयः मनसिजम् सहजम् अपि जयेत्।
इह जगति कारणे लयं गते एव इदम् कार्यमनु (अस्तु) (न कदापि)।

कामारिरूप तुम में मन को लगाता,
है वस्तुतः मुनि मनोभव को मिटाता।
हो जाय नाश जब कारण का तथापि,
क्या कार्य का जनम हो जग में कदापि ?।।७६।।

अर्थ – हे अभय को प्राप्त जिनेन्द्र ! निश्चय से जो मनुष्य आनन्दस्वरूप आप सज्जन में मन को लगाता है वह शुद्धात्मस्वरूपी मनुष्य साथ–साथ उत्पन्न होने वाले भी काम को जीत लेता है। उचित ही है, इस जगत् में कारण के नष्ट होने पर कार्य क्या होता है? अर्थात् नहीं होता।। ७६ ।।

त्वयि रुचे रहिताय न दर्शनं, तव हिताय वृथा तददर्शनम्।
खविकलाय करोतु न दर्पणं, समवलोकनशक्तिमुदर्पणम्।।

हे जिन ! त्वयि रुचेः रहिताय तव दर्शनम् न हिताय (किन्तु) तत् वृथा
अदर्शनम् (एव अस्तु) (उचितमेव) खविकलाय समवलोकनशक्तिमुदर्पणम् न करोतु।

स्वामी तुम्हें न जिसने रुचि से निहारा,
देता उसे न "दृग" दर्शन है तुम्हारा।
जो अन्ध है, विमल दर्पण क्या करेगा,
क्या नेत्र देकर कृतार्थ उसे करेगा?।।७७।।

अर्थ – हे जिन ! जो आपमें प्रीति अथवा श्रद्धा से रहित है उसके लिये आपका दर्शन अथवा शासन हितकारी नहीं होता। उसका दर्शन व्यर्थ है अदर्शन के समान है। यह उचित ही है क्योंकि नेत्रेन्द्रिय से हीन मनुष्य के लिये क्या दर्पण देखने की शक्ति से उत्पन्न होने वाले हर्ष को प्रदान कर सकता है? अर्थात् नहीं।। ७७।।

सुधियि वागमृतं कलुषायते, कुधियि वान्तविमोहविषाय ते।
सलिलदात् स्रवदम्बु नदेऽमृतं, विषधरे ह्यकदे विषकं मृतम्।।

हे वान्तविमोहविष ! अय ! ते वाक् सुधियि अमृतं कुधियि (वाक्) कलुषायते (सत्यमेवैतत्)
सलिलदात् स्रवत् अम्बु नदे अमृतम् (भवति) अकदे विषधरे हि मृतम् विषकम् (भवति)।

वाणी सुधा सदृश सज्जन संगती से,
तेरी, बने कलुष दुर्जन संगती से।
औचित्य मेघ जल है गिरता नदी में,
तो स्वाद्य पेय बनता, विष हो अही में।।७८।।

अर्थ – हे वान्तमोहविष ! हे मोहरूपी विष को उगल चुकने वाले जिनेन्द्र ! आपका वचन सुधी जन में अमृत है तो कुधीजन में कलुषता उत्पन्न करता है। ठीक ही है क्योंकि मेघ से झरता – बरसता हुआ पानी नदी में अमृत–जलरूप रहता है और दुःखदायक सर्प में मृत्यु करने वाला विष हो जाता है।। ७८।।

ननु मुनेश्च यथा धृतवृत्ततः, स्रवतिशान्तरसः प्रतिवृत्ततः।
अविरलं त्वदुपासकतोऽमनो, नहि तथा शशिनो मुखतो मनो !।।

हे अमनः ! मनो ! ननु धृतवृत्ततः त्वदुपासकतः (मत्) मुनेः च यथा अविरलम् शान्तरसः स्रवति, प्रतिवृत्त (अस्मात् काव्यत) (शान्तरसः स्रवति) तथा शशिनः मुखतः नहि स्रवति।

जैसा सुशान्त रस वो मम आत्म से है,
धारा प्रवाह झरता इस काव्य से है।
वैसा कहाँ झर रहा शशि बिम्ब से है,
पूजें तुम्हें तदपि दूर सुवृत्त से है।।७६।।

अर्थ – हे अमनः ! मनो ! हे भावमन से रहित ! जिनदेव ! सम्यक चारित्र को धारण करने वाले आपके उपासक गुझ मुनि से तथा इस काव्य के प्रत्येक छन्द से जैसा शान्त रस झर रहा है वैसा चन्द्रमा के बिम्ब से नहीं झरता।।७६।।

त्वयि रतो हि शठो भववैभव-, समुपलब्धय ईश्वर वै भव।
कृषिमतः कुरुते विधिहाऽवनौ, सकनकेन हलेन स हा ! वनौ।।

ओ हे अवन ! हे विधिहा ! भव ! ईश्वर ! (इह) अवनौ भववैभवसमुपलब्धये त्वयि रतः वै शठः हि (अस्ति) अतः स साकनकेन हलेन हा ! (असौ) कृषिम् कुरुते।

संसार के विविध वैभव भोग पाने,
पूजें तुम्हें बस कुधी जड़, ना सयाने।
ले स्वर्ण का हल, कृषी करता कराता,
वो मूर्ख ही कृषक है जग में कहाता।।८०।।

अर्थ – ओ हे अवन ! हे रक्षक ! हे विधिहा ! हे कर्मों को नष्ट करने वाले ! हे भव ईश्वर ! प्रशस्त भगवन् ! इस पृथ्वी में जो सांसारिक वैभव प्राप्त करने के लिए आप में लीन हैं–आपकी भक्ति करता है निश्चय से वह शठ है – अज्ञानी है अतः खेद है कि वह स्वर्ण के हल से खेती करता है! लोह के बदले स्वर्ण की अनी से युक्त हल के द्वारा खेत को जोतता है।। ८०।।

अलमजे यमतोऽनियमो हतः, सविकलोऽशनतोपि विमोहतः।
वसनतोपि जितेन्द्रियवामतः, परनतो विरतोऽपि भवामतः।।

ई अज ! जितेंद्रियवामतः वरानतः अलम् भवामतः विरतः (ततः) परनतः अपि (अलम्)।
अजे अनियमः हतः (अतः) यमतः (अलम्) विमोहतः सविकलः (अतः) अशनतः अपि अलम् (अस्तु)

है मोह नष्ट तुममें फिर अन्न से क्या ?
त्यागा असंयम, सुसंयम भार से क्या ?
मारा कुमार तुमने फिर वस्त्र से क्या ?
हैं पूज्य ही बन गये, पर पूज्य से क्या ?।।८१।।

अर्थ – इं अज ! हे जन्मातीत ! यदि अनियम–स्वैराचार छूट गया है तो संयम से क्या? यदि शरीर से मोह छूट गया है तो अन्न से क्या? यदि कामेन्द्रिय को जीत लिया है तो वस्त्र से क्या? यदि संसाररूपी रोग से विरत हो गये हैं तो श्रेष्ठ जिनेन्द्र अथवा अन्य पूज्य से क्या? अर्थात् सब अनावश्यक है।।८१।।

खविषयं विरसं नहि मे मनो, विचरदिच्छति शैवगमे मनो!।
परिविहाय घृतं स सुधीः कदा, जगति तक्रमिदं समधीः कदाः।।

हे कदाः ! मनो !शैवगमे विचरत् मे मनः विरसम् खविषयम् नहि इच्छति ! जगति स सुधीः समधीः कदा धृतम् परिविहाय इदम् तक्रम् (इच्छति)।

मेरा जभी मन बना शिवपंथगामी,
संसार भोग उसको रुचते न स्वामी।
धीमान कौन वह है घृत छोड़ देगा,
क्या ! मान के परम नीरस छाछ लेगा।।८२।।

अर्थ – हे सुखदायक स्वामी ! मोक्षमार्ग में विचरण करने वाला मेरा मन नीरस इन्द्रिय विषय की इच्छा नहीं करता। उचित ही है कि जगत् में वह कौन समबुद्धि विद्वान् हैं जो घृत को छोडकर छांछ की इच्छा करता है?।।८२।।

मम मतिः क्षणिका ह्यपि चिन्मयी, तदुदिता न चितो यदतन्मयी।
ननु न वीचिततिः सरसा विना, भवतु वा न सरश्च तया विनाः।।

हे विनाः ! मम क्षणिका अपि चिन्मयी मतिः (अस्तु) तदुदिता (अतः) न चितः यत् (यस्मात्) अतन्मयी (अस्तु) ननु वीचिततिः सरसा विना न भवतु (किन्तु) सरः तया विना भवतु न वा।

मेरी भली विकृति पै मति चेतना है,
चैतन्य से उदित है जिन-देशना है।
कल्लोल के बिन सरोवर तो मिलेगा,
कल्लोल वो बिन सरोवर क्या मिलेगा?।।८३।।

अर्थ – हे विनाः ! हे विशिष्ट नेता ! मेरी क्षणिक बुद्धि भी – क्षायोपशमिकप्रतिभा भी चैतन्यमयी है, क्योंकि वह उसी चैतन्य से उत्पन्न हुई है परन्तु जो चैतन्य है वह क्षायोपशमिक बुद्धि रूप नहीं भी है। जैसे लहरों की संतति तालाब के विना नहीं होती पर तालाब लहरों के विना भी हो सकता है। तात्पर्य यह है कि क्षायोपशमिक बुद्धि तो चैतन्यमयी है परन्तु चैतन्य क्षायोपशमिक बुद्धि रूप होवे भी और नहीं भी होवे।।८३।।

स्तवनतोऽस्तु मितं विधिबंधनं, बहु लयेदित तेऽत्र शिवं धनम्।
द्विगुणितं वसु सद्व्यवसायतः, किमपि नश्यति तत् सहसा यतः।।

शिवं धनम् इत ! अत्र ते स्तवनतः मितम् विधिबन्धनम् अस्तु (किन्तु) बहु लयेत् !
सद्–व्यवसायतः वसु द्विगुणितम् (भवतु) तत् (वसु) किमपि सहसा यतः नश्यति।

लो ! आपके स्तवन से बहु निर्जरा हो,
स्वामी ! तथापि विधिबंधन भी जरा हो।
अच्छी दुकान चलती धन खूब देती,
तो भी किराय कम से कम क्या न लेती ?।।८४।।

अर्थ – हे कल्याणरूप धन को प्राप्त भगवन् ! इस जगत् में यद्यपि आपके स्तवन से अल्पकर्मबन्ध होता है तथापि निर्जरा अधिक होती है जैसे कि अच्छे व्यवसाय से धन दूना होता है पर शीघ्र कुछ धन नष्ट भी होता है।। ८४।।

सकलवस्तुगमा तव नासिका, परममानमयी भ्रमनाशिका।
भगवतात्र ततो हि समाहिता, दृगमलाप्यचला च समाहिता।।

हे जिन ! तव परममानमयी सकलवस्तुगमा भ्रमनाशिका नासिका (अस्ति) ततः अत्र (नासिकायाम्) भगवता अमला, अचला, रामा, हिता, च दृक् हि समाहिता।

वो आपकी सकल वस्तुप्रकाशिनी है,
नासा, प्रमाणमय, विभ्रम-नाशिनी है।
नासाग्र पे इसलिए तुम साम्यदृष्टि,
आसीन है सतत शाश्वत शांति सृष्टि।।८५।।

अर्थ – हे भगवन् ! यतश्च आपकी नासा समस्त पदार्थों को जानने वाली, अधिक परिमाण वाली और भ्रम का नाश करने वाली है। इसीलिये आपने निर्मल, निश्चल, माध्यरथ्यभाव से सहित तथा हित रूप अपनी दृष्टि इस नासा पर लगा रक्खी है।।८५।।

अति गुरुः प्रगुणैश्च समानतः, परमराम इहारममाणतः।
अतिसुखी निजबोधपरागतः, सुपुरुषः प्रकृतावपरागतः।।

हे देव ! प्रगुणैः समानतः गुरुः (असि) इह (निजात्मनि) आसमंतात् रममाणतः आःरममाणतः परमरामः (असि)। निजबोधपरागतः अतिसुखी (असि)। प्रकृतौ अपरागतः सुपुरुषः (असि)।

हैं आप नम्र गुरु चूंकि भरे गुणों से,
हैं पूज्य "राम" निज में रमते युगों से।
पी, पी, पराग निजबोधन की सुखी हैं,
नीराग हैं, पुरुष हैं, प्रकृती तजी हैं।।८६।।

अर्थ – हे देव ! आप श्रेष्ठ गुणों अथवा श्रेष्ठ गुणवानों से अच्छी तरह नमस्कृत हैं अतः गुरु हैं। इस आत्मस्वभाव में सब ओर से रमण करते हैं अतः राम हैं। आत्मज्ञानरूपी पराग से अत्यन्त सुखी हैं और प्रकृति से राग रहित होने से उत्तम पुरुष हैं।।८६।।

परमवीरक आत्मजयीह त, इति शिवो हृदि लोकजयी हतः।
अणुरसीति ममोरसि तानितः, समयकान् स्वविदा भवतानितः।।

हे वीर ! इह आत्मजयी (अतः) परमवीरकः असि ते हृदि लोकजयी (कामः) हतः इति शिवः (असि) मम उरसि असि इति अणुः असि ! तान् (सकलान्) समयकान् स्वविदा इतः (इति) भवतानितः (विश्वव्यापी) असि।

हो धीर वीर तुम चूँकि निजात्म जेता,
मारा कुमार तुमने "शिव" साधु नेता।
सर्वज्ञ हो इसलिए तुम सर्वव्यापी,
बैठे मदीय मन में अणु हो तथापि।।८७।।

अर्थ – हे वीर ! आप आत्मजयी हैं अतः परमवीर हैं। आपके हृदय में लोकविजयी–काम नष्ट हुआ है अतः आप शिव–शंकर अथवा कल्याणरूप हैं। आप मेरे हृदय में आसीन हैं अतः अणुरूप हैं और अपने ज्ञान से समस्त पदार्थों को प्राप्त हैं अतः विश्वव्यापी हैं।।८७।।

नहि सुखे किल दुःखसमागमे, त्वयि मनो रमते मतमागमे।
निशि वरं शशिनो मुखवृत्तकं, भुवि चकोरवये ऽस्त्वित वृत्तकम्।।

वृ ऽत्तकम् इत ! ईश ! सुखे नहि दुःखसमागमे त्वयि मनो रमते (इति) आगमे गतम् (कथिकम्) भुवि चकोरवयेशशिनः मुखवृत्ताकम् निशि (एव) वरम् (न दिवसे) अस्तु।

साता नहीं उदय में जब हो असाता,
मैं आपके भजन में बस डूब जाता।
है चन्द्र को निरखता सघनी निशा में,
जैसा चकोर रुचि से न कभी दिवा में।।८८।।

अर्थ – हे वृत्तकमित ! हे चारित्र को प्राप्त भगवन् ! सुख के समय नहीं किन्तु दुःख का समागम होने पर आप में मेरा मन रमता है, ऐसा शास्त्र में माना गया है। यह उचित ही है क्योंकि चकोर पक्षी के लिये चन्द्रमा का मण्डल रात में ही अच्छा लगता है रुचता है, दिन में नहीं।।८८.।।

अभयदानविधावसि सद्विधि, र्जगति दर्शितसत्पथसद्विधिः।
भगवता विजितः स्वबलैर्विधि, रिति भवन्तमये मम वै विधिः।।

हे विधे ! जगति दर्शितसत्पथसद्विधिः अभयदानविधौ सद्विधिः असि ! भगवता
स्वबलैः विधिः विजितः इति भवन्तम् (अये) (इति) मम वै विधिः।

धाता तुम्हीं अभय दे जग को जिलाते,
नेता तुम्हीं सहज सत्पथ भी दिखाते।
मृत्युंजयी बन गये भगवान् कहाते,
सौभाग्य है, कि मम मन्दिर में सुहाते।।८६।।

अर्थ – हे भगवन् जगत् में आपने सन्मार्ग का समीचीन उपाय दिखाया है अतः आप अभयदान के करने में उत्तम विधि से युक्त हैं – अतिशय निपुण हैं। आपने स्वकीय आत्मबलों से विधि–कर्मकलाप को जीता है इसलिये मैं आपकी शरण में आया हूँ यही मेरी निश्चय से विधि है।।८६।।

तव ललाटतले ललिते ह्यये!, स्थितकचावलिमित्थमहं ह्यये।
सरसि चोल्लसिते कमलेऽमले, सविनयं स्थितिरिष्ट सतामलेः।।

अय सताम् इष्ट ! तव ललिते ललाटतले स्थितकचावलिम् अमले सरसि च उल्लसिते कमले सविनयम् हि अलेः स्थितिः इत्थम् अहं हि अये।

ऐसी मुझे दिख रही तुम भाल पे है,
जो बाल की लटकती लट गाल पे है।
तालाब में कमल पे अलि भा रहा हो,
संगीत ही गुणगुणा कर गा रहा हो।।६०।।

अर्थ – हे साधुजन प्रिय ! आपके सुन्दर ललाटतल पर स्थित केशावली, स्वच्छ तालाब में प्रफुल्ल कमल पर सविनय स्थित भ्रमरावलि है, ऐसा समझता हूँ।।६०।।

शिरसि भाति तथा ह्यमले तरां, कचततिः कुटिला धवलेतरा।
मलयचन्दनशाखिनि विश्रुते, विषधराश्च यथा जिन ! विश्रुते।।

हे विश्रुते ! तव हि अमले शिरसि धवलेतरा कुटिला कचततिः तराम् तथा भाति।
विश्रुते मलयचन्दनशाखिनि विषधराः च यथा (भांति)।

काले घने कुटिल चिक्कण केश प्यारे,
ऐसे मुझे दिख रहे शिर के तुम्हारे।
जैसे कहीं मलयचन्दन वृक्ष से ही,
हो कृष्ण नाग लिपटे अयि दिव्य देही !।।६१।।

अर्थ – हे विश्रुते ! विशिष्ट श्रुति के धारक ! आपके निर्मल शिर पर कालेकाले घुंघराले बाल उस प्रकार अत्यन्त सुशोभित हो रहे हैं जिस प्रकार कि मलयचन्दन के वृक्ष पर काले–काले सांप सुशोभित होते हैं।।६१।।

ननु नरेशसुखं सुरसम्पदं, ह्यभिलषामि न भुव्यपि सत्पदम्।
जडतनो र्वहनं द्रुतमेत्विति, मज मतिः खरवत् किल मे त्विति।।

अज ! ननु नरेशसुखं सुरसम्पदम् भुवि अपि सत्पदं न अभिलषामि (किन्तु) खरवत् जडतनोःवहनम् द्रुतम् इतिम् एतु। किल इति मे मतिः (अस्ति) तु (पादपूर्तौ)।

चाहूँ न राज सुख मैं सुरसम्पदा भी,
चाहूँ न मान यश देह नहीं कदापि।
हे ईश गर्दभ समा तन भार ढोना,
कैसे मिटे, कब मिटे, मुझको कहो ना।।६२।।

अर्थ–हे अज ! मैं राजसुख, देवविभूति और पृथिवी पर समीचीन पद नहीं चाहता हूँ किन्तु गर्दभ के समान जड़ शरीर का ढोना शीघ्र ही समाप्ति को प्राप्त हो, यही मेरी चाह है।।६२।।

तवलवाश्च तरंति सुभावि मे, परममानमदोऽत्र विभाविमे।
भगवतोस्त्यिति यद् ह्यमितं श्रुतं, सह दृशा मुनिना पठितं श्रुतम्।।

हे भगवन् ! अदः सुगावि परगमानम् अत्र विभौ तव इमे लवाः च तरंति इति भगवतः अमितम् श्रुतम् अस्ति यत् (मया) मुनिना दृशा सह हि पठितम् श्रुतम्।

मेरी सुसुप्त उस केवल की दशा में,
ये आपकी सहज तैर रहीं दशायें।
यों आपका कह रहा श्रुत सत्य प्यारा,
मैंने उसे सुन गुणा रुचि संग धारा।।६३।।

अर्थ – हे भगवन् ! यह भावी उत्कृष्ट ज्ञान है और इस व्यापक ज्ञान में आपकी ये समस्त दशाएं तैर रही हैं–प्रतिबिम्बित हो रही हैं, ऐसा भगवान् आपका अपरिमित श्रुत है जो मुझ मुनि ने श्रद्धा के साथ निश्चय से पढा है और सुना है।।६३।।

मयि रतोऽहमतो भवतो रुचि, गतबलस्तु विधिर्भवतोऽरुचिः।
विषधरो विषदन्तविहीनकः, सहचरोऽपि भवन् किमु हीनक।।

हे इन ! क ! भवतः रुचि अहम् रतः अतः भवतः अरुचिः मयि अस्तु (अतः) गतबलः विधिः (अस्तु)। विषदन्तविहीनकः हि विषधरः सहचरः भवन् अपि किमु? (कापि हानिः न)

संसार से विरत हूँ तुम ज्योति में हूं,
निस्तेज कर्म मुझमें जब होश में हूं।
बैठा रहे निकट नाग कराल काला,
टूटा हुआ, कि जिसका विषदन्त भाला।।६४।।

अर्थ–हे स्वामिन् ! आपकी रुचि--श्रद्धा या ज्योति में मैं रत हूँ–लीन हूँ अतः संसार से अरुचि मुझमें हो। सम्प्रति क्षीणशक्ति वाले कर्म मुझमे हैं तो रहें, उनसे हानि नहीं। जैसे विषदन्त से रहित सांप साथ में रहे तो क्या करेगा।।६४।।

किल विदा कमयंति विरागिणस्तदितरद् कुविदा भुवि रागिणः।
शुचिमिते जिन ते भव सन्मते!, समुदितं विशदं त्विति सन्मते।।

हे सन्मते ! भव जिन ! भुवि विरागिणः किल विदा कम् अयंति। रागिणः कुविदा तदितरत् (दुःखम्) (अयन्ति) इति ते सन्मते शुचिम् इते (शुचिमते) विशदम् समुदितम्।

विज्ञान से अति सुखी बुध वीतरागी,
अज्ञान से नित दुखी मद-मत्त, रागी।
ऐसा सदा कह रहा मत आपका है,
धर्मात्म का सहचरी, रिपु पाप का है।।६५।।

अर्थ – हे सद्बुद्धि से विशोभित ! हे प्रशस्तजिन ! पृथिवी पर विरागी मनुष्य सम्यग्ज्ञान से सुख को प्राप्त होते हैं और रागी मनुष्य कुज्ञान से दुःख को प्राप्त होते हैं। इस तरह शुचिता को प्राप्त करके समीचीन मत में स्पष्ट रूप से कहा गया है।।६५।।

मम सुवित् तनुरद्य मितांजसा, तव नुतेर्लघुना ह्यमिताज सा।
इति समुद्गम एव भृशं गमे, सरिदिवात्र सरित्पतिसंगमे।।

हे अज ! अत्र समुद्गमे गमे एव सरित् (तनुः) (किन्तु) सरित्पतिसंगमे इव मम सुवित् अद्य (एव) मिता तनुः (अस्ति किन्तु) तव नुतेः लघुना अंजसा सा हि अमिता (स्यात्)।

हो आज सीमित भले मम ज्ञान धारा,
होगी असीम तुम आश्रय पा अपारा।
प्रारम्भ में सरित हो पतली भले ही,
पै अन्त में अमित सागर में ढले ही।।६६।।

अर्थ – हे अज ! यद्यपि आज मेरा सम्यग्ज्ञान वास्तव में अल्प और सीमित है तथापि आपके स्तवन से वह शीघ्र ही निश्चयतः अपरिमित हो सकता है। जैसे कि नदी उद्गम स्थान में ही पतली होती है। परन्तु मार्ग में और समुद्र का समागम होने के समय अत्यन्त अपरिमित–सुविस्तृत हो जाती है।।६६।।

विरत ईश ! भवामि न हंसतः, पदयुगादिह तावदहं सतः।
विदमला मम नृत्यति सम्मुखं, सदय!यावदिता विहसन्मुखम्।।

हे सदय ! ईश ! हंसतः सतः पदयुगात् अहम् तावत् विरतः न भवामि यावत् ममसम्मुखं विहसन्मुखं इता विदमला नृत्यति।

लो आपके सुखमयी पदपंकजों में,
श्रद्धासमेत नत हूँ तब लौ विभो मैं।
विज्ञानरूप रमणी मम सामने आ,
ना नाच गान करती जब लौ न नेहा।।६७।।

अर्थ – हे सदय ! ईश ! हे दयालो भगवन ! इस जगत् में मैं आपके विवेकरूप श्रेष्ठ चरण युगल से तब तक विरत–पराङ्मुख नहीं होता हूँ जब तक मेरे सन्मुख प्रसन्नवदना निर्मलचेतना गृत्य करती है।।६७।।

स्तवनतो रसना च शिरोनतेः, पथि पदौ गमनाच्च गुरो न ! ते।
इति समीक्षणतो नयने न! मे, ह्यवयवा विमलाः सुमुने नमे !।।

हे सुमने ! न न ! नमे ! ते स्तवनतः मे रसना (ते) पथिगमनात् पदौ (ते) नते शिरः (ते) समीक्षणतः (मे) नयने इति (सर्वे) हि अवयवाः विमलाः (भूताः)।

स्वामी तुम्हें निरख सादर नेत्र दोनों,
आरूढ़ मोक्षपथ हो मम पैर दोनों।
ले ईश नाम रसना, शिर तो नती से,
यों अंग अंग हरषे तुम संगती से।।६८।।

अर्थ–हे सुमुने ! हे पूज्य जिनराज ! हे पूज्य गुरुदेव ! हे नमिनाथ भगवन् ! आपके स्तवन से जिह्वा, नमस्कार से मस्तक, मार्ग में गमन करने से पैर और दर्शन से दोनों नेत्र, इस प्रकार मेरे रागी अङ्ग निश्चय से निर्मल हो गये।।६८।।

गुणवतामिति चासि मतोऽक्षरः, किलि तथापि न चित्तवतोऽक्षरः।
नहि जिनाप्यसि तेन विना सितः, स्तुतिरियं च कृतात्र विनाशितः।।

हे जिन (त्वं) अक्षरः असि इति गुणवताम् मतः किल तथापि चित्तवतः अक्षरः (शब्दमयः) न (असि)। (किन्तु) तेन विना (शब्देन विना) (मया) सितः (ज्ञातः) अपि न (असि)। अतः अत्र विनाशितः (शब्दैः) इयम् च (ते) स्तुतिः (मया) कृता।

हो मृत्यु से रहित "अक्षर" हो कहाते,
हो शुद्ध जीव "जड अक्षर" हो न तातैं।
तो भी तुम्हें न बिन अक्षर जान पाया,
स्वामी अतः स्तवन अक्षर से रचाया।।६६।।

अर्थ – हे जिन ! यद्यपि आप अक्षर – अविनाशी हो ऐसा गुणवानों का मत है तथापि चित्तवान्–आत्मा के अक्षररूपता कैसे हो सकती है? क्योंकि आप सचेतन हैं और अक्षर पौद्गलिक होने से जड़ रूप हैं। आप अक्षररूप नहीं हैं यह ठीक है फिर भी अक्षर के बिना आप ज्ञात नहीं हैं। अर्थात् अक्षरों से ही आपका ज्ञान होता है। अतः इस जगत् में आपकी यह स्तुति मैंने शब्दों से की है।।६६।।

वै विषमयीमविद्यां विहाय ज्ञानसागरजां विद्याम्
सुधामेम्यात्मविद्यां नेच्छामि सृकृतजां भुवि द्याम्।।

अत्र भुवि अहम् आत्मवित् सुकृतजां याम् द्याम् न इच्छामि वै विषमयीम्
अविद्याम् विहाय "ज्ञानसागरजाम्" सुधाम् विद्याम् एमि।

चाहूँ कभी न दिवि को अयि वीर स्वामी,
पीऊं सुधारस स्वकीय बनूँ न कामी।
पा ''ज्ञानसागर'' सुमंथन से सुविद्या,
विद्यादिसागर बनूँ तज दूँ अविद्या।।१००।।

अर्थ – हे भगवन्! इस पृथिवीपर मै निश्चय् से पुण्योदय से प्राप्त होने वाले स्वर्ग को नही चाहता हूँ किन्तु विषरूप अविद्या को छोडकर ज्ञानरूप सागर (पक्ष में ज्ञानसार गुरु) में उत्पन्न आत्मविद्यारूपी सुधा को प्राप्त होता हूँ।

भूल क्षम्य हो

लेखक कवि मैं हूँ नहीं मुझमें कुछ नहि ज्ञान
त्रुटियाँ होवे यदि यहाँ शोध पढ़ें धीमान।।

रचना काल एवं स्थान परिचय

श्रीधरकेण चान्तेन केवलिना शुचिं गते।
सद्धक्षेत्रे सुरम्येऽत्र विख्याते कुण्डल गिरौ।।१।।

गुप्ति-ख-गति-संगेऽदो वीर संवत्सरे शुभे।।
श्रुतस्य पच्चमीमीत्वेतीमामितिं मितिं त्वितम् ।।

१ गुप्ति=३, ख=आकांश =०, गति--पंचम/ सिद्धगति=५, संग = आभ्यंतर एवं बाह्य परिग्रह = २,यानि ३०५२, अंकाना वीमतो तिः के अनुसार वीर निर्वाण संवत् २५०३ (विक्रम संवत् २०३२, शक् संव. १८६७) की ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी श्रुतपंचमी तिथि सोमवार २३ मई १६७७ ई. को दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागर महाराज के द्वारा श्री दिगम्बर जैन सिद्ध कुण्डलगिरी (कुण्डलपुर) दमोह (म.प्र.) में यह निरंजन शतक (संस्कृत) की रचना पूर्ण हुई।

मंगल कामना

विभावतः सुदूराणां सन्तति र्जयतात् सताम्।
द्यामेत्य पुनरागत्य स्वानुभूतेः शिवं व्रजेत्।।१।।

साधुना सा पदं ह्येतु भपतौ च जने जने।
गवि सर्वत्र शान्तिः स्यात् मदीया भावना सदा।।२।।

रेपतृत्तिं परित्यज्य ना नवनीतमार्दवम्।
णलाभाय भजेद् भव्यो भक्त्या साकं भृशं सदां।।३।।

विद्याब्धिना संशिष्येण ज्ञानोदधेरलङ्कृतम।
रसेनाध्यात्मपूर्णेन शतकं शिवदं शुभम्।।४।।

चित्ताकर्षि तथापि ज्ञैः पठनीयं विशोध्य तैः।
तं मन्ये पण्डितं योऽत्र गुणानवेषी भवेद् भवे।।५।।

साधव इह समाहितं नमन्ति सतां समाधृतसमा हितम् ।
कुर्वन् हृदि समाहितं तमहमपि वन्दे समाहितम् ।।

इह सतां हितं समाहितं समाधृतसमाः साधवः नमन्ति,
तं हृदि समाहितं कुर्वन् अहम् अपि वन्दे ।

शोभे प्रभो परम पावन पा पदों को,
योगी करें नमन ये जिनके पदों को।
सौभाग्य मान उनको उर में बिठा लूँ,
साफल्यपूर्ण निज-जीवन को बना लूँ।।१।।

अर्थ– इस जगत् में जो सत्पुरुषों का हित करने वाले हैं, समाहित–युक्ति–आगम से सिद्ध हैं, तथा समाधिस्थ हैं–ध्यान निलीन हैं, उन अरहन्त परमेष्ठी को साम्यभाव के धारक साधु नमस्कार करते हैं। अतः उन्हें हृदय में धारण करता हुआ मैं भी नमस्कार करता हूँ – उनकी त्रिकाल वन्दना करता हूँ ।।१।।

भावना शतकम्

रचयिता

आचार्य श्री विद्यासागर जी

निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन समिति, कलकत्ता

भावना शतकम्

सुधृतरत्नत्रयशरं गुरो ध्यानवसुविनष्टकुसुमशरम् ।
त्वां पीतानुभवशरं यजेऽमुं शमय मेऽनाश ! रम् ।।

हे गुरो! (ज्ञानसागर!) अनाश! सुधृतरत्नत्रयशरं ध्यानवसुविनष्टकुसुमशरम्, पीतानुभवशरम् त्वाम् (अहं) यजे मे अमुं रं शमय।

ध्यानाग्नि से मदन को तुमने जलाया,
पीयूष स्वानुभव का निज को पिलाया।
धारा सुरत्नत्रयहार, अतः कृपालो
पूजूँ तुम्हें मम गुरो मद मेट डालो ।।२।।

अर्थ – हे गुरो ! हे ज्ञानसागर ! हे अनाश ! नाश अथवा आशा से रहित! रत्नत्रय रूपहार के धारक, ध्यानरूप अग्नि के द्वारा काम को नष्ट करने वाले और अनुभवरूपी जल का पान करने वाले आपकी मैं पूजा करता हूँ। आप मेरी इस कामाग्नि को शान्त कर – मुझे निष्काम बनने में सहायक हों।।२।।

भक्त्येप्सितास्त्रवारिर्मोहतमः प्रसारत्वादवारिः ।
धर्मवारिदां वारिमीडेऽनिच्छन् विषयवारि ।।

ईप्सितास्त्रवारिः मोहतमः प्रसारत्वाद् अवारिः (अहम्)
विषयवारि अनिच्छन् धर्मवारिदां वारिं भक्तया ईडे।

अन्धा विमोहतम में भटका फिरा हूँ,
कैसे प्रकाश बिन संवर भाव पाऊँ।
हे शारदे ! विनय से द्वय हाथ जोड़ूँ,
आलोक दे विषय को विष मान छोड़ूँ ।।३।।

अर्थ– जो सवंर का इच्छुक है तथा मोहरूपी तिमिर का प्रसार होने से नेत्रहीन है, ऐसा मैं विषय रूप जल की इच्छा न करता हुआ धर्मरूप जल को देने वाली सरस्वती की भक्तिपूर्वक स्तुति करता हूँ ।।३।।

विरतोऽकामहानये शतकं कामदं च कामहानये ।
नम्रः कामहानये वदेऽविद्कृतकामहानये ।।

अये अकामहा ! क ! नये विरतः, अविद्कृतकामहानये नम्रः सन्)
अमहान् (अहम्) कामदं शतकं च कामहानये वदे।

सम्मान मैं समय का करता कराता,
हूँ 'भावनाशतक' काव्य अहो ! बनाता।
मेरा प्रयोजन प्रभो ! कुछ और ना है,
जीतूँ विभाव भव को बस भावना है।।४।।

अर्थ– हे अकामहा ! पापरूपी रोग को नष्ट करने वाले ! हे क ! हे ब्रह्मन् ! जो नीति विज्ञान अथवा आगम में विरत –विशेषरूप से लीन है अथवा नीति विज्ञान से रहित है, अविद् – अज्ञानी है, काम का नाश करने वाले के लिये विनम्र है और अमहान्–लघु है, ऐसा मैं कामहानि –आत्मसम्बन्धी रागादि रोगों की हानि के लिये कामद–अभिलाषित पदार्थ को देने वाले भावनाशतक को कहता हूं ।।४।।

यतो जिनपददर्शनं तदस्त्विह दर्शनशुद्धं दर्शनम्।
दर्शयति सद्दर्शनं जगति जयतु जैनं दर्शनम् ।।

दर्शनशुद्धं दर्शनं तत् अस्तु यतो जिनपददर्शन (भवति)
(इति) जैनं दर्शनं सद्दर्शनं दर्शयति (तत्) जगति इह जयतु।

आदर्श सादृश सुदर्शन शुद्धि प्यारी,
पाके जिसे जिन बने स्व-परोपकारी।
ऐसा जिनेश मत है मत भूल रे ! तू,
साक्षात् भवाम्बुनिधि के यह भव्य सेतु ।।५।।

अर्थ– वह सम्यग्दर्शन दर्पण के समान निर्मल हो जिससे जिनपद – तीर्थकरपद का दर्शन होता है। इस प्रकार जैनदर्शन–जैनशास्त्र सम्यग्दर्शन को दिखाता है– प्राप्ति कराता है। जगत् में वह सम्यग्दर्शन जयवंत रहे ।।५।।

मोहारेः पराभवे कषायादेरपि दृशा पराभवे ।
यन्ति नराः परा भवेऽस्त्यजवागितीदं परा भवे ।।

मोहरेः पराभवे (सति) दृशा कषायादेः–अपि पराभवे (सति) भवे
पराः नराः इदम् (दर्शनविशुद्धिं) यान्ति इति भवे परा अजवाक् अस्ति।

होता विनष्ट जब दर्शनमोह स्वामी,
जाती तथा वह अनन्त कषाय नामी ।
पाते इसे जन तभी जिन ! जैन जो हैं,
सद्भारती कह रही जनमीत जो हैं ।।६।।

अर्थ– मोहरूप शत्रु का पराभाव होने पर तथा सम्यग्दर्शन के द्वारा कषाय आदि का भी पराभव होने पर संसार गें श्रेष्ठता को प्राप्त हुए मनुष्य इस दर्शनविशुद्धि को प्राप्त होते हैं, ऐसी जिनेन्द्र गगवान् की उत्कृष्ट वाणी है ।।६।।

करुणाभाववसत्यां सद्भिरिदं सेवितायां वसत्याम् ।
लसतु मानव ! सत्यां वसतिपतिप्रभेव वसत्याम् ।।

वसत्यां सत्यां वसतिपतिप्रभा इव हे मानव !
सद्भिः सेवितायां वसत्यां करुणाभाववसत्यां (सत्यां) इदं (दर्शनं) लसतु।

जो अंग-अंग करुणारस से भरा है,
शोभायमान दृग से वह हो रहा है।
औचित्य है समझ में यत बात आती,
अत्युज्ज्वला शशिकला निशि में सुहाती ।।७।।

अर्थ– रात्रि होने पर जिस प्रकार चन्द्रमा की प्रभा सुशोभित होती है, उसी प्रकार हे मानव ! सत्पुरुषों के द्वारा चन्द्रमा की प्रभा सुशोभित होती है, उसी प्रकार है मानव ! सत्पुरुषों के द्वारा सेवित प्रवृत्ति में करुणाभाव की वसति–स्थिति होने पर यह सम्यग्दर्शन सुशोभित हो ।।७।।

विराधनं न राधनं निदानमस्य केवलं नरा धनम्।
ददाति सदाराधनं राधनं मुक्तिदाराधनम् ।।

हे नराः ! निदानम् अस्य (दर्शनस्य) विराधनम्, (निदानं) केवलं धनं ददाति,
न राधनं (ददाति) (किन्तु) सदाराधनं मुक्तिदाराधनं राधनं च (ददाति)।

हो प्राप्त, स्वर्ग तक पुण्यविधान से भी,
होता न प्राप्त दृग शस्त निदान से भी ।
सत् साधना सहज साध्य सदा दिलाती,
लक्ष्मी अहो मृदुल हाथ तभी मिलाती ।।८।।

अर्थ– है मानवो ! निदान (भोगाभिलाषा) सम्यग्दर्शन का विघात करने वाला है। निदान, केवल धन देता है, संतोष नहीं देता, किन्तु सदाराधना–सत्पुरुषों की सेवा मुक्ति स्त्रीरुप पूर्णधन और संतोष को देता है ।।८।।

जितमोहहारकेण व्यालसता शुचिनयमणिहारकेण।
विना ह्यपि हारकेण प्राप्यते न व्यवहारकेण ।।

शुचिनयमणिहारकेण, व्यालसता, जितमोहहारकेण,
हारकेण बिना अपि इदं प्राप्यते (किन्तु) व्यवहारकेण न (प्राप्यते)।

दुर्जेय मोहरिपु को जिनने दबाया,
शुद्धोपयोग मणिहार गले सजाया।
वे साधु बोध बिन भी दृग शुद्धि पाते,
जा बाह्य में निरत हैं दुख ही उठाते ।।६।।

अर्थ– जिसमें निश्चयनय मणिमय हार है, जो सुशोभित है तथा जिसने मोहरूपी चोर को जीत लिया है ऐसे हारक–विशिष्ट ज्ञान के बिना भी यह सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। किन्तु मात्र व्यवहारनय से नहीं प्राप्त होता ।।६।।

दिव्यालोकप्रदानेशदर्शनशुद्धिभास्करः ।
भव्याब्जककदा वाशस्पर्शकोंऽशुशुभाकरः ।।

(दर्शनं) दिव्यालोकप्रदानेशदर्शनशुद्धिभास्करः अंशुशुभाकरः,
अशस्पर्शकः, भव्याब्जककदाः (अस्ति)। वा निश्चये (न)।

आलोक दे सुजन को रवि से जगाती,
है भव्य कंज दल को सहसा खिलाती।
है पापरूप तम को क्षण में मिटाती,
ऐसी सुदर्शन विशुद्धि किसे न भाती?।।१०।।

अर्थ— केवल ज्ञान के प्रदान करने में समर्थ दर्शनविशुद्धिरूपी सूर्य, किरणों की शुभ खान है, अहिंसा से सुशोभित है, और भव्यजीव रूप कमलों को सुख देने वाला है,यह निश्चय है ।।१०।।

न मयाऽकं न नपावनं विनयो यियासुनार्च्यते पावनम्।
मुक्त्वा सुधीः पावनं कोऽटेद् ग्रीष्मार्त्तः पावनम् ।।

हे नप ! पावनं अवनं यियासुना मया विनयः अर्च्यते, न
अकं (अच्यते) कः सुधीः ग्रीष्मार्तः पावनं मुक्त्वा पावनं अटेत् (कोऽपि नेत्यर्थः)।

ना पाप को, विनय को शिर मैं नमाता,
हे वीर ! क्योंकि मुझको निज सौख्य भाता।
जो भी गया तपन तापतया-सताया,
क्या चाहता अनल को, तज नीर छाया?।।११।।

अर्थ– हे नप ! हे पूज्यरक्षक ! पवित्र रक्षण को प्राप्त करने के इच्छुक मेरे द्वारा विनय की पूजा की जाती है, अक – पाप की नहीं। कौन ऐसा विद्वान् है जो गरमी से पीड़ित होता हुआ पवन – वायु को छोड़ पवन–अग्नि को प्राप्त हो ? अर्थात् कोई नहीं ।।११।।

एतद्द्विषं साधनं जयश्रीरिवेनमूनसाधनम्।
ब्रजेन्नहि सत् साधनं फलति संसारेऽञ्जा धनम् ।।

एतद्द्विष (विनयविहीनं) साधनं न ब्रजेत् ऊनसाधनम्
इनम् जयश्रीः इव। सत् साधनं हि संसारे अञ्जसा धनं फलति।

सेना विहीन नृप ज्यों जय को न पाता,
त्यों हीन जो विनय से शिव को न पाता।
सत् साधना यदि करे दुख भी टलेगा,
संसार में सहज से सुख भी मिलेगा।।१२।।

अर्थ– विनय से द्वेष करने वाले मनुष्य को साधन–सिद्धि उस प्रकार नहीं प्राप्त होती, जिस प्रकार कि ऊनसाधन – कम सेना वाले राजा को विजय लक्ष्मी प्राप्त नहीं होती। उचित है, क्योंकि समीचीन साधन – उपाय ही यथार्थ रूप से धन को फलता है ।।१२।।

एतद्धहता गमितं ह्यनन्तान्तं पापं सम्यगमितम्।
स्वमूल्यं येन गमितं तस्मै कं किं नाङ्ग मितम् ।।

हे अङ्ग ! अनन्त ! न ! येन एतद्वहता (विनयशीलेन) स्वमूल्यं गमितं
अमितं पापं अन्तं गमितं (तदा) तस्मै मितं कं किं ? (किम पि नेत्यर्थः)।

निर्भीक हो विनय आयुध को सुधारा,
हे वीर ! मान रिपु को पुनि शीघ्र मारा।
पाया स्वकीय निधि को जिसने यदा है,
क्या माँगता वह कभी जड़ संपदा है ।।१३।।

अर्थ– अङ्ग ! अनन्त ! न ! हे अन्तातीतजिनेन्द्र ! विनयसम्पन्नता को धारण करने वाले जिस मनुष्य ने स्वमूल्य–आत्ममूल्य को प्राप्त किया है, और अपरिमित पाप को अन्त किया है उसके लिये मित–सीमित–सांसारिक सुख क्या है? वह तो मोक्षसम्बन्धी अनन्तसुख का पात्र होता है ।।१३।।

स विनयशीलोऽकेन श्रितमहितमपि कुमार्गगं लोकेन ! ।
मुदा विदालोकेन स्वपथगं करोति लोके न ! ।।

हे लोकेन !न! अकेन श्रितं कुमार्गगं अहितं अपि लोके
विनयशीलः मुदा विदालोकेन स्वपथगं करोति।

वे व्यर्थ का नहिं घमण्ड कभी दिखाते,
सन्मार्ग को विनय से विनयी दिखाते।
पापी कुधी तक तभी भवतीर पाते,
विद्वान भी हृदय में जिनको बिठाते ।।१४।।

अर्थ– हे लोकेन ! हे जगत् के स्वामी जिनेन्द्र ! दुःख या पाप से युक्त कुमार्गगामी शत्रु को भी लोक में विनयशील मनुष्य हर्षपूर्वक ज्ञानरूप प्रकाश के द्वारा सुपथगामी बना देता है। ।।१४।।

किं स्याद् भगवन्नमितं सुखमवनाविह बिना ह्यनेन मितम्।
वन्दे मुनिभिर्नमितं ततो विदांवरैर्मानमितम् ।।

हे भगवन् ! इह अवनौ अमितं (ना) मितं सुखं अनेन
विनयेन विना किं स्यात्? ततः विदांवरैः मुनिभिः मानं
इतं नमितं (च) (विनयपदं अहं) हि वन्दे।

संसार में विनय के बिन तू चलेगा,
आनन्द भी अमित औ मित क्यों मिलेगा।
योगी सुधी तक सदा इसका सहारा,
लेते अतः नमन हो इसको हमारा ।।१५।।

अर्थ– हे भगवन् ! इस पृथिवी पर अपरिमित और परिमितसुख क्या विनय के बिना हो सकता है? अर्थात् नहीं। इस विनय के द्वारा ही ज्ञानी मुनियों ने सन्मान और नमस्कार को प्राप्त किया है ।।१५।।

एतद्द्विषः प्लवन्ते न भवार्णवं भयङ्करम्।
वान्तदोष भवं ते न भवाभवं न यन्त्यरम् ।।

हे वान्तदोष !न! भव! एतद्द्विष (विनयरहिताः) भयङ्करं
भवार्णवम् न प्लवन्ते ततः) ते अभवं भवं न अरं यन्ति ।

विद्वेष जो विनय से करते कराते,
निर्भान्त वे नहिं भवोदधि तैर पाते ।
जाना उन्हें भव-भवान्तर क्यों न होगा,
ना मोक्ष का विभव संभव भव्य होगा ।।१६।।

अर्थ– हे वान्तदोष ! हे पूज्य ! हे कल्याणरूप ! विनयशीलता से द्वेष रखने वाले मनुष्य, भयंकर संसारसागर को नहीं तैर सकते। इसलिये वे अभवभव – जन्मरहित सिद्धपर्याय को शीघ्र नहीं प्राप्त होते ।।१६।।

वामवमिना ह्यमानं जगदकमनुभवति दंदह्यमानम्।
स हित्वाऽग्राह्यमानं जगादेत्यजः संगृह्य मानम् ।।

वामवमिना हि दंदह्यमानं अमानं जगद्अकं अनुभवति,
इति स अजः अग्राह्यमानं हित्वा मानं संगृह्य जगाद।

कामाग्नि से जल रहा त्रयलोक सारा,
देखे जहाँ दुख भरा कुछ ना सहारा।
ऐसे जिनेश कहते, जग के विधाता,
जो काम मान मद त्याग बने प्रमाता ।।१७।।

अर्थ– 'कामरूप अग्नि से अत्यधिक जलता हुआ जगत् अपरिमित दुःख का अनुभव करता है' ऐसा उन जन्मातीत–जिनेन्द्र ने अग्राह्य – ग्रहण करने के आयोग्य मान को छोडकर तथा ज्ञान का अच्छी तरह संग्रह कर कहा है ।।१७।।

संयमिभिर्महितेन शीलेन समं सुमते! मम हि तेन।
मतिरतिवाम ! हितेन त्वस्तु परं स्वधाम हि तेन।।

हे अतिवाम! सुमते! संयमिभिः महितेन हितेन तेन शीलेन
समं हि मम मतिः अस्तु। तेन (कारणेन) स्वधाम तु परं (अस्तु)।

पूजा गया मुनिगणों यति योगियों से,
त्यों शील, नीलमणि ज्यों जगभोगियों से।
सत् शील में सतत लीन अतः रहूँ मैं,
लो ! मोक्ष को निकट ही फलतः लखूँ मैं ।।१८।।

अर्थ– हे निष्काम ! हे सुमतिसंपन्न ! जिनेन्द्र ! संयमी साधुओं के द्वारा पूजित, हितकारी उस शीलव्रत के साथ ही मेरी बुद्धि रहे और इस कारण श्रेष्ठ स्वधाम–मोक्ष प्राप्त हो ।।१८।।

हिमांशुनाऽनि हिमेन ह्यलं गाङ्गेनाम्बुनाऽनि हिमेन।
वरोऽस्त्वस्यमहिमेन बाह्येतरदाहहा हि मे न ! ।।

हे!इन!न! हिमेन हिमांशुना अपि गाङ्गेनाम्बुना अपि हिमेन
अलं मे अस्य (शीलस्य) बाह्येतरदाहहा महिमा वरः अस्तु।

गंगाम्बु को न हिम को शशि को न चाहूँ,
चाहूँ न चन्दन कभी मन में न लाऊँ।
जो शीलझील मन की गरमी मिटाती,
डूबूँ वहाँ सहज शीतलता सुहाती ।।१६।।

अर्थ— हे स्वामिन् हे जिनेन्द्र ! बर्फ, चन्द्रमा, गंगाजल, और चन्दन की आवश्यकता नहीं है। इस शीलव्रत की बाह्य और आभ्यन्तर दाह को नष्ट करने वाली उत्कृष्ट महिमा ही मेरे पास रहे ।।१६।।

स्तुतानि ह्यङ्ग तानि व्रतानि यानि सता शुचितां गतानि।
अकानि सम्यगतानि त्यक्त्वा गतान्यनागतानि ।।

हे अङ्ग ! आगतानि अनागतानि गतानि च अकानि हि त्यक्त्वा
यानि सता स्तुतानि शुचितां गतानि व्रतानि तानि सम्यक् (अहं) अतानि।

मैं भूत भावि सब साम्प्रत पाप छोड़ूँ,
चारित्र संग झट चंचल चित्त जोड़ूँ।
सौभाग्य मान जिसको मुनि साधु त्यागी,
हैं पूजते नमन भी करते विरागी ।।२०।।

अर्थ– अङ्ग जिनेन्द्र ! आगत–वर्तमान, अनागत–भविष्यत् और गत–भूतकाल सम्बन्धी पापों को छोंडकर सत्पुरूषों के द्वारा स्तुत होते हुए जो शुचिता–निरतिचारवृत्ति को प्राप्त हुये हैं उन व्रतों को मैं प्राप्त होता हूं ।।२०।।

सा भातु गजगतितया सती नानेन संसृतिर्गतितया।
सिद्धः सदा गतितया सदागतिनोषा जगति तया।।

जगति गजगतितया सा सती भातु, गतितया संसृतिः (भातु) सिद्धः तथा गतितया (भातु) सदागतिना उषा (भातु) अनेन (शीलेन व्रतेन वा) ना सदा (भातु)।

जैसे सती जगत में गजचाल हो तो,
शोभे उषा पवन मन्द सुगन्ध हो तो।
संसार शोभित रहे गतिचार होवें,
सर्वज्ञ सिद्ध सब वे गतिचार खोवें।
वैसा सुशीलव्रत संयमयोग सेरे !
होते सुशोभित सुधी, न हि भोग से रे ।।
सिद्धान्तपारग सभी गुरु यों बताते
सद्ध्यान में सतत जीवन हैं बिताते ।।२१।।

अर्थ– संसार में वह पतिव्रता स्त्री हाथी जैसी चाल से सुशोभित हो, संसार चतुर्गतियों से सुशोभित हो, सिद्ध परमेष्ठी प्रसिद्ध केवलज्ञान से अथवा अगतिता–गति राहित्य से सुशोभित हों, प्रातःकाल वायु से सुशोभित हो और मनुष्य इस शीलव्रत से सदा सुशोभित हो ।।२१।।

शीलरथो भयाऽऽरूढो वामोऽनेन भृशं स्वतः।
किल ह्यथो भयारूढो यमो येन स शं गतः ।।

अथो हि अनेन मया वामः शीलरथः आरूढ येन
स शं गतः यमः किल स्वतः भृशं भयारूढ (अवलोक्यते)

निर्भीक मैं बढ़ रहा शिव ओर स्वामी,
आरूढ़ शीलरथ पै अतिशीघ्रगामी।
लो ! काल व्याल-विकराल-कुचाल वाला,
है भीति से पड़ गया वह पूर्ण काला ।।२२।।

अर्थ– अब मैंने इस सुन्दर शीलरथ पर आरोहण किया है जिससे वह हिंसक यम स्वयं ही अत्यन्त भयभीत दिखाई देता है ।।२२।।

यथा कल्पते मदनता रसतो मदनाहितेन मदनः ।
मदोऽनलतोऽपि मदनः प्रज्ञानयोगात् कामद ! न ! ।।

हे कामद ! न ! यथा रसतः मदनता, मदनाहितेन मदनः, अनलतः मदनः, कल्पते (तथा) प्रज्ञानयोगात् मदः अपि (कल्पते)।

होता विनिर्विष रसायन से धतूरा,
है अग्नि से पिघलता झट मोम पूरा।
ज्यों काम देख शिव को दश प्राण खोता,
विज्ञान को निरख त्यों मद नष्ट होता ।।२३।।

अर्थ– हे मनोरथ को पूर्ण करने वाले जिनेन्द्र ! जिस प्रकार रसायन से धतूर की मादकता, कामवैरी के द्वारा काम, और अग्नि से मैन नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार प्रकृष्ट–श्रेष्ठ ज्ञान के योग से मद–अहंकार नष्ट हो जाता है।।२३।।

कुसुदमथो वा मेन जलधिर्वामा यूनेव वामेन।
मुदमेति च वामेन ! मनोऽनेनोऽनेव वा मे न ! ।।

हे अनेनः ! वाम इन न मेन कुमुदं जलादिः वा वामेन यूना वामा इव
मे मनः च अनेन (ज्ञानोपयोगेन) मुदं एति

संयोग पा मदन मञ्जुल कान्त का वे,
जैसा नितान्त ललनाजन मोद पावे।
किंवा सुखी कुमुद वारिधि चन्द्र से हो,
वैसा मदीय मन मोदित ज्ञान से हो ।।२४।।

अर्थ– हे निष्पाप ! हे सुन्दर ! हे स्वामिन्। हे जिनेन्द्र ! जिस प्रकार चन्द्रमा से कुमुद अथवा समुद्र और सुन्दर युवक से स्त्री हर्ष को प्राप्त होती है उसी प्रकार मेरा मन इस अभीक्ष्णज्ञानोपयोग से हर्ष को प्राप्त हो ।।२४।।

मुनिषु मम विपाकस्य त्वं भव सखाग्निरिव भुवि पाकस्य।
यद् भवेद् विपाकस्य व्ययश्चायः सुखाविपाकस्य।।

भुवि पाकस्य सखा अग्निः इव मुनिषु विपाकस्य मम त्वं (ज्ञानोपयोगः) सखा भव।
यद् विपाकस्य व्ययः सुखविपाकस्य आयः च भवेत्।

ज्ञानोपयोग बन तू मम मित्र प्यारा,
ज्यों अग्नि का पवन मित्र बना उदारा।
पीड़ा मिटे, सुख मिले, भव-जेल छूटे,
धारा अपूर्व सुख की न कदापि टूटे ।।२५।।

अर्थ– पृथ्वी पर जिस प्रकार वायु का सखा अग्नि है, उसी प्रकार हे ज्ञानोपयोग! तुम मुझ अज्ञानी मुनि के सखा होओ, जिससे दुखःदायक कर्मोदय का विनाश और सुखदायक कर्मोदय की प्राप्ति हो ।।२५।।

महतां वराजराजः शिरसि यदूनोऽपि धृतराजराजः।
श्रितो मुनिराजराज स्यादजोऽनेन राजराजः ।।

मुनिराजराज! महतां वर अजर! शिरसि धृतराजराजः अपि यदूनः (ज्ञानोपयोगेन)
अज (किन्तु) राजराजः अजः (कृष्णः) अनेन (ज्ञानोपयोगेन) श्रितः स्यात्।

स्वामी ! भले ही शिर पै शशि भा रहा हो,
विज्ञान से विकल शंकर ही रहा हो।
श्रीकृष्ण पाकर इसे कुछ ही दिनों में,
होंगे सुपूज्य यतियों मुनि सज्जनों में ।।२६।।

अर्थ– हे श्रेष्ठ मुनियों के नाथ! हे महापुरूषों में महान् ! हे जरारहित ! जिनेन्द्र ! शिर पर चन्द्रमा को धारण करने वाला शिव भी जिससे रहित हो अज–छाग हुआ, किन्तु राजराजेश्वर कृष्ण इस ज्ञानोपयोग से सहित हो तीर्थंकर होंगे।।२६।।

च ञ्चलचित्तसंवरं कलयति च कुरुतेऽयं विधिसंवरम्।
विमदमलीमसंवरं गता मुनय आहुः संवरम्।।

अयं (ज्ञानोपयोगः) विधिसंवरं कुरुते, चञ्चलचित्तसंवरं च कलयति (इति)
विगदमलीमसंवरं संवरं गता मुनयः आहुः।

ज्ञानोपयोग वर संवर साधता है,
चाञ्चल्यचित्त झट से यह रोकता है।
भाई निजानुभवियों यति नायकों ने,
ऐसा कहा सुन ! जिनेन्द्र उपासकों ने ।।२७।।

अर्थ– ज्ञानोपयोग, कर्मों के संवर को तथा चञ्चलचित्त के निरोध को करता है ऐसा मद रूपी मैल से रहित उत्कृष्ट संवर को प्राप्त मुनि कहते हैं ।।२७।।

ज्ञानरूपी करे दीपोऽमनोऽचलो यतेऽस्त्ययम्।
सन्नरूपी हरेऽपापो जिनोऽवलोक्यते स्वयम्।।

हे हरे ! अमनः ! अयं अचलः ज्ञानरूपी दीपः करे अस्ति (चेत्)
अपापः अरूपी सन् जिनः स्वयं अवलोक्यते।

जाज्वल्यमान न कदापि चलायमान,
हो ज्ञानदीप कर में यदि विद्यमान।
रूपी दिखे, पर पदार्थ सभी अरूपी
है स्पष्टरूप दिखते जिन चित्स्वरूपी ।।२८।।

अर्थ– हे हरे ! हे भावमन से रहित ! हे मनु ! यदि यह अविनाशी ज्ञानरूपी दीपक हाथ में है तो पापों से रहित एवं रूप से शून्य जिन, स्वयमेव दिखने लगता है।।२८।।

स ना भुवि नायकेन प्रभातु शरो ऽप्यजवाक् विनायकेन।
विरतो विनायकेन संवेगेन विनाऽयकेन।।

हे विन!अयक!इन!न! भुवि नायकेन शरः विनायकेन अजवाक् अपि प्रगातु।
विनायके विरतः स ना संवेगेन (प्रभातु)।

माला सुमेरूमणि से जिस भाँति भाती,
वाणी गणेश मुख से जिनकी सुहाती।
संवेग से मनुज भी उस भाँति भाता,
जो है सदैव जिनका गुणगीत गाता।।२६।।

अर्थ– हे विशिष्टपूज्य ! हे गतिशील ! हे स्वामिन् ! जिनेन्द्र ! जिस प्रकार पृथ्वी पर नायक – मध्यमणि से हार सुशोभित होता है ओर विनायक–गणधर से तीर्थंकर की दिव्यवाणी शोभायमान होती है उसी प्रकार गणधर में लीन मनुष्य भी संवेग से शोभायमान होवे।।२६।।

मुनितात्मनि शान्तेन स्थितेनं च निशेशेन निशान्ते न।
विरवोऽपि निशान्ते नः सत्कवेः कविता निशान्तेन।।

हे नः ! आत्मनि स्थितेन अन्तेन शान्तेन मुनिता, निशेशेन निशा
शान्तेन सत्कवेः कविता, च निशान्ते विरवः अपि (प्रभातु)।

बोले विहंगम, उषा मन को लुभाती,
शोभावती वह निशा शशि से दिखाती।
हो पूर्ण शान्तरस से कविता कहाती,
शुद्धात्म में मुनि रहे मुनिता सुहाती।।३०।।

अर्थ– हे जिनेन्द्र ! आत्मा में स्थित शान्त धर्म से जिस प्रकार मुनिता (मुनिपद) सुशोभित होती है, चन्द्रमा से जिस प्रकार रात्रि सुशोभित होती है, शान्त रस से जिस प्रकार सुकवि की कविता सुशोभित होती है और प्रातःकाल से जिस प्रकार पक्षियों का कलरव सुशोभित होता है, उसी प्रकार संवेग से मुनि सुशोभित हो।।३०।।

भवोरुवनधनंजयः कर्मकौरवगर्वान्तधनंजयः।
ततो निजं धनं जय ह्ययं करणभेकधनंजयः।।

अयं (संवेगः) करणभेकधनंजयः कर्मकौरवगर्वान्तधनंजयः
भवोरुवनधनंजयः (अस्ति) ततः निजं धनं हि (त्वं) जय।

ज्यों मारता सहज अर्जुन कौरवों को,
संवेग त्यों दुरति कर्म अरातियों को।
दावा यथा सघन कानन को जलाता,
संसाररूप वन को यह भी मिटाता।।
ज्यों नाग नाम सुन मेंढक भाग जाता,
त्यों ही कषाय इसके नहिं पास आता।
ऐसी विशेष महिमा इसकी सुनी रे !
संवेगरूप घन पा बन जा धनी रे !।।३१।।

अर्थ– यह संवेग इन्द्रियरूप मेंढकों को नष्ट करने लिये धनंजय–नाग है, कर्मरूपी कौरवों के गर्व को नष्ट करने के लिये धनंजय–अर्जुन है और संसाररूपी वन को भस्म करने के लिये धनंजय–अग्नि है इसलिये आत्मधनस्वरूप संवेगभाव जयवंत हो।।३१।।

चिदानन्दोषाकरोऽयमशेषदोषोन ! सदोषाकरः।
विलसत्वदोषाकरो दोषायां न नु दोषाकरः।।

अयं (संवेगः) अशेषदोषोन ! चिदानन्दोषाकरः सदा उषाकरः अदोषाकरः
अतः विलसतु (किन्तु) दोपायां दोषाकरः न नु (विलसतु)।

संवेग है परम सौख्यमयी उषा का,
धाता, परन्तु शशि है दुखदा निशा का।
निर्दोष है यह सदा शशि दोष धाम,
संवेग श्रेष्ठ शशि से लसता ललाम।।३२।।

अर्थ– समस्त दोषों से रहित जिनेन्द्र ! यह संवेगभाव, चिदानन्द–आत्मानन्द को प्रकट करने के लिये उषाकर–प्रभातकाल है, सदा उषाकर है– कामी मनुष्य को दुःख देने वाला है और दोषाकर–अवगुणों की खान नहीं है, अतः सुशोभित हो, किन्तु दोषा–रात्रि में दोषाकर–चन्द्रमा सुशोभित न हो।।३२।।

जितको दृग्भयानकः पापाब्धिवाडवोऽयं भयानकः।
अवतीति विभया न कश्चञ्चलमनोमृगभयानकः।।

हे विभयाः ! अयं (संवेगः) दृग्भया जितकः अनकः भयानक पापाब्धिवाडवः चञ्चलमनोमृगभयानकः च इति कः न अवति?

सम्यक्त्वज्योति बल से रवि को हराता,
हे तेज वाडव भवाम्बुधि को सुखाता।
चाञ्चल्यचित्त मृग को यह व्याघ्र खाता,
संवेग आत्मिक महासुख का विधाता।।३३।।

अर्थ– हे विभय ! भय से रहित जिनेन्द्रदेव ! यह संवेगभाव सम्यग्दर्शन की भा–दीप्ति से सूर्य को जीतने वाला है, पाप या दुःख से रहित है, भयानक है, पापरूप समुद्र को सुखाने के लिये वडवानल है और चञ्चल मनरूपी मृग के लिये भयानक शार्दूल है, यह कौन नहीं जानता?।।३३।।

संसारदेहभोगेभ्यो भीतिर्भवति सतां परा।
यत् सा सदेह भोऽघेभ्यो हीतिर्भवेऽमिता खरा।।

भो संसारदेहभोगेभ्यः सतां परा भीतिः भवेत् यत् इह भवे
सदा अघेभ्यो अमिता खरा सा ईतिः (भवेत्)।

संसार से स्वतन से जड़ भोग से वे,
होते निरीह बुध हैं इनको न सेवें।
पीड़ा अतीव इनसे दिन रैन होती,
शीघ्रातिशीघ्र बुझती निजबोध ज्योति।।३४।।

अर्थ– हे भगवन्! संसार, शरीर और भोगों से सत्पुरुषों को सदा भय रहे, जिससे इस संसार में पापों से वह अपरिमित एव सातिशय ईति- पीडा हो, पापों से पलायन हो।।३४।।

ज्वलतात्र शङ्करेण ह्यनाधृतोऽतोऽशङ्करेण।
जगत् सुखि शङ्करेण त्रिशूलमहताऽशङ्करेण।।

हे अशङ्क ! अत्र रेण ज्वलता शङ्करेण त्यागः हि अनाधृतः अतः
त्रिशूलमहताऽशङ्करेण शंकरेण जगत् सुखि? (कदापि नेत्यर्थः)

कामाग्नि से जल रहा यदि पूर्ण रागी,
धाता नहीं वह न शंकर है न त्यागी।
तो विश्व का अमित दुःख त्रिशूलधारी,
कैसे मिटाकर, बने स्वपरोपकारी ?।।३५।।

अर्थ– हे अशंक ! इस जगत् में कामाग्नि से जलते हुये शिव ने त्यागधर्म का अनादर किया इसलिये त्रिशूलधारी और हिंसाकारी शङ्कर से जगत् सुखी है क्या? अर्थात् नहीं है।।३५।।

विदधानमामोदकं नासां कुसुममिव रसनां मोदकम्।
मोदयतु या मोदकं तृषितमिह नुतसमामोदकम्।।

हे नुतसम ! हे अम ! इह नासां आमोदकं विदधानं कुसुमं रसनां मोदकं तृषितं मोदकं उदकं इव (अयं त्यागधर्मः) मा (मां) मोदयतु।

ले क्षीर स्वाद रसना अति मोद पाती,
पा फूल फूल-सम नासिक फूल जाती।
संतुष्ट ओ तृषित शीतल नीर से हो,
मेरा सुतृप्त मन तो अघत्याग से हो।।३६।।

अर्थ– हे नुतसम ! सबके द्वारा स्तुत ! हे अम ! हे बन्धन से रहित ! जिस प्रकार सुगन्धित पुष्प नासिका को, लड्डू रसना को और पानी प्यासे मनुष्य को प्रमुदित करता है उसी प्रकार यह त्यागधर्म मुझे प्रमुदित करे।।३६।।

मोदेऽमुनाहमधुना नासानन्दनेनेवाम्रमधुना।
लता कोकिलो मधुना नन्दनो जननीस्तनमधुना।।

नासानन्दनेन आम्रमधुना कोकिलः, जननीस्तनमधुना नन्दनः,
मधुना लता इव, अहं अधुना अमुना (त्यागधर्मेण) मोदे।

संतुष्ट बाल जननीस्तनपान से हो,
फूले लता ललित लो ! जलस्नान से हो।
हो तुष्ट आम्रकलिका लख कोकिला वे,
मेरा कषाय तज के मन मोद पावे।।३७।।

अर्थ– जिस प्रकार घ्राण को आनन्द देने वाले आम के मकरन्द से कोयल, माँ के स्तन से निकले दूध से बालक और जल से लता प्रसन्न होती है उसी प्रकार मैं इस समय इस त्यागधर्म से प्रसन्न हो रहा हूँ।।३७।।

शमयति नान्नं वसुकं ह्यतिधृतयुतमपि गतमधिकं वसुकम्।
तथा भवक्षुद्वसुकं श्रुतोनो यियासो स्ववसुकम्।।

अधिकं वसुकं गतं अतिघृतयुतं अपि वसुकं अन्नं (यथा) क्षुधां न शमयति तथा स्ववसुकं यियासो ! श्रुतोनः (शास्त्रविरुद्धत्यागः) भवक्षुद्वसुकं न शमयति।

शास्त्रानुसार यदि त्याग नहीं बना है,
लो ! दुःख ही न मिटता उससे अहो है।
जो अन्नसार रस से अति ही भरा है,
भाई कभी न मिटती उससे क्षुधा है।।३८।।

अर्थ– जिस प्रकार अधिक नमक और अधिक घी से युक्त होने पर भी अन्न क्षुधा को शान्त नहीं करता है उसी प्रकार हे आत्मधन को प्राप्त करने के इच्छुक साधो! शास्त्रविरुद्ध त्याग भी संसार की भूखरूप अग्नि को शान्त नहीं करता है।।३८।।

समुदिता सह साधुना समता-श्रीर्नेन वचसा साधुना।
मया वसिता साधुना साधुनाऽसाधुना साऽधुना।।

साधुना (वृद्धेन) नेन साधुना वचसा सह समताश्रीः समुदिता (किन्तु)
साधुना (मुनिना) असाधुना (यूना) साधुना (सुन्दरेण) मया सा अधुना अवसिता।

क्या साधु से सुबुध से ऋषि से यमी से,
भाई ! प्रशंसित रही समता सभी से।
सौभाग्य है मम घड़ी शुभ आ गई है,
सर्वांग में सुसमता सुसमा गई है।।३६।।

अर्थ– साधु–वृद्ध जिनेन्द्र और साधु–श्रुति मधुर अथवा पूर्वापर विरोध से रहित वचन के साथ समतारूपी लक्ष्मी प्रकट हुई थी परन्तु मुझ युवा साधु के द्वारा वह समतारूपी लक्ष्मी इस समय अवरित–मोहित हो रही है।।३६।।

सत्यस्मिन्नेव संत्याग आलोको भास्करे यथा।
सत्यं मुने ह्यसङ्गाङ्ग व्यलोलं भातु रे ! तथा।।

हे ! अंग असंग मुने ! यथा भास्करे सति आलोकः भातु तथा
अस्मिन् संत्याग सति हि सत्यं व्यलोलं भातु।

मैं वीतराग बन के मन रोकता हूँ,
तो सत्य तथ्य निजरूप विलोकता हूँ।
आलोक हो अरुण ओ जब जन्म लेता,
अज्ञात को नयन भी झट देख लेता।।४०।।

अर्थ– अंग असंग मुने ! जिस प्रकार सूर्य के रहते प्रकाश सुशोभित रहता है, उसी प्रकार इस त्यागधर्म के रहते हुए सत्यधर्म निश्चय से अत्यन्त स्थिर सुशोभित रहे।।४०।।

स्थितिर्निजात्मनि काये तपो न मुनेः क्षणान्तात्मनि काये।
रता वदन्ति निकायेऽन्यथा त्विति व्यथा मुनिका ये।।

क्षणान्तात्मनि काये स्थितिः मुनः तपः न (किन्तु) काये निजात्मनि स्थितिः तपः,
अन्यथा तु व्यथा (भवेत्) इति निकाये ये रता मुनिकाः वदन्ति।

शुद्धात्म में स्थिति सही तप ही वही हो,
तो नश्यमान तन में रुचि भी नहीं हो।
ऐसा न हो सुख नहीं दुख ही अतीव,
हैं वीतराग गुरु यों कहते सदीव।।४१।।

अर्थ-- 'क्षणभंगुर शरीर में स्थित रहना--उसमें ममत्व रखना मुनि का तप नहीं है किन्तु निजात्मा में रहना तप है, अन्यथा पीड़ा होती है' ऐसा निकाय--स्वभाव में स्थित मुनि कहते हैं।।४१।।

तापसोऽतो विनाऽशं तपनतापतापिततनुर्विनाशम्।
उद्गच्छतु भुवि ना शं विहाय विना शम्।।

अतः तपनतापतापिततनुः तापसः अशं बिना विनाशं उद्गच्छतु
भुवि नाश विहाय विलम्बेन बिना शं (उद्गच्छतु)

आतापनादि तप से तन को तपाया,
योगी बना, बिन दया निज को न पाया।
पाया नहीं सुख कभी बहु दुःख पाया,
होता अहिंसक सुखीजिनदेव गाया।।४२।।

अर्थ – अतः सूर्य के संताप से संतापित है शरीर जिसका ऐसा साधु दया के बिना विनाश को प्राप्त हो, पृथिवी पर मानव हिंसा को छोडकर विलम्ब के बिना – शीघ्र ही धर्म कल्याण को प्राप्त हो।।४२।।

न याति लुञ्चिताङ्गजं परीषहजयिनं श्रीः कलिताङ्गजम्।
वहन्तमविभुताङ्गजं सतां स्तुतिंगताऽजिताङ्गजम।।

सतां स्तुतिंगत ! अविभुताङ्गजं वहन्तं लुञ्चिताङ्गजं कलिताङ्गजं
परीषहजयिनं अजिताङ्गजं श्रीः न याति।

दीखे परीषहजयी वह देखने में,
है लीन यद्यपि महाव्रत पालने में।
लक्ष्मी उसे तदपि है वरती न स्वामी,
जो मूढ़ है विषय लम्पट भूरिकामी।।४३।।

अर्थ– हे साधुस्तुत्य ! जो अविभुता रूप अङ्गज–रोग को धारण कर रहा है, जिसने अंगज–केशों का लोंच किया है, जो अंगज–पसीना को धारण किये हुए है, जो परीषहों को जीतने वाला है किन्तु अंगज–काम को जिसने नहीं जीता है ऐसे साधु को बहिरंग एवं अन्तरंग लक्ष्मी प्राप्त नहीं होती।।४३।।

सतेति किं न वा सितं नैत्ययो रसाद्धेमतां वासितम्।
उपधिना न नु वासितं तपसोऽपि च सिततां वासितम्।।

वासितं अयः रसात् हेमतां न एति। उपधिना सितं वासित अपि तपसः सिततां न एति,
इति सता किं न नु सितं ? सितमित्यर्थः। वा वा समुच्चये।

लोहा सुवेष्ठित रहे यदि वस्त्र से जो,
होगा नहीं कनक पारस संग से ओ।
तो संग के सहित जो तप भी करेंगे,
ना आत्म को परम पूत बना सकेंगे।।४४।।

अर्थ – वस्त्र से वेष्टित लोहा रसायन से सुवर्णता को प्राप्त नहीं होता और परिग्रह से बद्ध–सहित ज्ञान तप की उज्ज्वलता को प्राप्त नहीं होता, ऐसा क्या साधू ने नहीं जाना? ।।४४।।

यथा दहति सदागतिप्रेरितो वनजो वनं सदागतिः।
विधिततिमिति सदागतिः सदागतिष्वाह सदा गतिः।।

सदागतिप्रेरितः वनजः सदागतिः यथा वनं दहति तथा (तपः) विधिततिं (दहति) इति सदागतिषु सदागतिः सदागतिः आह।

दावा यथा वनज हो वन को जलाता,
भाई तथा तप सही तन को जलाता।
सम्यक्त्व पूर्ण तप की महिमा यही है,
देवाधिदेव जिन ने जग को कही है।।४५।।

अर्थ – जिस प्रकार सदागति–वायु से प्रेरित वन की सदागति–अग्नि वन को जला देती है, उसी प्रकार तप कर्मसमूह को जला देता है–इस प्रकार सदागति–मुनियों में सदागति–ईश्वर स्वरूप सदागति–मुनि ने कहा है।।४५।।

दृशान्वितं विदो युक्तं सत् तपो गीयते ह्यतः।
आशातीतं ह्यदो व्यक्तं पूतधीर्गीर्यते सतः।।

उ! पूतधीः! यते! दृशान्वित विदा युक्तं हि अतः आशातीतं
व्यक्तं हि अदः सत् तपः गीयते इति सतः गीः।

आशा निवास जिसमें करती नहीं है,
सम्यक्त्वबोध युत जो तप ही सही है।
ऐसा सदैव कहती प्रभु सन्त वाणी,
तृष्णा मिटे, झटिति पी अति शीत पानी।।४६।।

अर्थ – हे पवित्र बुद्धि से युक्त जो सम्यग्दर्शन से राहित है, सम्यग्ज्ञान से युक्त है और इसीलिये जो आशातीत–तृष्णा से परे है, सुव्यक्त है, वही उत्तम तप कहलाता है, ऐसी साधु की वाणी है।।४६।।

साधोः समाधिकरणं सुखकरं गुणानामाधिकरणम्।
न कृतागमाधिकरणं करणोन ! नु कामाधिकरणम्।।

हे कृतागम करणोन ! सुखकरं गुणानाम् आधिकरणं कामाधिकरणं,
न आधिकरणं च नु साधोः समाधिकरणं. (अरित)।

साधू समाधि करना भव मुक्त होना,
पा कीर्ति पूजन गुणी बन दुःख खोना।
ऐसा जिनेश कहते शिवमार्गनेता,
वेत्ता बने जगत के मन अक्ष जेता।।४७।।

अर्थ– हे कृतागम ! आगम के रचयिता ! हे करणोन ! इन्द्रियविषयों से रहित! जो सुखकारी है, गुणों का आधार है, काम–मनोरथों का पूरक है और मानसिकव्यथा को करने वाला नहीं है वही साधु का समाधिकरण है–साधुसमाधि नामक भावना है।।४७।।

सर्वमन्यद् व्यलीकं ह्यदो विहाय विपश्चितां व्यलीकम्।
अताम्येतद् व्यलीकं कदाप्यनिच्छन् भुव्यलीकम्।।

विपश्चितां अदः विहाय हि अन्यद् सर्वं व्यलीकं व्यलीकं (अस्ति अतः)
भुवि अलीकं व्यलीकं कदापि अनिच्छन् एतत् अतामि।

ये आधि व्याधि समुपाधि सभी अनादि,
से आ रही, पर मिली न निजी समाधि।
चाहूं समाधि, नहिं नाक नहीं किसी को,
चाहें सभी चतुर चेतन भी इसी को।।४८।।

अर्थ – विद्वानों के लिए इस साधुसमाधि को छोड़कर अन्य सब व्यलीक—अकार्य है, अप्रिय है। मैं पृथ्वी पर मिथ्यास्वर्ग की इच्छा न करता हुआ इस साधुसमाधि को प्राप्त होता हूँ।।४८।।

यो मदादिं न मन्तुं मुञ्चति भुवीशो गन्तुं न मन्तुम्।
तदूनस्तं न मन्तुं जातु स्वमिच्छामि नमन् तुम्।।

यः तदूनः (साधुसमाधिकरणविहीनः) मदादिं मन्तु न मुञ्चति (सः)
मन्तु गन्तु न ईशः स्वं नमन् तुं मन्तु तं जातु न इच्छामि।

मानी नहीं मुनि समाधि करा सकेगा,
तो वीरदेव निज को वह क्या? लखेगा।
सम्मान मैं न उसका मुनि हो करूँगा,
शुद्धात्म को नित नितान्त अहो स्मरूँगा।।४६।।

अर्थ– जो साधुसमाधि से रहित हो अहंकार आदि अपराध को नहीं छोड़ता है वह मन्तु–परमेष्ठी को प्राप्त करने में समर्थ नहीं है। स्वकीय आत्मा को नमन करता हुआ हैं उस चौरमानव–परपदार्थों को अपना मानने वाले मानव की कभी इच्छा नहीं करता।।४६।।

ततस्तदाप्त्यै भगतस्तिष्ठाम्यहमतिदूरं न तु भगतः।
एवास्यचलन् भगतः परमपदमपीह वृषभ ! गतः।।

ततः तदाप्त्यै (साधुसमाधिकरणाय) अहं भगतः अतिदूरं तिष्ठामि न तु भगतः
हे वृषभ ! भगत अचलन् इह (त्वमपि) परमपदं गतः असि।

वैराग्य का प्रथम पाठ अहो पढ़ाता,
पश्चात् प्रभो प्रथम देव बने प्रमाता।
मैं भी समाधि सधने बनता विरागी,
ऐसी मदीय मन में वर ज्योति जागी।।५०।।

अर्थ – इसलिये उस साधुसमाधि की प्राप्ति के लिये मै भग–यश से अतिदूर रहता हूँ, भग–वैराग्य से नहीं। हे वृषभजिनेन्द्र ! भग–धर्म से विचलित न होते हुये आप भी परमपद को प्राप्त हुए हैं ।।५०।।

पवनो गतः परागं मुनिमितमिदमिव शस्यतेऽपरागम्।
गता तव गीः परागं सुललनाकरलतेप ! रागम्।।

हे ईप ! परागं गतः पवनः, परागं गता सुललनाकरलता, तव गं गता (मम)
परा गीः इव अपरागे मुनि इतं इंद (समाधिकरणं) शस्यते।

लाली लगे करलता अति शोभती है,
शोभे जिनेन्द्रनुति से मम भारती है।
होता परागवश बात सुगन्धवाही,
शोभा तभी मुनि करे मुनि की समाधि।।५१।।

अर्थ– हे ईप ! हे लक्ष्मीपते ! जिस प्रकार पराग–पुष्परज को प्राप्त हुआ पवन, पराग –मेंहदी की लाली को प्राप्त हुई सुन्दर स्त्री की करलता और आपके गीत–गुणगान को प्राप्त हुई मेरी वाणी प्रशंसनीय है, उसी प्रकार अपराग–वीतराग मुनि की प्राप्त हुई साधुसमाधि भावना प्रशंसनीय है।।५१।।

भव्यकौमुददोषेशः कामधेनुः सुरागकः।
दिव्यविद्मुक्तिदोमेश मामटेन्नु तरां तु क।।

हे दिव्यविद्मुक्तिद ! उमेश ! क ! भव्यकौमुददोषेशः कामधेनुः सुरागकः
(साधुसमाधिकरण) मां तरां अटेत्नु (निश्चये) तु (पादपूर्तौ)।

है भव्यकौमुद शशी जगमें समाधि,
है कामधेनु सुर पादप से अनादि
कैसे मुझे यह मिले कब तो मिलेगी?
हे वीर देव ! कब ज्ञानकली खिलेगी।।५२।।

अर्थ– हे दिव्यज्ञान और मुक्ति के दाता ! हे कीर्ति के स्वामी ! हे ब्रह्मन्–हे जिनेन्द्र ! भव्यरूप ! कुमुदसमूह को चन्द्रमा, कामधेनु और कल्पवृक्ष रूप यह साधुसमाधि मुझे निश्चय से अच्छी तरह प्राप्त हो।।५२।।

यथोद्यतमिह रोहितः सततं जगतां नु हिताय रोहितः।
वान्तस्वार्थरोहितः सत्सेवको भव परो हितः

यथा इह रोहितः जगतां हिताय रोहितः नु उद्यतः तथा (त्वमपि)
वान्तस्वार्थरोहितः (भवन्) (जगतां) हितः परः सत्सेवकः भव।

राजा प्रजाहित करे पर स्वार्थ त्यागे,
देता प्रकाश रवि है कुछ भी न मांगे।
कर्तव्य मानकर तू कर साधु सेवा,
पाले पुनः परम पावन बोधमेवा।।५३।।

अर्थ—जिस प्रकार इस जगत् में रोहित—वीर राजा जगत् जनों के हित के लिये उद्यत रहता है अथवा उगते हुए रोहित—सूर्य जगत् के हित के लिये तत्पर हैं, उसी प्रकार हे आत्मन् ! तू स्वार्थरूपी रूधिर को वान्त करता हुआ जगत् का हितकारी उत्कृष्ट सेवक हो।।५३।।

ममतमित-मुरः, कुमुदं तदूनमञ्चे न जितमनःकुमुदम्।
बन्धुरयति किं कुमुदं नलिनीदलनन्दनं कुमुदम्।।

तदूनं (साधुरोवाऽकरणशील) न अञ्चे (किन्तु) जितमनः कुमुदं मम उरः कुमुदं इतं तं (जिनं) अञ्चे, किं बन्धुः कुमुदं अयति? किं कुमुदं नलिनीदलनन्दनं अयति ? (नेत्यर्थः)

जो साधु सेवक नहीं उन मानियों को,
चाहूं न मैं, नित भजूं मुनि सज्जनों को।
क्या चाहता कृपण को परिवार प्यारा,
क्या प्यार से कुमुद ने रवि को निहारा।।५४।।

अर्थ– साधुसेवा से रहित मानव की मैं पूजा नहीं करता, किन्तु मन के कुमुद–कुत्सित हर्ष –विषयानन्द को जीतने वाले अपने हृदय कुमुद में आये उन जिनेन्द्र की पूजा करता हूँ। क्या बन्धु–कुटुम्ब परिवार कुमुद–कृपण मनुष्य के पास जाता है? अथवा कुमुद–कैरव सूर्य के पास जाता है। अर्थात् नहीं।।५४।।

हरति दययाऽमा नतः प्रक्षन्नमनो न ! मनो मानतः।
यो मुनिगतामानतः स मुक्तिमेत्यघतोऽमानतः।।

हे अमनः ! न ! यः दयया अमा नतः मानतः मनः प्रक्षन् मुनिगतामान्
हरति (सः) अतः अमानतः अघतः मुक्तिं एति।

जो पूर्ण पूरित दयामय भाव से है,
औ दूर भी विमलमानस मान से है।
सेवा सुसाधु जन की करता यहाँ है,
होता सुखी वह अवश्य जहाँ तहाँ है।।५५।।

अर्थ– हे अमनः न ! हे भावमन से रहित जिनदेव ! जो दया के साथ नम्रीभूत तथा मान–गर्व से मन की रक्षा करता हुआ मुनियों के रोगों को हरता है–दूर करता है वह इसके फलस्वरूप अपरिमित पाप से मुक्ति पा जाता है।।५५।।

समौक्तिकोऽत्र कलिङ्गः कलितः कमनीयमणिना कलिङ्गः।
दुर्लभो भुवि कलिङ्गस्तथा युतोऽनेन सकलिङ्गः।।

यथा अत्र भुवि समौक्तिकः कलिङ्गः कमनीयमणिना कलितः कलिङ्गःदुर्लभः तथा अनेन युतः (वैयावृत्यान्वितः) सकलिङ्गः कलिङ्गः दुलर्भः।

ये साधु सेवक कहीं मिलते यहाँ हैं,
जो जातरूप धरते जग में अहा है।
प्रत्येक नाग, मणि से कब शोभता है ?
प्रत्येक नाग कब मौक्तिक धारता है?।।५६।।

अर्थ–जिस प्रकार इस भूमि पर मोतियों सहित कलिङ्ग–हाथी, और सुन्दर मणि से सहित कलिङ्ग–नाग दुर्लभ है उसी प्रकार इस वैयावृत्य से सहित सकलिङ्ग–निर्ग्रन्थ–नग्नमुद्रा से सहित कलिंग–चतुर जन दुर्लभ है।।५६।।

रतेन निजे पदे न न्विदं शोभते च वस्तुतोऽपदेन।
सरसिजं षट्पदेन पदेन जनपदोऽलं पदेन।।

हे न ! वस्तुतः निजे पदे रतेन अपदेन नु इदं शोभते। सरसिजं षट्पदेन,
जनपदः पदेन यथा (शोभते) पदेन अलम् (अस्तु)।

जैसा सरोज अलि से सबको सुहाता,
उद्योग से जगत में यश देश पाता।
वैसा विराग मुनि से यह साधु सेवा,
होती सुशोभित अतीव विभो सदैवा।।५७।।

अर्थ – हे न ! पूज्य ! जिनवर ! यथार्थतः निज स्वभाव में लीन अपद–दिगम्बर–निर्ग्रन्थ साधु से ही यह वैयावृत्य सुशोभित होता है, उस प्रकार, जिस प्रकार कि षट्पद–भ्रमर से कमल और पद–व्यवसाय–उद्योग से जनपद–देश सुशोभित होता है।।५७।।

श्रेयसा मनसा साधोः सेवा विधीयते मया।
जायतां मयि साऽबन्धोऽहं वा सुधीर्यते यया।।

हे यते ! श्रेयसा मनसा साधोः सेवा मया विधीयते, यया अहं अबन्धः,
मयि सा सुधीः जायतां वा (इतिगमानुमानं सम्यक्)।

मैं काय से वचन से मन से सदैवा,
सौभाग्य मान करता बुध साधु सेवा।
होऊँ अबन्ध भवबन्धन शीघ्र छूटे,
विज्ञान की किरण मानस मध्य फूटे।।५८।।

अर्थ– हे यते ! श्रेष्ठ मन से मेरे द्वारा साधु की सेवा की जावे, जिस सेवा से मैं बन्धरहित हो जाऊं और मुझ में वह सुबुद्धि उत्पन्न हो सके।।५८।।

स्तुता यतिपतिना गता वस्तुगताश्च दशा गतानागताः।
निजं जयन्तु ना गता यद्धियं वाधां विना गताः।।

आगताः गताः अनागता च वस्तुगताः दशाः वाधां विना यद्धियं गताः
(ते) नाः ये निजं गताः यतिपतिना स्तुताः जयन्तु।

बाधा बिना सहज से जिनसे निहारे,
जाते अनागत गतागत भाव सारे।
शुद्धात्म में निरत जो जिनदेव ज्ञानी,
वे विश्व पूज्य जयवन्त रहें अमानी।।५६।।

अर्थ– अतीत, अनागत और वर्तमान सम्बन्धी द्रव्यगत पर्यायें बिना किसी बाधा के जिनके ज्ञान में प्राप्त हैं, जो निज स्वभाव को प्राप्त कर चुके हैं और यतिपति–गणधर देवों के द्वारा जो स्तुत हैं; वे जिनेन्द्र जयवन्त हों।।५६।।

खगणः कामहा ! लयं त्वयेत इन इतोसिं दृङ्महालयम्।
श्रिया तया महालयं कुरुषेऽये त्वात्र महालयम्।।

हे कामहा ! अत्र त्वया खगणः लयं इतः (अतः) दृड्.महालयं इतः असि,
तया श्रिया महालयं कुरुषे (अतः) इनः असि (अतः) त्वा महालयं (अहं) अरे।

हो पूर्ण इन्द्रियजयी जितकाम आप,
पाके अन्त सुख को तज पापताप।
क्रीड़ा सदैव करते शिवनारि साथ,
जोड़ूँ तुम्हें सतत हाथ, अनाथ-नाथ।।६०।।

अर्थ– हे मदनविजयिन् ! इस जगत् में आपके द्वारा खगण–इन्द्रियों का समूह लय–विनाश को प्राप्त हुआ है अतः आप सम्यग्दर्शन रूप महाभवन को प्राप्त हैं। आप उस–अनिवर्चनीय मोक्षलक्ष्मी के साथ आलिङ्गन करते हैं अतः आप इन– स्वामी हैं। इसीलिये महालय–उत्सवों के आलय स्वरूप आपको प्राप्त होता हूँ।– आपकी शरण में आता हूँ।।६०।।

दक्षो दूरोऽक्षरतोऽतितापात् क्षितिं स्रवत् क्षरं क्षरतः।
तथा मामिहारक्षरतो न रक्षरक्षाभरोऽक्षरतः।।

(यथा) इह क्षरतः स्रवत् क्षरं अतितापात् क्षितिं (रक्षति) तथा (त्वं)
अक्षरतः दूरः दक्षः न अक्षरतः अक्षरतः अक्षरः मां रक्ष रक्ष।

पीयूष पावन पवित्र पयोद धारा,
ज्यों तृप्त भूमि तल को करती सुचारा।
त्यों शान्ति दो दुखित हूँ भवताप से जो,
है प्रार्थना मम विभो ! बस आप से यों।।६१।।

अर्थ– जिस प्रकार मेघ से झरता हुआ पानी तीव्र तपन से पृथिवी की रक्षा करता है उसी प्रकार अक्षरतो दूर–अक्षरों से दूर रहने वाले–वचनागोचर, दक्ष–समर्थ अथवा चतुर, न अक्षरतः इन्द्रियों मे अनासक्त, अक्षरत–आत्मरत और अक्षर–अविनाशी आप मेरी रक्षा करें, रक्षा करें।।६१।।

मोहोरगरसायनं मुक्तेर्यद् दर्शितमुरसाऽयनम्।
यजेऽलं च रसायनं निरञ्जनं नं स्वरसाय नम्।।

मुक्तेः अयनं यद्दर्शितं मोहोरगरसायनं निरजनं नं
नं स्वरसाय उरसा यजे (किन्तु) रसाय अलम्।।

हो मोह सर्प, तुम हो गरुड़ेन्द्रनामी,
हो मुक्तिपन्थ-अधिनायक, हो अमानी।
स्वामी, निरञ्जन, न अञ्जन की निशानी,
पूजूँ तुम्हें बन सकूँ द्रुत दिव्यज्ञानी।।६२।।

अर्थ– मुक्ति का मार्ग जिसने दिखाया है जो मोहरूपी सर्प को रसायन–गरुड हैं, कर्मकालिमा से रहित हैं और पूज्य हैं ऐसे जिनेन्द्र की मैं आत्मप्रीति के लिये–स्वान्तः सुखाय हृदय से पूजा करता हूँ। रस–इन्द्रियसुख मेरे लिये अपेक्षित नहीं है।।६२।।

स्वीयं मनो जहार गुणमणिमयं पुनर्मनोऽज ! हारम्।।
गतोऽस्ति मनोजहाऽरं न नंक्षति मेऽमनोऽज। हारम्।।

हे मनोजहा। अमनः मनो ! अज ! अज ! (गवान्) स्वीयं मनः जहार पुनः
गुणमणिमयं हारं गतः अस्ति (इति हेतोः) मे रं अरं किं न नंक्ष्यति? हा।

है आदि में स्वमन को फिर मार मारा,
हे आदिनाथ ! तुमने तज भोग सारा।
कामारि हो इसलिये जग में कहाते,
स्वामी ! सुशीघ्र मम क्यों न व्यथा मिटाते ।।६३।।

अर्थ– हे मनोजहा ! कामविनाशक ! हे मनोव्यापार से रहित ! हे अज ! जन्मातीत ! हे अज ! आदिजिनेन्द्र ! आपने अपने मन का हरण किया–उसे स्वाधीन किया है फिर गुणरूपी मणियों से निर्मित हार–कण्ठाभूषण को प्राप्त हुए हो, इसलिये मेरा दुःख अथवा कामाग्नि शीघ्र क्यों नहीं नष्ट होगी? अवश्य होगी।।६३।।

अन्तं गतं ह्यनन्तं तं मानापहं यजेऽप्यजम्।
शान्तं चान्तं जिनं कान्तं येनाऽयेऽहं निजे निजम्।।

अन्तं गतं शान्तं अन्तं अनन्तं कान्तं मानापहं अजं अपि च
तं जिनं अहं यजे येन हि निजे निजं अये।

वे शान्त, सन्त, अरहन्त अनन्त ज्ञाता,
बन्दूँ उन्हें निरभिमान स्वभाव धाता।
होऊँ प्रवीण फलतः पल में प्रमाता,
गाता सुगीत 'जिनका' वह सौख्यपाता।।६४।।

अर्थ– जो अन्त–स्वभाव को प्राप्त हैं, शान्त हैं, अन्त–विशुद्ध हैं, अनन्त–अन्तरहित हैं, कान्त–सुन्दर हैं, मान को नष्ट करने वाले हैं और अज–जन्मरहित हैं, उन जिनदेव की मैं पूजा करता हूं जिससे निज में निज को प्राप्त हो सकूँ।।६४।।

काञ्चिदिच्छां भवनतः करोति दरमसितविदाभ ! वनतः।
निजे लयो भवन्नतः सूरयेऽयि तस्मै भव नतः।।

अयि असितविदाभ। यः निजे लयः भवन् वनतः दरं न करोति, भवनतः काञ्चित्
इच्छां (न करोति) तस्मै सूरये त्वं नतः भव।

इच्छा नहीं भवन की रखते कदापि,
आचार्य ये न वन से टरते प्रतापी।
होते विलीन निज में विधि पंक धोते,
पूजो इन्हें समय क्यों तुम व्यर्थ खोते।।६५।।

अर्थ– अयि असितविदाभ ! जिसके ज्ञान की आभा मलिन है ऐसा है अज्ञानजन ! जो निज स्वरूप में लीन होते हुये वन से भय नहीं करते और भवन में कोई इच्छा नहीं करते ,उन आचार्य के लिये तू विनत हो–उनकी भक्ति कर।।६५।।

स्वयमनुसमयञ्चरति परान् चारयति च न परे विचरति।
मुञ्चत्यरतिञ्चरतिमस्तु मम तत्पादयोश्च रतिः

यः सूरिः स्वयं अनुरामयं चरति, परान् चारयति च परे न विचरति,
अरतिं रतिं च मुञ्चति, तत्पादयोः मम रतिः च अस्तु।

शास्त्रानुसार चलते सबको चलाते,
पाते स्वकीय सुखको पर में न जाते,
ये रागरोष तजते सबकी उपेक्षा,
मैं तो अभी कुछ रखूँ उनकी अपेक्षा।।६६।।

अर्थ – जो आचार्य स्वयं शास्त्रानुसार आचरण करते हैं। दूसरों को आचरण कराते हैं, परद्रव्य में विचरण नहीं करते हैं और अप्रीति तथा प्रीति को छोडते हैं उनके चरणों में मेरी प्रीति हो।।६६।।

रजोगतमिव लोचकं लोचकः संगत मुनिपालो च कम्।
मत्वात्र मालोचकं सुविदा रक्ष कृपालो चकम्।।

उ ! मुनिपाल ! कं रांगत कृपालो ! मां लोचकं च कं मत्वा सुविदा रक्ष,
अत्र रजोगतं लोचकं लोचक इव।

आचार्यदेव मुझको कुछ बोध देवो,
रक्षा करो शरण में शिशु शीघ्र लेवो।
क्या दिव्य अञ्जन प्रकाश नहीं दिलाता,
क्या शीघ्र नेत्रगत धूलि नहीं मिटाता ?।।६७।।

अर्थ– हे मुनिपाल मुनियों के रक्षक ! क–सुख अथवा आत्मा को प्राप्त ! दयालो आचार्य ! मुझ निर्बुद्धि को आत्मा मान कर सम्यग्ज्ञान से मेरी उस प्रकार रक्षा करो, जिस प्रकार धूलि से युक्त नेत्र की कज्जल रक्षा करता है।।६७।।

योगैश्च धाराधरः सुविधिध्वंसधृतधृतिधाराधरः।
दुरितविषधाराधरः सज्जनमयूरधाराधरः।।

(अयं सूरिः) दुरितविषधाराधरः, सज्जनमयूरधाराधरः,
कुविधिध्वराधृतधृतिधाराधरः, योगैः च धाराधरः (अस्ति)।

ये योग में अचल मेरु बने हुए हैं,
ले खड्ग कर्मरिपु को दुख दे रहे हैं।
आचार्य तो अमृतपान करा रहे हैं,
ये मेघ हैं, हम मयूर सुखी हुए हैं।।६८।।

अर्थ– यह आचार्य पापरूपी विष की धारा को धारण करने वाले नहीं हैं, सज्जन रूपी मयूरों के लिये धाराधर–मेघ हैं, दुष्ट कर्मो का विध्वंरा करने के लिये जिन्होंने धैर्य रूपी खड्ग को धारण किया है और ध्यान के द्वारा धाराधर–पर्वत हैं अर्थात् ध्यान धारण करने में पर्वत के समान स्थिर हैं।।६८।।

यो ज्येष्ठमासंगतप्रतापिनः प्रताप्यपि मासं गतः।
गतः स्वे वासं गतः स निस्पृहो जयतात् संगतः।।

ज्येष्ठमारांगतप्रतापिनः अपि प्रतापी भासंगतः स्वे वासं
गतः सङ्गतः निस्पृहो यः सः (सूरिः) जयतात्।

हो ज्येष्ठ में नित नहीं रवि ओ प्रतापी,
संतप्त पूर्ण करता जग को कुपापी।
आचार्य कोटि शत भास्कर तेज वाले,
देते सदा सुख हमें समदृष्टि वाले।।६६।।

अर्थ – जो ज्येष्ठमारा के सूर्य से भी अधिक प्रतापी हैं, दीप्तिमान् हैं, स्वकीय आत्मा में निवास को प्राप्त हैं और परिग्रह से निःस्पृह हैं वे आचार्य जयवंत रहें।।६६।।

आचार्यस्य सदा भक्तिं भक्त्या ह्यये करोमि ताम्।
वै चार्यस्य मुदा शक्तिं युक्त्याऽप्यये गुरोऽमिताम्।।

अये गुरो ! आर्यस्य आचार्यस्य भक्तिं भक्त्या सदा हि करोमि
वै युक्त्या मुदा ता अमितां शक्तिं अपि च अये।

आचार्य को विनय से उर में बिठालूँ,
मैं पूज्यपाद रज को शिरपै चढ़ा लूँ।
हे मित्र ! मोक्ष मुझको फलतः मिलेगा,
विश्वास है यह नियोग नहीं टलेगा।।७०।।

अर्थ -- हे गुरो ! मैं पूज्य आचार्य की भक्ति सदा उत्कट अनुराग से करता हूँ। निश्चित ही उनके संपर्क से मैं हर्षपूर्वक उस अपरिमित शक्ति को प्राप्त हो रहा हूँ।। ७८ ।।

विदामिहाहं रमतिः कदाप्येति न मदमिति मुधा रमतिम्।
स्वस्मिन् स्मरति विरमति स्मरतु तं तु ते ह्युदारमतिः।।

इह भुवि अहं विदां रमतिः इति कदापि मुधा मदं न एति। (स उपाध्यायपरमेष्ठी) रमतिं न स्मरति स्वस्मिन् विरमति ते उदारमतिः तं हि स्मरतु तु पादपूर्तौ।

ज्ञाता बने समय के निज-गीत, गाते,
तो भी कदापि मद को मन में न लाते।
वे ही अवश्य उवझाय वशी कहाते,
भाई उन्हें स्मरण में तुम क्यों न लाते।।७१।।

अर्थ – 'इस पृथ्वी पर मैं ज्ञानों का स्वामी हूँ' इस प्रकार के व्यर्थ मद को जो कभी नहीं प्राप्त होते, जो स्वर्ग का स्मरण नहीं करते तथा अपने आप में विश्राम करते हैं उन उपाध्याय परमेष्ठी का तेरी उदार बुद्धि निश्चय से स्मरण करे।।७१।।

कृतमदममतापचितिर्यस्मादाप्तनिजानुभवोपचितिः।
तस्य ह्यपपाप ! चिति स्थितये क्रियते मयाऽपचितिः।।

यः (उपाध्यायपरमेष्ठी) कृतमदगमतापचितिः यस्माद् आप्त – निजानुभवोपचितिः
तस्य हि हे अपपाप ! चिति स्थितये मया अपचितिः क्रियते।

कालुष्यभाव रतिराग मिटा दिया है,
आत्मावलोकन तथा जिनने किया है।
पूजूँ भजूँ नित उन्हें दुख को तजूँगा,
विज्ञान से सहज ही निज को सजूँगा।।७२।।

अर्थ – जो मद और ममता की हानि करने वाले हैं तथा जिन्होंने आत्मानुभव की वृद्धि को प्राप्त किया है, हे निरवद्य साधो ! आत्मा में स्थिरता प्राप्त करने के लिये मेरे द्वारा उन उपाध्याय परमेष्ठी की पूजा की जाती है।।७२।।

सकलङ्कः स मितितयाऽभयाञ्चित एणाङ्को भसमितितया।
अकलङ्कः समितितयाऽऽहेतो वरः सुरसमिति-तया।।

स एणाङ्कः भयाञ्चितः मितितया भया अञ्चितः, भसमितितया (अञ्चितः) (अतः) सकलङ्कः (अयं उपाध्यायपरमेष्ठी) अकलङ्कः तया समितितया (अञ्चितः) अभयाञ्चितः (तथा) सुरसमिति‌तया अञ्चितः (अतः) वरः इति सुरसं इतः (जिनः आह)।

तारा समूह नभ में जब दीख जाता,
दोषी शशी न दिन में निशि में सुहाता।
पै दोष मुक्त उवझाय सदा सुहाते,
ये श्रेष्ठ इष्ट शशि से जिन यों बताते।।७३।।

— अर्थ — वह चन्द्रमा भय से अञ्चित — सहित है तथा सीमित भा — कान्ति से अञ्चित है, नक्षत्रों के समूह से अञ्चित है अतः सकलंक है, परन्तु यह उपाध्याय परमेष्ठी निर्भय हैं, असीमित आत्मज्ञानरूपी दीप्ति से सहित हैं, निष्कलंक हैं और देवसमूह से अंचित — पूजित हैं, अतः श्रेष्ठ हैं, ऐसा सुरस को प्राप्त जिनदेव ने कहा है।।७३।।

परपरिणतेरवनितः स्वात्मानं स्वागमं योऽवन्नितः।
तेनाप्यते ह्यवनित - द्रव्यमुरसि निजमृषिभिर्वनित।।

हे ऋषिगि: उररि वनित ! यः परपरिणतेः अवनितः स्वात्मानं अवन्
स्वागमं इतः तेन निजं अवनितद्रव्यं आप्यते।

स्वाध्याय से चपलता मन की घटा दी,
काषायिकी परिणती जिनने मिटा दी।
पावें सुशीघ्र उवझाय स्वसंपदा वे,
आवें न लौट भव में गुरु यों बतावें।।७४।।

अर्थ – ऋषिं समूह जिसे ह्रदय में धारण करते हैं ऐसे हे प्रभो ! जो परपरिणति की भूमिस्वरूप कषायभाव से स्वकीय आत्मा की रक्षा करते हुये उत्तम आगम को प्राप्त हुए हैं उन उपाध्याय के द्वारा स्वतः सिद्ध आत्मद्रव्य प्राप्त किया जाता है।।७४।।

निशापतिर्नालीकं तोषयति नायं गवा नालीकम्।
निष्पक्षोऽनालीकं कोऽमुं न मनुतेऽनालीकम्।।

निशापतिः न नालीकं तोषयति अयं तु (उपाध्यायः) निष्पक्षः नालीकं अनालीकं
गवा (तोषयति) (ईदृक्कार्ये) कः अनालीकं अमुं न मनुते?

साथी बना कुमुद का शशि पक्षपाती,
भाई सरोज दल का वह है अराती।
पै साम्यधार उवझाय सुखी बनाते,
हैं विश्व को, इसलिये सबको सुहाते।।७५।।

अर्थ – चन्द्रमा गो–किरणों से नालीक कमल को संतुष्ट नहीं करता परन्तु यह उपाध्याय निष्पक्ष हो नालीक – अज्ञ और अनालीक – विज्ञ को अपनी गो अर्थात् वाणी से संतुष्ट करते हैं। इस प्रकार के कार्य में उन्हें कौन प्रिय नहीं मानता?।।७५।।

वैद्यो रोगविनाशीव ह्ययं कामविदारकः।
वन्द्योऽतोऽङ्ग ! जनानां वः स्वयं कामप्रदायकः।।

हे अङ्गः ! रोगविनाशी वैद्यः इव हि अयं (उपाध्यायपरमेष्ठी) कामविदारकः स्वयं कामप्रदायकः अतः व जनानां वन्द्यः (अस्ति)।

वे वैद्य लौकिक शरीर इलाज जाने,
ये वैद्यराज भवनाशक हैं सयाने।
हैं वन्द्य, पूज्य, शिवपन्थ हमें बताते,
निःस्वार्थपूर्ण निज जीवन को बिताते।।७६।।

अर्थ – अ ड्ग ! हे भव्यजनो ! रोग को नष्ट करने वाले वैद्य के समान यह उपाध्याय परमेष्ठी काम – मदन अथवा क – आत्मा के अम – रोगों के विदीर्ण करने वाले और काम–मनोरथों के देने वाले हैं अतः आप सब के वन्दनीय हैं।।७६।।

तं जयताज्जिनागमः श्रय श्रेयसो न येन विना गमः।
न हि कलयति मनागगस्त्वां मदो यद् भवेऽनागमः।।

येन विना श्रेयसः गमः न (सः) जिनागमः जयतात्, तं (जिनागमं) (त्वं) श्रय,
यत् त्वां मदः अगः मनाक् न हि कलयति (तदा स्वयं) भवे अनागमः (स्यात्)।

था, है जिनागम, रहे जयवन्त आगे,
पूजो इसे तुम सभी उरबोध जागे।
पावो क़दापि फिर ना भवदुःख नाना,
हो मोक्षलाभ, भव में फिर हो न आना।।७७।।

अर्थ – जिसके बिना श्रेय–मोक्ष अथवा कल्याण का मार्ग नहीं मिलता वह जिनागम जयवंत रहे। तू उस जिनागम का आश्रय ले जिससे तुझे अल्प भी अहंकार प्राप्त न हो और यह सब होने पर तेरा संसार में आगमन नहीं हो।।७७।।

अन्येनालं मधुना वनं विविधतरुलतान्वितं मधुना।
मुदमेति यथा मधुना ममात्मानेन चायमधुना।।

विविधतरुलतान्वितं वनं यथा मधुना मुदं एति (तथा) मम अयं आत्मा अधुना मधुना (अनेन) (जिनागमेन) मदं एति च (अतः) अन्येन (विषयवासनाप्रवर्धककामादिशास्त्रेण) मधुना अलं (अस्तु)।

आता वसन्त वन में वन फूल जाता,
नाना प्रकार रस पी दुख भूल जाता।
पीऊँ जिनागम सुधा चिरकाल जीऊँ,
दैवादि शास्त्र मदिरा उसको न पीऊँ।।७८।।

अर्थ – अनेक प्रकार के वृक्ष और लताओं से युक्त वन जिस प्रकार मधु–वसन्त से हर्ष को प्राप्त होता है उसी प्रकार मेरा यह आत्मा इस समय जिनागम रूप मधु–दूध से हर्ष को प्राप्त हो रहा है। इसलिये अन्य विषयवासना को बढ़ाने वाले कामादिशास्त्र रूप मधु–मद्य की मुझे आवश्यकता नहीं।।७८।।

श्रयति श्रमणः समयं सममनसा समयति स समं समयम्।
समेति निजवासमयं विस्मयोऽस्त्विह नो चिरसमयम्।।

यः श्रमणः सममनसा समं समयं श्रयति स समयं समयति, निजवासं समेति, स इह (भवे) चिरसमयं नो अस्तु (अस्मिन् कार्ये) अयं विस्मयोऽपि नो अस्तु।

निष्पक्ष हो श्रमण आगम देखता है,
शुद्धात्म को सहज से वह जानता है।
जाके निवास करना निज धाम में ओ,
संदेह विस्मय नहीं इस काम में हो।।७६।।

अर्थ – जो मुनि मध्यस्थ–दुराग्रहरहित मन के साथ समय–आगम का आश्रय लेता है वह समय – आत्मा को प्राप्त होता है और वह इस संसार में चिरसमय – दीर्घकाल तक नहीं रहे, यह आश्चर्य नहीं है।।७६।।

मुक्तास्ते प्रभावतः संभवन्ति जिना जनाश्च भावतः।
रागादेर्विभावतस्त्वयि रतोऽकलये विभावतः।।

(हे जिनागम !) हे प्रभावतः जनाः जिनाः संभवन्ति। भावतः मुक्ताः संभवन्ति, रागादेः विभावतः च (मुक्ताः संभवन्ति) अतः अकलये विभौ त्वयि (अहं) रतः (भवामि)।

आधार ले अयि ! जिनागम पूर्ण तेरा,
हैं भव्य जीव करते शिव में बसेरा।
मैं भी तुझे इसलिये दिन रैन ध्याऊँ,
धारूँ तुझे हृदय में सुख चैन पाऊँ।।८०।।

अर्थ – हे जिनागम ! तेरे प्रभाव से सामान्य मनुष्य जिन हो जाते हैं, भव से मुक्त हो जाते हैं और रागादिक विभाव से छूट जाते हैं; अतः अकलय – दुःख का विनाश करने वाले तुझमें रत लीन होता हूँ।।८०।।

दुःखमनुभवन्नवसु ह्यनधिगतागमोऽयं निधिषु नवसु।
प्राप्तवान् सुखं नवसुभानतो विमलज्ञानवसु।।

अयं अनधिगतागमः अवसुमान् हि नवसु निधिषु अवसु दुःखं
अनुभवन् विमलज्ञानवसु सुखं अतः नो प्राप्तवान्।

ज्ञाता नहीं समय का दुख ही उठाता,
औ ना कभी विमल केवलज्ञान पाता।
राजा भले वह बने, निधि क्यों न पाले,
भाई न खोल सकता वह मोक्ष ताले।।८१।।

अर्थ – जिनागम को नहीं जानने वाला प्राणी निश्चय से नौ निधियों के रहने पर भी अवसुदुःख– निर्धनता के दुःख का अनुभव करता हुआ निर्मल ज्ञानरूपी धन के सुख को इसी कारण प्राप्त नहीं कर सका है।।८१।।

जिनागमं सदा श्रित्वा सादरं समतां व्रजेत्।
यन्ना समं विदा मुक्त्वा वादरं स नतां भजेत्।।

ना जिनागमं श्रित्वा सादरं समतां व्रजेत् (चेत्) यत् रा दर मुक्त्वा
विदा समं नतां भजेत् (वा निश्चये)।

श्रद्धासमेत जिन आगम को निहारें,
जो भी प्रभो ! हृदय में समता सुधारे।
वे ही जिनेन्द्र पद का द्रुत लाभ लेते,
संसार का भ्रमण त्याग विराम लेते।।८२।।

अर्थ – यदि गनुष्य, आदर से जिनागम का आश्रय ले साम्यभाव को प्राप्त हो तो वह दर–गय छोडकर ज्ञान के साथ नता – पूज्यता अथवा जिनेन्द्र–तीर्थङ्कर पद को प्राप्त हो राकता है, यह निश्चय है।। ८२।।

निर्दोषो भुवि सुरभिः सज्जनकण्ठमेति गुणेन सुरभिः।
तथेह समता सुरभिर्न च सुरभीति नाम्ना सुरभिः।।

यथा इह भुवि निर्दोषः सुरभिः, गुणेन सुरभिः सुरभीति नाम्ना सुरभिः सज्जनकण्ठं एति, तथा च समता (सज्जनकण्ठं एति) न सुरभिः (सज्जनकण्ठं एति)।

हो सूत्र में कुसुम सज्जन कण्ठ जाता,
निर्दोष ही कनक आदर नित्य पाता।
जैसी समादरित गाय सुधी जनों से,
वैसी सदैव समता मुनि सज्जनों से।।८३।।

अर्थ – जिस प्रकार इस पृथिवी पर निर्दोष सुरभि–स्वर्ण अपने गुण से हार बनकर सज्जन के कण्ठ को प्राप्त होता है, सुरभि–चम्पा गुण--सूत्र में गुम्फित हो सज्जन के कण्ठ को प्राप्त होता है और 'सुरभि' इस नाम से प्रसिद्ध सुरभि–कामधेनु मनोरथों को पूर्ण करने वाले गुणों से सज्जन के कण्ठ को प्राप्त होती है उसी प्रकार समता–साम्य परिणति सज्जन के कण्ठ को प्राप्त होती है, सुरभि–मदिरा नहीं।।८३।।

असमयवर्षास्तमितं धान्यं वसुधातलममनस्तमितम्।
फलति न कमपि स्तमितं ह्यकालिकीनुतिरकास्त! मितम्।।

हे अकास्त ! अमनः। असमयवर्षास्तमितं तं वसुधातलम् इतं धान्यं यथा न फलति (तथा) हि अकालिकी नुतिः स्तमितं मितं कं अपि न (फलति)।

वर्षा हुई कृषक सो हल जोत लेता,
बोया असामयिक बीज नहीं फलेगा।
तू देव वन्दन अकाल अरे ! करेगा,
होगा न, मोक्ष तुझको भव में फिरेगा।।८४।।

अर्थ – हे अकास्त ! हे निष्पाप ! हे अमनः ! मनो व्यापार से रहित ! जिस प्रकार असमय की वर्षा से भीगे पृथिवीतल को प्राप्त हुआ धान्य फलता नहीं है; उसी प्रकार निश्चय से अकाल–असमय में की हुई स्तुति किञ्चित् भी स्थायी सुख को नहीं फलती है।।८४।।

अशने सदंशनेन रस इनेन जयो वै सदंशनेन।
प्राप्यतेऽदंशनेन तथा कमगेनाऽदंशनेन।।

हे अंदश ! न ! इन ! यथा अशने सदंशनेन रसः प्राप्यते सदंशनेन
इनेन वै जयः (प्राप्यते) तथा अदंशनेन अगेन कं (प्राप्यते)।

राजा सशस्त्र रण से जय लूट लाता,
हो दाँत, भोजन करो अति स्वाद आता।
सम्यक् जिनेन्द्रनुति भी सुख को दिलाती,
भाई निजानुभव पेय पिला जिलाती।।८५।।

अर्थ – हे अदंश ! हे निर्दोष ! हे पूज्य ! स्वाभिन ! जिस प्रकार भोजन में दन्तसहित मनुष्य के द्वारा रस – स्वाद प्राप्त किया जाता है और कवच सहित राजा के द्वारा निश्चयतः विजय प्राप्त की जाती है उसी प्रकार अखण्ड स्तवन से सुख प्राप्त किया जाता है।।८५।।

अवनितल इव पावनप्रसंगाद् भवति शीतलः पावनः।
अघहननात् स्वपावनप्रदायिन्नुपयोगः पावनः।।

हे स्वप ! अवनप्रदायिन् ! इह अवनितले, पावनप्रसंगात्
पावनः शीतल इव श्रुतिमननात् उपयोगः पावनः भवति।

ज्यों वात जो सरित ऊपर हो चलेगा,
हो शीत, शीघ्र सब के मन को हरेगा।
आख्यान अन्त प्रति के बल पा, विधाता,
आत्मा अवश्य बनता सुख पूर्ण पाता।।८६।।

अर्थ – हे स्वप ! हे आत्मरक्षक ! हे संरक्षण देने वाले ! भगवन् ! इस पृथिवीतल पर पावन – जल की संगति से जिस प्रकार पावन–वायु शीतल हो जाती है उसी प्रकार शास्त्र के मनन से उपयोग पावन–पवित्र हो जाता है।।८६।।

सा श्रेयसः कषायात् प्रियाऽलसाशोषायां सकषाया।
लसतु तामसकषायान्न कतपनममानसकषायाः।।

हे अमानसकषायाः ! सा अलसा प्रिया श्रेयसः कषायात् लसतु, उषायां सा आशा (प्राक्) सकषाया (लसतु) (किन्तु) कतपनं तामसकषायात् न (लसतु)।

प्राची प्रभात जब रागमयी सुहाती,
तो अंगराग लगता वनिता सुहाती।
पै राग से समनुरंजित कायक्लेश,
होता सुशोभित नहीं सुख हो न लेश।।८७।।

अर्थ – हे अमानसकषायाः ! जिनके मन में कषाय नहीं है ऐसे हे मुनीजनो ! वह अलसायी स्त्री श्रेष्ठ कषाय–अङ्गराग रो सुशोभित हो, और प्रभातकाल में वह प्रसिद्ध पूर्व दिशा राकषाया –लालिमा से सहित होती हुई सुशोभित हो, परन्तु तमोगुण प्रधान कषायगाव से कतपन–पञ्चाग्नितप सुशोभित न हो (वह कुतप–बालतप है)।।८७।।

दुर्वेदनात्मनो यातु लयतां त्वयि सा स्वतः।
संवेदनाऽमुनो जा तु जायतां त्वय्यसावतः।।

उ! अयि ! (मित्र) त्वयि असौ स्वतः जा संवेदना अमुना (प्रतिक्रमणेन) जायतां (अतः) (अमुना) आत्मनः सा दुर्वेदना तु लयतां यातु (तु पादपूर्तौ)।

दुर्वेदना हृदय की क्षण भाग जाती,
संवेदना स्वयम की झट जाग जाती।
ऐसी प्रतिक्रमण की महिमा निराली,
तू धार शीघ्र इसको वन भाग्यशाली।।८८।।

अर्थ – अयि मित्र ! आप में जो यह स्वानुभूति स्वतः सामुद्‌भूत हुई है वह इस प्रतिक्रमण – आवश्यक से उत्पन्न हो और इसी से आत्मा की वह दुःखद वेदना विनाश को प्राप्त हो।।८८।।

भवता निजानुभवतः प्रभोः प्रभावना क्रियतां हि भवतः।
मनोऽवन् मनोभवतः क्षणविनाशविभावविभवतः।।

भवतः क्षणविनाशविभावविभवतः मनोभवतः मनः अवन्
निजानुभवतः हि भवता प्रभोः प्रभावना क्रियताम्।

भाई सुनो मदन से मन को बचाओ,
संसार के विषय में रुचि भी न लाओ।
पाओ निजानुभव को निज को जगाओ।
सद्धर्म की फिर अपूर्व प्रभावना हो।।८६।।

अर्थ – संसार से, क्षणभंगुर विभाव रूप विभव से तथा मनोभव–काम से मन की रक्षा करते हुए आपके द्वारा निजानुभव से प्रभु–जिनेन्द्र की प्रभावना की जावे।।८६।।

सागारकोऽप्यसारं क्षुत्तृड्रुजार्तेषु वितरति सारम्।
मत्वा किल संसारं ह्यवतरति तत् कार्ये साऽरम्।।

(यदा) सागारकः अपि किल संसार (सारं च) असारं मत्वा क्षुत्तृड्रुजार्तेषु सारं वितरति (तदा) तत्कार्ये (प्रभोःप्रभावना) सा अरं हि अवतरति।।

संसार के विभव वित्त असार सारे,
सागार भी सतत यों मन में विचारे।
रोगी दुखी क्षुधित पीड़ित जो विचारें,
दे, अन्नपान उनके दुख को निवारें।।६०।।

अर्थ – जो गृहस्थ भी संसार को असार मान कर भूख, प्यास तथा रोग से पीडित मनुष्यों पर धन वितरण करता है तब उस कार्य में वह प्रभावना – शीघ्र अवतीर्ण होती है। दीन दुःखी जीवों पर दयादृष्टि से दान देना भी जिन धर्म की प्रभावना होती है।।६०।।

शिष्याः स्युस्तके तव शशिशितवृषयशः प्रसारकेतवः।
दृग्विद्चरितकेतवः कुमतवनाय धूमकेतवः।।

हे ! (जिन !) तव तके शिष्याः शशिशितवृषयशः प्रसारकेतवः
कुमतवनाय धूमकेतवः दृग्विद्चरिताकेतवः च स्युः।

हे वीर देव ! तब सेवक धर्म सेवें,
होवें ध्वजा विमल धर्म प्रसार में वे।
सम्यक्त्व बोध व्रत से निजको सजावें
ज्वाला बनें कुमत कानन को जलावें।।६१।।

अर्थ – हे जिन ! आपके वे शिष्य, चन्द्रमा के समान उज्ज्वल यश का प्रसार करने के लिये केतु–पताका, मिथ्यामतरूप वन के लिये धूमकेतु–अग्नि और दर्शन–ज्ञान–चारित्र रूप केतु – चिन्हों से सहित होंवे।।६१।।

भायाच्च तमां केन सरो रमाभालं कुङ्कुमाङ्केन।
नानया समां केन श्रमणता गतेन मां के न! ।।

हे न रमाभालं कुङ्कुमाङ्केन, सरः केन, के केन समां मां गतेन श्रमणता,
ना अनया (धर्मप्रभावनया) च भायात् तमाम्।

अच्छा लगे तिलक से ललना ललाट,
है साम्य से श्रमणता लगती विराट।
होता सुशोभित सरोवर कंज होते,
सद्भावना वश मनुष्य प्रशस्य होते।।६२।।

अर्थ – हे न ! हे जिन ! ललना का ललाट कुंकुम के चिह्न से, सरोवर जल से, श्रमणता – साधुता आत्मा में साम्यभाव रूपी लक्ष्मी को प्राप्त आत्मा से और मनुष्य इस धर्मप्रभावना से अत्यन्त सुशोभित हो।।६२।।

गङ्का गौश्च वामृतं ददातिगङ्गयालमपि गवाऽमृतम्।
अस्या मानवामृतं मिलति वरं चिदनुभवामृतम्।।

हे मानव ! गङ्गा गौश्च अमृतं ददाति (ततः) गङ्गया गवा अपि अलं (किन्तु) अस्याः (धर्मप्रभावनायाः) अमृतं अमृतं वरं चिदनुभवामृतं च मिलति।

गंगा प्रदान करती बस शीत पानी,
तो गाय दूध दुहती जंग में सयानी।
चाहूँ इन्हें न, इनसे न प्रयोजना है,
देती निजामृत जिनेन्द्र प्रभावना है।।६३।।

अर्थ – हे मानव ! गंगा और गौ अमृत देती है – गंगा जल देती है और गौ दूध देती है, परन्तु गंगा और गौ की आवश्यकता नहीं है। इस धर्मप्रभावना से अमृत–अविनश्वर अमृत–मोक्ष और आत्मानुभवरूप अमृत प्राप्त होता है।।६३।।

संसारागाधपाठीनाकरमज्जितदेहिनाम्।
दासानगारपालानां साररराजिः सदेह ना।।

हे अनगारपालानां दास.! (इयं धर्मप्रभावना) संसारागाधपाठीनाकरमज्जितदेहिना
सदा इह साररराजिः ना (अस्ति)।

संसार सागर असार अपार खारा,
कोई न धर्म बिन है तुमको सहारा।
नौका यही तरणतारण मोक्षदात्री,
ये जा रहे, कुछ गये उस पार यात्री।।६४।।

अर्थ – हे मुनिरक्षकों के दास ! यह धर्मप्रभावना, संसाररूपी गहरे समुद्र में निमग्न प्राणियों के लिये सदा इस संसार में श्रेष्ठ रेखाओं से अंकित नौका है।।६४।।

सद्धर्मिणि धृतसम ! यः वात्सल्यं वत्स इव गौः कृतसमय !।
करोत्याप्यते समयः श्रियस्तेन सदयेन समयः।।

हे धृतसम ! कृतसमय ! यः वत्से गौः इव सद्धर्मिणि वात्सल्यं करोति,
तेन सदयेन समयः आप्यते, श्रियः समयः च (आप्यते)।

गो वत्स में परम हार्दिक प्रेम जैसा,
साधर्मि में तुम करो यदि प्रेम वैसा।
शुद्धात्म को सहज से द्रुत पा सकोगे,
औ मोक्ष में अमित काल बिता सकोगे।।६५।।

अर्थ – हे धृतसम ! सहधर्मा जनों की रक्षा करने वाले! हे कृतसमय – आगम अथवा आचार को करने वाले ! बछड़े पर गाय के समान जो समीचीन धर्म के धारक जनों पर वात्सल्य – स्नेह करता है उस दयालु मानव के द्वारा समय–शुद्धात्मा और मोक्ष लक्ष्मी का समय–समागम प्राप्त किया जाता है।।६५।।

अस्मिन् धृतभाव सति प्रभोऽस्तु हिंसात्मकवृत्तेर्वसतिः।
लसति विहायसि यसति प्रभाकरे किं वसति वसतिः।।

हे धृतभाव ! प्रभो ! अस्मिन् (वात्सल्ये) सति हिंसात्मकवृत्तेः किं वसतिः अस्तु?
विहायसि वसति लसति प्रभाकरे किं वसतिः? (नेत्यर्थः)।

वात्सल्य हो उदित ओ उर में जभी से,
हैं क्रूरभाव मिटते सहसा तभी से।
भानू उगे गगन भू उजले दिखाते,
क्या आप तामस निशा तब देख पाते?।।६६।।

अर्थ – हे धृतभाव ! हे स्वभाव के धारक प्रभो ! इस वात्सल्यभाव के रहते हुये हिंसात्मक – क्रूरवृत्ति की क्या स्थिति हो? अर्थात् नहीं हो। आकाश में देदीप्यमान सूर्य के रहते क्या रात्रि रह सकती है? अर्थात् नहीं।।६६।।

अनलयोगात् कलङ्क स्तथात्मनोऽस्माल्लयमेति कलङ्कः।
सकलं गतः कलं कः कलयति कलमेशोऽकलङ्कः।।

(यथा) अनलयोगात् कलङ्कः लयं (एति) तथा आत्मनः कलङ्कः अस्मात् (वात्सल्यात्) लयं एति (इति) सकलं गतः कलं (गतः च) कलमेशः अकलंक : कः कलयति।

निर्दोष हो अनल से झट लोह पिण्ड,
वात्सल्य से विमल आतम हो अखण्ड।
आलोक से सकललोक अलोक देखा,
यों वीर ने सदुपदेश दिया सुरेखा।।६७।।

अर्थ – जिस प्रकार अग्नि के संयोग से कलंक नाश को प्राप्त होता है उसी प्रकार वात्सल्यभाव से आत्मा का कलंक–द्वेष नाश को प्राप्त होता है ऐसा सकल -- कलाओं से सहित कल -- परमौदारिक शरीर को प्राप्त, लक्ष्मीपति, कलंकरहित जिनेन्द्र कहते है।।६७।।

भवति स्म भो ! भावतो भवति भवभवकृतशुभतो भावतः।
न्विदं विभो ! विभावतो वियुतो भवोभवो भावतः।।

हे भो ! विभो ! भावतः भावतः भवति नु इदं (वात्सल्यं) भवभवकृतशुभतः भवति स्म अतः भावतः विभावतः वियुतः अभवः भवः (अस्ति)।

वात्सल्य तो जनम से तुम में भरा था,
सौभाग्य था सुकृत का झरना झरा था।
त्रैलोक्य पूज्य जिनदेव तभी हुए हो,
शुद्धात्म में प्रभव वैभव पा लिया हो।।६८।।

अर्थ – भो विभो ! हे भगवन् ! सहज रूप से, जन्म से ही आप में यह वात्सल्य अनेक भवों में किये पुण्य योग से प्रकट हुआ था। अतः संसार एव विभावपरिणति से रहित अभव–जन्मातीत भव-सिद्धपर्याय प्राप्त होती है।।६८।।

ननु रविरिव पयोऽङ्ग तं पयोजचयं प्रति पयः पयोगतम्।
भूतमपापयोग तन्मनोरस्त्वकं मे कृपया गतम्।।

उ ! अङ्ग ! अपापयोग ! तं पयोजचयं प्रति रविः पयोगतं पयः प्रति पयः इव
अकं गतं भूतं (प्रति) मे तत् मनः कृपया (सह) अस्तु।

बन्धुत्व को जलज के प्रति भानू धारा,
मैत्री रखे सुजल में वह दुग्ध धारा।
'स्वामी ! परन्तु जग के सब प्राणियों में,
वात्सल्य हो, न मम केवल मानवों में।।६६।।

अर्थ – हे अशुभोपयोग से रहित ! प्रसिद्ध कमलसमूह के प्रति सूर्य के समान तथा दूध में मिले पानी के प्रति दूध के समान दुःखी प्राणी के प्रति मेरा यह मन करुणा से युक्त हो।।६६।।

मनोहरं मदोन्मत्तं मनो हरं हरिंनय।
एनोहरं न्वदो वित्तं रं नो ह्यरं ह्यरिं श्रय।।

उ ! (त्वं) मदोन्मतं मनः मनोहरं हरिं हरं एनोहरं (प्रथमं) नय नु अदः
(वात्सल्यं) वित्तं अरं श्रय नो हि रं अरिं (श्रय) हि (पादपूर्तौ)।

उन्मत्त होकर कभी मन का न दास,
हो जा उदास सबसे बन वीर दास।
वात्सल्यरूप सर में डुबकी लगाले,
ले ले सुनाम 'जिनका' प्रभु गीत गा ले।।१००।।

अर्थ – हे आत्मन् ! तू यह वात्सल्यभाव सब से पहले मदोन्मत्त मन को, मन को हरण करने वाले सिंह को और पाप को हरने वाले हर को प्राप्त कराओ। इस वात्सल्य रूप धन का तू शीघ्र ही आश्रय ले, कामाग्नि रूप शत्रु का आश्रय मत ले।।१००।।

गुरुस्मरणम्

श्रीज्ञानसागरकृपापरिपाक एव,
यद् 'भावनाशतककाव्य' - मघारिहन्तृ।
अध्यास्य सुश्रयभतोऽस्य सुशस्यकस्य,
विद्यादिसागरतनुर्लघु ना भवामि।।

(अयम्) श्रीज्ञानसागरकृपापरिपाकः एव यत् अघारिहन्तृ
भावनाशतककाव्यम् (मया रचितम्) अतः सुशस्यकस्य अस्य
सुश्रयम् अध्यास्य ना अहम् लघु विद्यासागरतनुः भवामि।

गुरु-स्मृति

आशीष लाभ यदि मैं तुमसे न पाता,
तो भावनाशतक काव्य लिखा न जाता।
हे ज्ञानसागर गुरो! मुझको संभालो,
विद्यादिसागर बना तुममें मिला लो।।१०१।।

अर्थ – यह श्री ज्ञानसागर महाराज की कृपा का फल है कि मेरे द्वारा पापरूप शत्रुओं को नष्ट करने वाला 'भावनाशतक' नाम का काव्य बन सका। अतः अतिशय प्रशंसनीय आत्मावाले इन गुरु का आश्रय प्राप्त कर मैं एक साधारण मनुष्य शीघ्र ही विद्यासागर हो रहा हूँ।

मंगल कामना

विभो ! अर्ज मंजूर हो, सुखी रहें सब जीव ।
ध्यावे निजके विषय को, तज के विषय सदीव ॥१॥
साधु बनो न स्वादु बनो, साध्य सिद्ध हो जाय ।
गमनागमन तमी मिटे, पाप पुण्य खो जाय ॥२॥
रत्नत्रय में रत रहो, रहो राग से दूर ।
विद्यासागर तुम बनो सुख पाओ भरपूर ॥३॥
रहो स्वपरोपकार में रत निश्चय उरधार ।
चिर अपरिचित चित्त में, चिर पुनि करो विहार ॥४॥
तन मिला तुम तप करो, करो कर्म का नाश
शशि रवि से भी अधिक है, तुम में दिव्य प्रकाश ॥५॥
तरणि ज्ञानसागर गुरो, तारो मुझे ऋषीश
करुणा कर करुणा करो, करम से दो आशीश ॥६॥
ज्ञानाराधन नित करूँ, मुझ में कुछ नहीं ज्ञान
दोष यहाँ .दि कुछ मिले, शोध पढ़ो धीमान ॥७॥
बाहुबली के चरण में, वर्षायोग सहर्ष
सुहाग नगरी (फरोजाबाद) में अहो स्थापित कर इस वर्ष ॥८॥
द्वय त्रि शून्य द्वय वर्ष की श्रावन की शित चौथ
जैन नगर में लिख दिया, निजानन्द का स्त्रोत ॥८॥

॥इति भावना शतकम् ।

परिषह - शतकम्



शिवसुखं प्रमुखं सुसमागमः, स्मृतिरियं तव चास्तु समागमः।
कुमतये कुदृशा तु समागमः, स्वपरतेरुपयातु स मा गमः।।

हे जिनवर ! तव चरण समागम सुरसुख शिवसुख शान्त रहा,
तव गुण गण का सतत स्मरण ही परमागम निभ्रान्त रहा।
विषय रसिक हैं कुधी रहे हैं अनुपम अधिगम नहीं मिले,
विरहित रति से रहूँ इसी से बोध कला उर सही खिले।।१।।

अर्थ – हे भगवन् ! श्रेष्ठ मोक्षसुख, सत्समागम, आपका ध्यान और समीचीन शास्त्र प्राप्त हों किन्तु कुबुद्धि के लिये मिथ्यादृष्टि के साथ समागम और तीव्र विद्वेष का प्रसिद्ध मार्ग प्राप्त न हो।।१।।

वियति को वियतिर्वियुतोऽयतः, गतिर्यतिं ह्यगतो यतितोयतः।
शकलतो विकलं कलशंकरं, किल यजे सकलं ह्यनिशं करम्।।

नभ में रवि सम यतनशील हैं यति नायक सुखकारक हैं,
ज्ञान-भाव से भरित-झील हैं श्रुतिकारक-दुखहारक हैं।
सकल विश्व को सकल ज्ञान से जान रहे शिवशंकर हैं,
गति-मति-रति से रहित रहे हैं हम सब उनके किंकर हैं।।२।।

अर्थ – जो आकाश में सूर्य के समान गतिशील हैं, यतियों में श्रेष्ठ हैं, जो कर्मोदय से रहित हैं अथवा अय–शुभावह विधि से वियुत–विशेषरूप से सहित हैं, गतियति–ज्ञान की विश्रान्ति से रहित हैं अर्थात् अनन्तज्ञान से संपन्न हैं, यतितोयतः – इन्द्रिय दमनरूप जल से सहित हैं और अखण्ड – समस्त विश्व को जानने वाले हैं उन सकल – परमौदारिक शरीर से सहित कर – सुखदायक, शान्तिविधायक जिनेन्द्र की मैं पूजा करता हूँ।।२।।

शुचिचिते श्रमणोऽत्र समानतः, सुखशुभाशुभ दुःख समानतः।
सयम-संयमभावविभावतः, श्रयमयेऽन्वितिरस्तु विभावतः।।

दुख में, सुख में तथा अशुभ-शुभ में नियमित रखते समता,
शुचितम चेतन को नमते हैं श्रमण, श्रमणता से ममता।
यम-संयम-दम-शम भावों की लेता सविनय शरण अतः,
विभाव-भावों दुर्भावों का क्षरण शीघ्र हो मरण स्वतः।।३।।

अर्थ – इस जगत् में श्रमण–साधु निर्मल चैतन्यस्वभाव के लिये समानत–नम्रीभूत है अर्थात् उसके लिये निरन्तर उद्यमशील हैं। सुख, दुःख, शुभ और अशुभ अवस्था में समानता से सहित हैं; अतः जीवनपर्यन्त के लिये धारण किये हुए सयमभाव के प्रभाव से आश्रय देने वाले उन विभु में मेरी अन्विति–अनुगति–भक्ति हो।।३।।

समवलम्ब्य सतीं शुचिशारदां, विषयमार्दववल्लितुषारदाम्।
यदिति पारिषहं शतकं वदे, बुधमुदेऽघभिदे शितसंविदे।।४।।

मृदुल विषयमय लता जलाती शीतलतम हिमपात वही,
शान्त शारदा, शरण उसी की ले जीता दिन-रात सही।
'शतक परीषह-जय' कहता बस मुनिजन, बुधजन मन हरसे,
मूल सहित सब अघ संघर से ज्ञान-मेघ फिर झट बरसे।।४।।

अर्थ – विषयरूपी कोमल लताओं को तुषार देने वाली प्रशस्त जिनवाणी का आश्रय ले, मैं जिस परिषहशतक को कह रहा हूँ वह विज्ञजनों के हर्ष के लिये, पापों के विनाश के लिये और उज्ज्वल ज्ञान के लिये होवे।।४।।

समुदितेऽसति वै सति मे विधौ, क्षुदनुभूतिरियं प्रथमे विधौ।
विधि - फलं ह्युदितं समयेऽयति, समतया सह यत्सहते
यतिः।।

उदय असाता का जब होता उलटी दिखती सुखदा है,
प्रथम भूमिका में ही होती क्षुधा वेदना दुखदा है।
समरस रसिया ऋषि समता से सब सहता निज ज्ञाता है,
सब का सब यह विधि फल तो है 'समयसार' सुन ! गाता है।।५।।

अर्थ – मेरे अशुभकर्म का उदय रहते हुए प्रारम्भिक भूमिका में यह क्षुधा की अनुभूति हो रही है उदयागत कर्म का फल समय आने पर चला जाता है – नष्ट हो जाता है ऐसा विचार कर साधु समताभाव से क्षुधापरिषह को सहन करते हैं।।५।।

भवतु सा तु सतां वरभूतये, सुगतये विधिसंवरभूतये।
कुगतये कुधियां किल कारणं, विषयतोऽसुखि चैतदकारणम्।।

क्षुधा परीषह सुधीजनों को देता सद्‌गति सम्पद है,
और मिटाता नियमरूप से दुस्सह विधिफल आपद है।
कुधीजनों को किन्तु पटकता कुगति कुण्ड में कष्ट! अहा!
विषय रसिक हो दुखी जगत है सुखी जगत कह स्पष्ट रहा।।६।।

अर्थ – वह क्षुधापरिषह साधुओं को उत्कृष्ट संपत्ति के लिये, देवादिगति की प्राप्ति के लिये तथा कर्मों के संवररूप विभूति के लिये होता है परन्तु अज्ञानीजनों को दुर्गति के लिये होता है। यह जगत् विषयों से अकारण ही दुःखी हो रहा है।।६।।

कनकतां दृशदोऽनलयोगतः, शुचिमिता अनया मुनयो गतः।
अभिनुता जितचित्तभुवा क्षुधा, शिवपथीत्युदिता निजवाक्षु धा।।

कनक, कनकपाषाण नियम से अनल योग से जिस विध है,
क्षुधा परीषह सहते बनते, शुचितम मुनिजन उस विध है।
क्षुधा विजय सो काम विजेता मुनियों से भी वन्दित है,
शिव-पथ पर पाथेय रहा है जिन मत से अभिनन्दित है।।७।।

अर्थ – जिस प्रकार अग्नि के संयोग से स्वर्णपाषाण स्वर्णता को प्राप्त होते हैं उसी प्रकार इस क्षुधापरीषह के योग से मुनि शुचिता–निर्मलता को प्राप्त हुए हैं। कामविजेता मुनियों ने मोक्षमार्ग में इस क्षुधापरीषह की संस्तुति की है। ऐसा ब्रह्मा--जिनेन्द्रदेव ने अपनी वाणी में कहा है।।७।।

ननु कृतानशनेन तु साधुना, ह्यसमयेऽप्यशनं न हि साधु ना।
स्वसमये वचसा शुचि साधुना, निगदितं शृणु तन्मनसाऽ धुना।।

आगम के अनुकूल किया यदि किसी साधु ने अनशन है,
असमय में फिर अशन त्याज्य है अशन कथा तक अशरण है।
वीतराग सर्वज्ञ देव ने आगम में यों कथन किया,
श्रवण किया कर सदा उसी का, मनन किया कर, मथन जिया।।८।।

अर्थ – निश्चय से उपवास करने वाले साधु को असमय में – चर्या के प्रतिकूल समय में निरवद्य भी आहार नहीं लेना चाहिये, ऐसा वीतराग साधु–जिनेन्द्रदेव ने अपने आगम में वचन द्वारा कहा है। उसे तुम इस समय मन लगाकर सुनो।।८।।

अनघतां लघुनैति सुसंगतां, सुभगतां भगतां गतसंगताम्।
जितपरीषहकः सह को विदा, विदुरिहाप्यघकासह ! कोविदाः।।

स्वर्णिम, सुरभित, सुभग, सौम्यतन सुरपुर में वर सुरसुख है,
उन्हें शीघ्र से मिलता शुचितम शाश्वत भास्वत शिवसुख है।
वीतराग विज्ञान सहित जो क्षुधा परीषह सहते हैं,
दूर पाप से हुए आप हैं बुधजन जग को कहते हैं।।६।।

अर्थ – हे पाप को न सहन करने वाले मुनिराज ! परीषहों को जीतने वाला जीव, इसी लोक में शीघ्र ही निष्पापता, सत्संगति, सौभाग्यशालिता, ऐश्वर्यसंपन्नता, और निर्ग्रन्थता को, सम्यग्ज्ञान को प्राप्त होता है, ऐसा विद्वान् जानते हैं, कहते हैं।।६।।

निजतनोर्ममता वमता मता, मतिमता समता नमता मता।
विमलबोधसुधां पिबताऽजस्रं, व्यथति तं न तृषा सुगताज ! सा ।।

पाप-ताप का कारण तन की ममता का बस वमन किया,
शमी-दमी, मतिमान मुनी ने समता के प्रति नमन किया।
विमल बोधमय सुधा चाव से तथा निरन्तर पीता है,
उसे तृषा फिर नहीं सताती सुखमय जीवन जीता है।।१०।।

अर्थ – हे आत्मज्ञ ! शरीर की ममता को छोडने वाले, भेदविज्ञान से सहित, समता के प्रति नम्रीभूत और यथार्थरूप से निर्मलज्ञानामृत का पान करने वाले मुनि ने जिसे स्वीकृत किया है वह तृषा तथोक्त कार्य करने वाले मुनि को पीड़ित नहीं करती।।१०।।

शमवतोऽत्र यतेर्भवतो यतः, सभयतां गुणिनश्च सतो यतः।
लसति मा पुरतो मुदिता सती, तदसहेति तृषा कुपिताऽसती।।

कषाय रिपु का शमन किया है सने स्वरस में गुणी बने,
नम्र नीत, भवभीत रीत हो अघ से, तप के धनी बने।
मुक्ति रमा आ जिनके सम्मुख नाच, नाचती मुदित हुई,
मनो इसी से तृषा जल रही ईर्ष्या करती कुपित हुई।।११।।

अर्थ – यतश्च इस जगत् में प्रशमगुण से सहित, संसार से भयभीत एवं अनेक गुणों से युक्त मुनि के आगे मुक्तिलक्ष्मी प्रसन्न होती हुई विलसती है। अतः उसे सहन न करने वाली तृषारूपी स्त्री

कुपित होकर मुनि के पास नहीं रहती। ईर्ष्यावश मुनि के पास नहीं आती।।११।।

नहि करोति तृषा किल कोपिनः, शुचिमुनीनितरो भुवि कोऽपि न।
विचलितो न गजो गजभावतः, श्वगणकेन सहापि विभावतः।।

निरालम्ब हो, स्वावलम्ब हो, जीवन जीते मुनिवर हैं,
कभी तृषा या अन्य किसी वश कुपित बनें ना; मतिवर हैं।
श्वान भौंकते सौ-सौ मिलकर पीछे - पीछे चलते हैं,
विचलित कब हो गजदल आगे ललित चाल से चलते हैं।।१२।।

अर्थ – पृथ्वी पर निर्दोषचर्या करने वाले मुनियों को पिपासा तथा अन्य कोई भी पदार्थ कुपित नहीं करता। जैसे हाथी कुक्कुरसमूह के द्वारा तंग किये जाने पर भी क्रोधवश अपने गजस्वभाव–गम्भीर भाव से विचलित नहीं होता।।१२।।

शमनिधौ निजचिद्विमलक्षिते-र्व्ययभवध्रुवलक्षणलक्षिते।
यदि यमी तृषितः सहसा गरेऽ-वतरतीव शशी किल सागरे।।

व्यय - उद्भव, ध्रुव-लक्षण से जो परिलक्षित है खरा रहा,
चिन्मय गुण से रचा गया है, समरस से है भरा रहा।
मनो कभी मुनि तृषित हुआ औ निज में तब अवगाहित हो,
जैसा सागर में शशि होता निश्चित सुख से भावित हो।।१३।।

अर्थ – यदि कदाचित् मुनि कण्ठ में तृषा से युक्त होता है अर्थात् प्यास से उसका गला सूखता है तो वह अपने चैतन्यरूप निर्मल वसुधा के भीतर विद्यमान एवं व्यय, उत्पाद और ध्रौव्य लक्षण से सहित प्रशमरस के भण्डार में उस प्रकार शीघ्र अवगाहन करता है जिस प्रकार कि चन्द्रमा समुद्र में।।१३।।

व्यथितनारकिणोऽपि पिपासवः, कलितकण्ठगतापकृपासवः।
इति विचार्य मुनिस्तदपेक्षया, मयि विपन्नयुतोऽयमुपेक्षया।।

रव-रव नरकों में वे नारक तृषित हुये हैं, व्यथित हुये,
सदय हृदय ना अदय बने हैं प्राण कण्ठगत मथित हुये।
उस जीवन से निज जीवन की तुलना कर मुनि कहते हैं,
वहाँ सिन्धु सम दुःख रहा तो यहाँ बिन्दु हम सहते हैं।।१४।।

अर्थ– जिनके निर्दय प्राणकण्ठगत हो रहे हैं ऐसे प्यास से युक्त पीडित नारकी भी तो हैं उनकी अपेक्षा मेरी विपत्ति कोई विपत्ति नहीं है, ऐसा विचार कर मुनि प्यास के प्रति उपेक्षा से सहित है अर्थात् प्यास दूर करने का कोई प्रयत्न नहीं करते।।१४।।

चलतु शीततमोऽपि सदागति-रमृतभावमुपैतु सदागतिः।।
जगति कम्पवती रसदा गतिः, स्खलति नो वृषतोऽपि सदागतिः।।

शीत-शील का अविरल-अविकल बहता जब है अनिल महा ,
ऐसा अनुभव जन-जन करते अमृत मूल्य का अनल रहा।
पग से शिर तक कपड़ा पहना कप-कप कपता जगत रहा ,
किन्तु दिगम्बर मुनि से नहिं विचलित हो मुनि-जगत रहा।।१५।।

अर्थ– अत्यन्त शीत वायु चले, अग्नि अमृतभाव को प्राप्त हो और जगत् में जीवों की दशा कम्पन से युक्त तथा शरीर को विदीर्ण करने वाली भले ही हो तो भी मुनि धर्म से विचलित नहीं होता।।१५।।

तरुणतोऽरुणतः किरणावली , प्रशमिता सविता सगुणाऽवली।
गुरुनिशा लघुतां दिवसं गतं, मुनिरितः स्ववशं ननु संगतम्।।

तरुण-अरुण की किरणावलि भी मन्द पड़ी कुछ जान नहीं,
शिशिर वात से ठिठुर शिथिल हो भानु उगा पर, भान नहीं।
तभी निशा वह बड़ी हुई है लघुतम दिन भी बना तभी,
पर परवश मुनि नहीं हुआ है सो मम उर में ठना अभी।।१६।।

अर्थ– शीत की अधिकता के कारण ही मानों मध्याह्न के सूर्य की किरणावली शान्त हो गई। स्वकीय गुणावली से सहित सूर्य शान्त हो गया, रात बड़ी और दिन छोटा हो गया, तो भी मुनि निश्चय से स्वाधीन संगति को ही प्राप्त रहे अर्थात् शीत निवारक परपदार्थों के अधीन नहीं हुए।।१६।।

विमलचेतसि पूज्ययतेः सति, महसि सत्तपसि ज्वलिते सति।
किमु तदा हि बहिर्हिमपाततः, सुखितजीवनमस्य मपाः ततः।।

यम-दम-शम-सम से मुनि का मन अचल हुआ है विमल रहा,
महातेज हो धधक रहा है जिसमें तप का अनल महा।
बाधा क्या फिर बाह्य गात पे होता हो हिमपात भले,
जीवन जिनका सुखित हुआ हम उन पद में प्रणिपात करें।।१७।।

अर्थ– पूज्य मुनिराज के प्रशस्त निर्मल चित में जब समाचीन तपरूपी तेज देदीप्यमान हो रहा है तब बाह्य में बर्फ के पड़ने से उसे क्या चिन्ता है ? इसका जीवन तो उस समय भी सुखी रहता है इस कारण हे साधो ! तुम ब्रह्मरूप आत्मा के रक्षक होओ।

नभसि कृष्णघना अभयानका:, सतडित: सजलाश्च भयानका:।
अशनिपाततयाप्यचलाश्चला:, स्थिरमटेच्च मुनिं ह्यचला चला:।।

भय लगता है नभ में काले जल वाले घन डोल रहे,
बीच-बीच में बिजली तड़की घुमड़-घुमड़ कर बोल रहे।
वज्रपात से चूर हो रहे अचल, अचल भी चलित हुए,
फिर भी निश्चल मुनि रहते हैं शिव मिलता, सुख फलित हुए।।१८।।

अर्थ – आकाश में कौंदती हुई बिजली से सहित जलयुक्त, भयोत्पादक, काले–काले गर्जते हुए मेघ भले ही छाये रहें, वज्रपात से पर्वत भी चंचल हो उठे और अचला––पृथिवी भी चला हो जावे––काँप उठे तो भी हे अभय ! मुनि को स्थिर ही पाते हैं। तथोक्त उपसर्गों के कारण मुनि कभी भी विचलित नहीं होते।।१८।।

तपनता तपनस्य निदाघिका, व्रतवते स्ववते न निदाऽधिका।
समुचितं सवितुः प्रकराः कराः, सलिलजाय सदा प्रखराः कराः।।

चण्ड रहा मार्तण्ड ग्रीष्म में विषयी-जन को दुखद रहा,
आत्मजयी ऋषि वशीजनों को दुखद नहीं शिव सुखद रहा।
प्रखर, प्रखरतर किरण प्रभाकर की रुचिकर ना कण-कण को,
कोमल-कोमल कमलदलों को खुला खिलाती क्षण-क्षण को।।१६।।

अर्थ :- सूर्य की ग्रीष्म कालीन तपनता आत्मविजयी मुनि के लिये दुःखप्रद नहीं होती यह उचित ही है क्योंकि सूर्य की अत्यन्त तीक्ष्ण किरणे कमल के लिये सदा सुखदायक होती हैं।।१६।।

सरसि जन्तुसभा न कतापतः, सरसिजं तु कुतोऽम्बु वितापतः।
इयति घर्मणि शान्तिसुधारक-स्तदवरोधन भाव विदारकः।।

सरिता, सरवर सारे सूखे सूरज शासन सक्त रहा,
सरसिज, जलचर कहाँ रहें फिर? जीवन साधन लुप्त रहा।
इतनी गरमी घनी पड़ी पर; करते मुनि प्रतिकार नहीं,
शान्ति सुधा का पान करें नित तन के प्रति ममकार नहीं।।२०।।

अर्थ – सूर्य के संताप से सरोवर में जलचरों का समूह नहीं रहा। ताप की अधिकता से जल सूख गया फिर कमल कैसे रह सकता है? ऐसी गर्मी में शान्ति के धारक मुनि, उस गर्मी के रोकने वाले भाव को भी दूर करते हैं अर्थात् गर्मी को दूर करने का भाव भी नहीं करते हैं।।२०।।

त्रिपथगाम्बु सुचन्दनवासितं, शशिकलां सुमणिं ह्यथवा सितम्।
प्रकलयन्ति न धर्मसुशान्तये, भुवि मता मुनयो जिनशान्त! ये।।

सुरमा, काजल, गंगा का जल, मलयाचल का चन्दन है,
शरद चन्द्र की शीतल किरणें मणि माला, मनरंजन है।
मन में लाते तक ना इनको, शान्त बनाने तन-मन को,
मुनि कहलाते पूज्य हमारे जिनवर कहते भविजन को।।२१।।

अर्थ -- हे शान्तिजिनेन्द्र ! पृथिवी पर जो निर्ग्रन्थ मुनि माने गये हैं वे गर्मी की बाधा शान्त करने के लिये न चन्दनसुवासित गंगाजल की न चन्द्रकला की और न शुक्ल चन्द्रकान्तमणि की इच्छा करते है – इनका सेवन करते हैं।।२१।।

पतितपत्रकपादपराजितं, प्रतिवनं रविपादपराजितम्।
मुनिमनो नु ततोऽस्त्वपराजितं, नमति चैष तकं स्वपराजितम्।।

महाप्रतापी, भू-नभ तापी अभिशापी रवि बना रहा,
वन हारे, तरु सारे-खारे पत्र फूल के बिना अहा!
किन्तु पराजित नहीं मुनीश्वर जित-इन्द्रिय हो राजित हैं,
हृदय-कमल पर उन्हें बिठाऊं त्रिभुवन से आराधित हैं।।२२।।

अर्थ–जब प्रत्येक वन पत्ररहित वृक्षों से युक्त तथा सूर्य की किरणों से पराभूत होता है तब मुनि का मन उससे अपराजित रहता है। उस शुष्क वन से भयभीत नहीं होता, किन्तु स्वप–राजित–आत्म रक्षक गुणों से सुशोभित रहता है। उन मुनि को यह स्तोता नमन करता है।।२२।।

परिषहं कलयन् सह भावतः, स हतदेहरुचिर्निजभावतः।
परमतत्त्वविदा कलितो यतिः, जयतु मे तु मनः फलतोऽयति।।

तन से, मन से और वचन से उष्ण-परीषह सहते हैं,
निरीह तन से हो निज ध्याते बहाव में ना बहते हैं।
परम तत्त्व का बोध नियम से पाते यति जयशील रहे,
उनकी यशगाथा गाने में निशिदिन यह मन लीन रहे।।२३।।

अर्थ – आत्मस्वभाव में विद्यमान होने से जिनकी शरीर सम्बन्धी प्रीति नष्ट हो चुकी है, जो समीचीन अभिप्राय – ख्यातिलाभादि की भावना से रहित मन से परिषह को सहन कर रहे हैं तथा उत्कृष्ट तत्त्वज्ञान से सहित हैं वे मुनि जयवंत हों। इसके फलस्वरूप वे मुनि मेरे मन को प्राप्त हो रहे हैं अर्थात् मैं उनका निरन्तर ध्यान करता हूँ।।२३।।

विषधरैर्विषमैर्विषयातिगः, परिवृतो व्रतवानदयातिगः।
नहि ततोऽस्य तु किंचन मानसं, कलुषितं किल
तच्छुचिमानसम्।।

विषयों को तो त्याग-पत्र दे व्रतधर शिवपथगामी हैं,
मत्कुण मच्छर काट रहे अहि, दया-धर्म के स्वामी हैं।
कभी किसी प्रतिकूल दशा में मुनिमानस नहिं कलुषित हो,
शुचितम मानस सरवर-सा है सदा निराकुल विलसित हो।।२४।।

अर्थ – पञ्चेन्द्रियों के विषयों से रहित दयालुमुनि, यद्यपि विषम विषधरों – सर्पों से वेष्टित रहते हैं तथापि इनका पवित्र मन रूपी मानसरोवर उनसे कुछ भी कलुषित नहीं होता।।२४।।

असुमतः प्रति यो गतवैरतः, शुभदयागुणके सति वै रतः।
व्यथित नो मनसा वचसाङ्गतः, सदसि पूज्यपदं विदुषांगतः।।

चराचरों से मैत्री रखते कभी किसी से बैर नहीं,
निलय दया के बने हुए हैं नियमित चलते स्वैर नहीं।
तन से, मन से और वचन से करें किसी को व्यथित नहीं,
सुबुध जनों से पूजित होते मान-गान से सहित सही।।२५।।

अर्थ – जो मुनि प्राणियों के प्रति वैर रहित होने से निश्चयतः श्रेष्ठ दयागुण में लीन रहते हुए मन, वचन, काय से दुःखी नहीं होते, वे विद्वानों की सभा में पूज्य स्थान को प्राप्त होते हैं।।२५।।

रुधिरकं तु पिबन्ति पिबन्तु ते, स्तुतिसुधां सुखिनोऽज पिबन्तु ते।
मम न हानिरिहास्ति हि वस्तुतः, इति तनोः पृथगस्मि भवस्तुत !।।

मत्कुणं आदिक रुधिर पी रहे पी लेने दो जीने दो,
तव शुभ स्तुति की सुधा चाव से मुझे पेट भर पीने दो।
तीन लोक के पूज्य पितामह ! इससे मुझको व्यथा नहीं,
यथार्थ चेतन पदार्थ मैं हूँ तन से 'पर' मम कथा यही।।२६।।

अर्थ – हे भवस्तुत ! अज ! हे समस्त संसार के द्वारा स्तुत ब्रह्मन् ! यदि वे खटमल तथा मच्छर आदि कुछ रुधिर पीते हैं तो पियें और वे सुखीजन यदि स्तुतिरूपी अमृत पीते हैं तो पिये, इस विषय में परमार्थ से मेरी हानि नहीं है; क्योंकि मैं शरीर से पृथक् हूँ।।२६।।

मशकदंशकमत्कुणकादयः, प्रविकलाः क्षुधिता अनकादय !
स्वकममी प्रभजंतु नु कं कदा, त्विति सतामनुचिंतनकं कदा।।

दंश मसक ये कीट पतंगे पल भर भी तो सुखित नहीं,
पाप पाक से पतित पले हैं क्षुधा, तृषा से दुखित यही।
कब तो इनका भाग्य खुले कब निशा टले, कब उषा मिले,
सन्त सदा यों चिंतन करते दिशा मिले, निज दशा खिले।।२७।।

अर्थ -- हे अनकादय ! हे पाप और अदया से रहित जिनदेव ! जो डांश, मच्छर तथा खटमल आदि जीव क्षुधा से युक्त हो अत्यन्त विकल दुखी हो रहे है वे अपने सुख को कब प्राप्त हो, साधुओं का ऐसा चिन्तन कब हो।।२७।।

स्वपददं च पदं हि दिगम्बरं, निरुपयोग्यघदं तु धिगम्बरम्।
इति विचार्य विमुञ्चितपाटकाः, शिवपथेऽत्र जयन्तु नपाटकाः।।

निरा, निरापद, निजपद दाता यही दिगम्बर पद साता,
पाप-प्रदाता आपद-धाता शेष सभी पद गुरू गाता।
हुए दिगम्बर अम्बर तजकर यही सोच कर मुनिवर हैं,
शिवपथ पर अविरल चलते हैं हे जिनवर ! तव अनुचर हैं।।२८।।

अर्थ निश्चय से दिगम्बर पद ही आत्मपद—मोक्ष का देने वाला है। किन्तु अनुपयोगी तथा पाप को देने वाले वस्त्र को धिक्कार हो। ऐसा विचार कर जिन्होंने वस्त्र का परित्याग किया है ऐसे दिगम्बर साधु मोक्षमार्ग में जयवन्त रहें।।२८।।

कृतकृपा निजके च्युतवासना, हृततृपास्तु विसर्जितवासंनाः।
समुपयान्तु शिवं ह्यभवं तु ते, धृतपटा मुनयो न भवन्तु ते।।

अपने ऊपर पूर्ण दया कर विषय-वासना त्याग दिया,
नग्न परीषह सहते तजकर वस्त्र, निजी में राग किया।
अनुपम, अव्यय वैभव पाते लौट नहीं भव में आते,
वस्त्र वासना जो ना तजता भ्रमता भव-भव में तातैं।।२६।।

अर्थ -- जो निज आत्मा पर दयालु हैं अर्थात् उसे विषय प्रपञ्च से दूर रखते हैं, जिन्होंने विषयों की वासना-संस्कार छोड़ दिये हैं, जो लज्जा से रहित हैं तथा वस्त्र समूह से रहित हैं, वे निश्चय से मोक्ष को तथा जन्माभाव को प्राप्त हों। इनके विपरीत जो वस्त्रधारक हैं वे परमार्थ से मुनि नहीं हैं और मुक्ति एवं जन्माभाव को प्राप्त करने के योग्य नहीं हैं।।२६।।

जगदिदं द्विविधं खलु चेतनं, यदितरं स्वयमेव विचेतनम्।
विविधवस्तुनिकायनिकेतनं, शृणु निरावरणं हि निकेतनम्।।

यहाँ अचेतन पुद्गल आदिक निज-निज गुण के केतन हैं,
आदि मध्य औ अन्त रहित हैं ज्ञान निलय हैं, चेतन हैं।
यथार्थ में तो पदार्थ दल से भरा जगत् यह शाश्वत है,
निरावरण हैं, निरा दिगम्बर स्वयं आप 'बस' भास्वत हैं।।३०।।

अर्थ – यह जगत् चेतन अचेतन के भेद से दो प्रकार का है। उनमें जो चेतन अथवा अचेतन है वह स्वयं तथाभूत है। अर्थात् चेतन अचेतन रूप और अचेतन चेतन रूप नहीं हो सकता। सब अपने अपने नियत लक्षणों से युक्त हैं। समस्त वस्तु समूह के घर स्वरूप यह जगत् निरावरण है–घर के आवरण से रहित है अतः मुनि को भी निरावरण रहना प्रकृति सिद्ध है। हे भव्य ! इस रहस्य

को तू सुन, सगझ तथा अंगीकृत कर।।३०।।

अत इतो न घृणां कुरुते मनो, भुवि मुदार्षिरिदं ह्ययते मनो!
कुलहितं तनुजं जननीहते, भवति शोकवती गुणिनी हते।।

बिना घृणा के नग्नरूप धर मुनिवर प्रमुदित रहते हैं,
भवदुःखहारक, शिवसुखकारक, दुस्सह परिषंह सहते हैं।
लालन-पालन, लाड़-प्यार से सुत का करती ज्यों जननी,
कुलदीपक यदि बुझता है तो रुदन मचाती है गुणिनी।।३१।।

अर्थ – हे मनो ! इसलिये मुनि का मन इस नाग्न्यव्रत की ओर घृणा नहीं करता है। पृथिवी पर मुनि इसे हर्ष से प्राप्त होते हैं – धारण करते हैं। जिस प्रकार गुणवती माता कुल का हित करने वाले पुत्र की इच्छा करती है, उसका लालन पालन करती है और उसके नष्ट हो जाने पर शोकयुक्त होती है। इसी प्रकार मुनि नाग्न्यव्रत की इच्छा करते हैं–उसका निर्दोष पालन करते हैं और उसमें बाधा आने पर दुखी होते हैं।।३१।।

करणमोदपदार्थरसं प्रति, विरतिभावयुतो भुवि सम्प्रति।
सुविजितोऽरतिनाम परीषहः, करुणयाह कवाक् तु करी सह।।

इन्द्रिय जिनसे चंचल होती सब विषयों से निरत हुए,
इन्द्रियविजयी, विजितमना हैं निशिदिन निज में विरत हुए
अविरति रति से मौन हुये हैं अरति परीषह जीत रहें,
जिनवर वाणी करुणा कर-कर कहती यों भवभीत रहे।।३२।।

अर्थ -- पृथिवी पर निर्ग्रन्थमुद्रा के समय जो मुनि, इन्द्रियों को हाषत करने वाले पदार्थों के रस के प्रति विरक्तिभाव से सहित हो:ता है अर्थात् अनुकूल रस वाले पदार्थों के स्वाद में अनुरक्त नहीं होता है उसके द्वारा अरतिनाम का परिषह सुख से जीता जाता है ऐसा कर्तव्य का निर्देश करने वाली जिनवाणी दयापूर्वक कहती है।।३२।।

विकृतरूपशवादिकदर्शनात्, पितृवने च गजाहित गर्जनात्।
अरतिभाव-मुपैति न कंचन, समितभावरतोऽञ्चतु क ंच न !।।

सड़ा-गला शव मरा पड़ा जो बिना गड़ा, अधगड़ा जला,
भीड़ चील की चीर-चीरकर जिसे खा रही हिला-हिला।
दृश्य भयावह लखते, सुनते गजारिगर्जन मरघट में,
किन्तु ग्लानि, भय कभी न करते, रहते मुनिवर निज घट में।।33।।

अर्थ -- हे जिन ! जो मुनि श्मशान में विकृत रूप - सड़े गले मृतक शरीर के देखने और हाथियों की अहितकारी–भयावह गर्जना से कुछ भी अरतिभाव--अप्रीति भाव को प्राप्त नहीं होता; साम्यभाव में लीन रहने वाला वह मुनि, सुख को प्राप्त हो।।33।।

विरमति श्रुततो ह्यघकारतः, वचसि ते रमते त्वविकारतः।
स्मृतिपथं नयतीति न भोगकान्, विगतभावितकांश्च विभोऽघकान्।।

विषय वासना जिनसे बढ़ती उन शास्त्रों से दूर रहें,
विराग बढ़ता जिनसे उनको पढ़ें साम्य से पूर रहें।
विगत काल में भोगे भोगों कभी न मन में लाते हैं,
प्राप्तकाल सब सुधी बिताते निजी रमन में तातें हैं।।३४।।

अर्थ– हे विभो ! जो मुनि पापकारक शास्त्र से विरत रहता है तथा विकार रहित आपके वचन में–सुशास्त्र में रमण करता है वह पापकारक अतीत–अनागत भोगों का स्मरण नहीं करता।।३४।।

सुविधिना यदनेन विलीयते, मनसिजा विकृतिः किल लीयते।
बलवती शुचिदृक् प्रविजायते, ध्रुवमतो लघुमायमजायते।।

आगम के अनुकूल साधु हो अरति परीषह सहते हैं,
कलुषित मन की भाव-प्रणाली मिटती गुरूवर कहते हैं।
प्रतिफल मिलता दृढ़तग, शुचितम दिव्य-दृष्टि झट खुलती है,
नियम रूप से शिव-सुख मिलता ज्योत्सना जगमग जलती है।।३५।।

अर्थ -- जिस कारण मुनि विधिपूर्वक आत्मस्वरूप में लीन होता है, मानसिक विकृति को नष्ट करता है और उसके सुदृढ निर्मल सम्यग्दर्शन होता है अतः उसे संयम से उत्पन्न होने वाली मा--मोक्षलक्ष्मी शीघ्र ही नियम से प्राप्त होती है।।३५।।

मदनमार्दवमानसहारिणी, लसितलोलकलोचनहारिणी।
मुदितमञ्जुमतउड्गंविहारिणी, यदि दृशे किमु सा स्वविहारिणी।।

विशाल विस्फारित मंजुलतम चंचल लोचन वाली हो,
कामदेव के मार्दव मानस को भी लोभन वाली हो।
मुख पर ले मुस्कान मन्दतम गजसम गमनाशीला हो,
उस प्रमदा के वश मुनि ना हो अद्भुत चिन्मय लीला हो।।३६।।

अर्थ – कामदेव के कोमल चित्त को हरने वाली, सुन्दर एवं चञ्चल नेत्रों से मनोहर और प्रसन्न मनोहर हाथी के समान चालवाली स्त्री यदि दृष्टि के लिये प्राप्त होती है अर्थात् देखने में आती है तो निर्ग्रन्थ साधु विचार करता है क्या वह स्त्री स्वविहारिणी है? अपने आप में रमण करने वाली है? अर्थात् नहीं।।३६।।

सततभुक्तचरा मदमोहिता, यदिति या प्रमदाप्तयमोदिता।
यदि वने विजने स्मितभाषया, वदति चास्तु यतिर्न विभाषया।।

सदा, भुक्त, उन्मुक्त विचरती मत्त स्वैरिणी मोहित है,
तभी कहाती प्रमदा जग में बुधजन से अनुमोदित है।
वन में, उपवन में, कानन में, स्मित वदना कुछ बोल रही,
निर्विकार यति बने रहे वे उनकी दृग अनमोल रही।।३७।।

अर्थ – यतश्च जो स्त्री निरन्तर स्वच्छन्द घूमती है और मद से मोहित होती है उसे जिनेन्द्र के संयम में 'प्रमदा' कहा गया है। ऐसी स्त्री मुस्कराती हुई निर्जन वन में सराग वाणी से यदि कुछ कहती है तो साधु अपने पद से विरुद्ध भाषा से युक्त न हों अर्थात् उससे बात न करें।।३७।।

विमलरोचनभासुररोचना, विलसितोत्पलभासुररोचना।
जनयितुं विकृतिं न हि सा क्षमा, ह्यविचलात्र यतौ सरसा क्षमा।।

लाल कमल की आभा सी तन वाली हैं सुर वनिताएँ,
नील कमल सम विलसित जिनके लोचन हैं सुख - सुविधाएँ।
किन्तु स्वल्प भी विषय वासना जगा न सकती मुनि मन में,
सुखदा, समता सती, छबीली क्योंकि निवसती है उनमें।।३८।।

अर्थ – सुशोभित नीलकमल के समान सुन्दर नेत्रों वाली एवं निर्मल लालकमल के समान कान्ति से युक्त देवागंना भी निर्ग्रन्थ साधु को विकार उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है क्योंकि क्षमा–पृथिवी सरोवर से अविचल ही रहती है।।३८।।

श्रमणतां श्रयता श्रमणेन या, त्वरमिता रमिता भुवनेऽनया।
किमु विहाय सुधीरविनश्वरां, त्विह समामभिवाञ्छति नश्वराम्।।

शीलवती है, रूपवती है, दुर्लभतम है वरण किया,
समता रमणी से निशिदिन जो श्रमण बना है रमण किया।
फिर किस विध वह नश्वर को जो भवदा ! दुःखदा वनिता है,
कभी भूलकर क्या चाहेगा? पूछ रही यह कविता है।।३६।।

अर्थ – साधुता को धारण करने वाले साधु के द्वारा जो रामता शीघ्र प्राप्त की गई इराके साथ रमण करने वाला ज्ञानी पुरुष इरा अविनाशिनी रागता को छोड क्या विनाशिनी सुन्दर स्त्री की इच्छा करता है? अर्थात नही।।३६।।

कठिनसाध्यतपोगुणवृद्धये, मतिमलाहतये गुणवृद्ध ! ये।
पदविहारिण आगमनेत्रका, धृतदया विमदा भुवनेऽत्र काः।।

कठिन कार्य है खरतर तपना करने उन्नत तपगुण को,
पूर्ण मिटाने भव के कारण चंचल मन के अवगुण को।
दया वधू को मात्र साथ ले वाहन बिन मुनि पथ चलते,
आगम को ही आँख बनाये निर्मद जिनके विधि हिलते।।४०।।

अर्थ -- हे गुणवृद्ध ! इस जगत् में जो आगमरूप नेत्र से युक्त, दयालु और मद से रहित आत्मायें--साधु हैं वे कठिनसाध्य तपरूप गुणों की वृद्धि के लिये एवं बुद्धि सम्बन्धी मल--दोषों को नष्ट करने के लिये पैदल ही विहार करते हैं।।४०।।

अथ निवारितकापदरक्षकाः, श्रममितास्तु निजापदरक्षकाः।
अकुशलाध्वचलत्पदलोहिताः, किमु तदा सुधियोऽन्तरलोहिताः।।

सभी तरह के पाद त्राण तज नग्न पाद से ही चलते,
चलते-चलते थक जाते पर निज पद में तत्पर रहते।
कंकर, कंटक चुभते-चुभते, लहुलुहान पद लोहित हो,
किन्तु यही आश्चर्य रहा है, मुनि का मन ना लोहित हो।।४१।।

अर्थ -- जिन्होंने सब प्रकार के पादत्राण–जूता– चप्पल आदि छोड दिये हैं, जो पैदल चलने से खेद को प्राप्त हैं, आपत्ति से अपनी रक्षा–बचाव नहीं करते हैं तथा अकुशल– कण्टकादि से व्याप्त मार्ग में चलने वाले पैरों से लहूलुहान हो रहे हैं, ऐसे विवेकी मुनिराज क्या उस समय अपने अन्तःकरण में लोहित–रागी होते हैं? अर्थात् नहीं।।४५।।

कमलकोमलकौ ह्यमलौ कलौ, ह्यभवतां सुपदौ सबलौ कलौ।
इति विचार्य तनौ भव मा रतः, स्मर कथां सुपदां सुकुमारतः।

कोमल-कोमल लाल-लालतर युगल पादतल कमल बने,
अविरल, अविकल चलते-चलते सने रुधिर में तरल बने।
मन में ला सुकुमाल कथा को अशुचि काय में मत रचना,
मार मार कर महा बनो तुम यह कहती रसमय रचना।।४२

अर्थ - सुकुमाल स्वामी के कमल के समान कोमल, निर्मल और मनोहर सुन्दरचरण कलिकाल सबल--शक्तिसंपन्न हुए थे, ऐसा विचार कर हे साधो ! शरीर मे रत--लीन न होओ, उन उत्तमपद प्रदायिनी अथवा सुन्दरपदावलि से युक्त कथा का स्मरण कर।।४२।।

समधिरोहितबोधसुयानका, स्तनुसुखावहविस्मृतयानकाः।
पथि चलत्स्वतनोः किल दर्शकाः, तयिति सन्तु जयन्तु तु दर्शकाः।।

बोधयान पर बैठ, कर रहे यात्रा यतिवर यात्री हैं,
त्याग चुके हैं, भूल चुके हैं रथवाहन, करपात्री हैं।
पथ पर चलता तन को केवल देख रहे पथ दर्शाते,
सदा रहें जयवन्त सन्त वे नमूँ उन्हें मन हर्षाते।।४३।।

अर्थ – जो सम्यग्ज्ञानरूपी सवारी पर अधिरूढ हैं, शरीर के सुखदायक वाहनों को भूल चुके हैं तथा मार्ग में चलते हुए शरीर को जो दिखाते हैं अर्थात् देखने वालों से किसी प्रकार की सहायता की इच्छा नहीं करते, किन्तु यही चाहते हैं कि दर्शक लोग भी इसी तरह पद विहार करने वाले हों। इस प्रकार चर्यापरिषह को सहन करने वाले साधु जयवंत रहें।।४३।।

विदचलीकृतचञ्चलमानसः, प्रगतमोहतरङ्गसुमानसः।
बहुदृढासनसंयतकायक, स्तदनुपालितजीवनिकायकः।।

आत्मबोध पा पूज्य साधु ने चंचल मन को अचल किया,
मोह लहर भी शान्त हुई है मानस सरवर अमल जिया।
बहुविध दृढ़तम आसन से ही तन को संयत बना लिया,
जीव दया का पालन फलतः किस विध होता जना दिया।।४४।।

अर्थ – निषद्यापरिषह को सहन करने वाले मुनि कैसे होते हैं? -- ज्ञान के द्वारा जिन्होंने चञ्चल मन को स्थिर कर लिया है जिनका हृदय मोहरूप तरंगों–मोहजनितविकल्पों से रहित है, अत्यन्त दृढ आसन से जिन्होंने शरीर को स्वाधीन कर लिया है और दृढ आसन होने से जिन्होंने जीव समूह की रक्षा की है, ऐसे मुनि निषद्यापरिषह को जीतने वाले होते हैं।।४४।।

चरणमोहकबन्धनहानये, रुचिमितश्च सदालसहा नये।
नदतटे च नगे विहितासन, ऋषिगणो जयताच्च्युतवासनः।।

संयम बाधक चरित मोह को पूर्ण मिटाने लक्ष बना,
बिना आलसी बने निजी को पूज्य बनाने दक्ष बना।
सरिता, सागर, सरवर तट पर दृढ़तम आसन लगा दिया,
त्याग वासना, उपासनारत 'ऋषि की जय' तम भगा दिया।।४५।।

अर्थ – चारित्रमोह रूप बन्धन का निराकरण करने के लिये जो व्यवहारचारित्ररूप नीतिमार्ग में रुचि–इच्छा अथवा श्रद्धा को प्राप्त हैं, सदा आलस को नष्ट करते रहते हैं, नदी, तट अथवा पर्वत पर आसन लगाते हैं तथा जिनकी विषयवासना छूट चुकी है ऐसे मुनियों का समूह जयवन्त रहे।।४५।।

इह पुरागतकेऽस्य च योगता, मुपगताः स्वपदं मुनयो गताः।
इति मतं नुतसाधुबुधार्य ! ते, यदिति सज्जगताप्यवधार्यते।।

आसन परिषह का यह निश्चित अनुपम अद्भुत सफल रहा,
हुयें, हो रहे, होंगे जिनवर, इस बिन, सब तप विफल रहा।
बुधजन, मुनिजन से पूजित जिन ! अहोरात तब मत गाता,
अतः आज भी भविकजनों ने धारा उसको नत माथा।।४६।।

अर्थ - यहां वर्तमान, भूत और भविष्यत् काल में जो मुनि इस निषद्यापरीषह के मध्य ध्यानता को प्राप्त हुए वे स्वपद- आत्मपद--मुक्तिधाम को प्राप्त हुए हैं, ऐसा जो आपका मत था वह अब भी विद्यमान जगत के द्वारा इसी प्रकार माना जाता है।।४६।।

विमुख ! किं बहुना निजभावतः, सभय! हे शृणु चेद् यदि भावतः।
इह युतोऽप्यमुना नतिमागत, ऋषिवरैः श्रय तच्च समा गताः।।

भय लगता है यदि तुझको अब विषयी जन में प्रमुख हुआ,
यह सुन ले तू चिर से शुचितम निज अनुभव से विमुख हुआ।
दृढ़तम आसन लगा आप में होता अन्तर्धान वही,
ऋषिवर भी आ उन चरणों में नमन करें गुणगान यही।।४७।।

अर्थ – अधिक कहने से क्या लाभ है? यदि तू निज स्वभाव से विमुख हो रहा है और यदि चतुर्गति रूप संसार से भयभीत है तो शुद्धभाव से सुन ! इस जगत् में जो इस निषद्यापरिषहजय से सहित है वह भी मुनिवरों से नमस्कार को प्राप्त हुआ है। तू भी उस परिषहजय का आश्रय ले, जीवन के अनेक वर्ष निकल गये हैं।।४७।।

श्रममितः श्रमणोऽत्र भुवि श्रुते, तपसि तत्परतः खलु विश्रुते।
इति मतं निशि यः श्रयते यते, रतिशयं तु जिनाशय ! तेऽयते।।

श्रुतावलोकन आलोड़न से मुनि का मन जब थक जाता,
खरतर द्वादशविध तप तपते साथी तन भी रुक जाता।
आगम के अनुसार निशा में शयन करे श्रम दूर करे,
फलतः हे जिन ! तव सम अतिशय पावे सुख भरपूर खरे।।४८।।

अर्थ – इस वसुधा पर शास्त्राभ्यास और प्रख्यात तप में तत्पर रहने से खेद को प्राप्त हुआ जो साधु रात्रि में शय्या का आश्रय लेता है वह हे शयनरहित जिनेन्द्र ! यति- मुनिरूप आपके अतिशय को प्राप्त होता है, ऐसा सिद्धान्त है।।४८।।

तृणशिलाफलके च सकारणं, भुवि तुरीयव्रतोन्नतिकारणम्।
न हि दिवा शयनं निशि यामकं, स कुरुते मुनिको विनियामकम्।।

भू पर अथवा कठिन शिला पर काष्ठ फलक पर या तृण पे,
शयन रात में अधिक याम तक, दिन में नहिं, संयम तन पे।
ब्रह्मचर्य व्रत सुदृढ़ बनाने यथाशक्ति यह व्रत धरना,
जितनिद्रक हो हितचिन्तक हो अतिनिद्रा मुनि मत करना।।४६।।

अर्थ - षष्ठगुणस्थानवर्ती मुनि स्वाध्यायादिजनित खेद को दूर करने तथा ब्रह्मचर्य व्रत की उन्नति के लिये पृथिवी, तृण, शिला अथवा काष्ठफलक पर शयन करते हैं। दिन में शयन नहीं करते और रात्रि में भी स्वच्छन्दता पूर्वक अधिक समय तक शयन नहीं करते।।४६।।

स उपसर्ग इहाजगता सुरै, र्जडजनै गुणभिर्गहताऽसुरैः।
निशि न चैति मुनिस्तु पदान्तारं, ह्यविचलं सत एव सदान्तरम्।।

मुनि पर यदि उपसर्ग कष्ट हो हृदय शून्य उन मानव से,
धर्म-भाव से रहित, सहित हैं वैर-भाव से दानव से।
किन्तु कभी वे निशि में उठकर गमन करें अन्यत्र नहीं,
अहो अचल दृढ़ हृदय उन्हीं का दर्शन वह सर्वत्र नहीं।।५०।।

अर्थ – पृथिवी पर अचेतन, देव, अज्ञानिमानव, मन से द्वेष रखने वाले गुणीजन, राज्य अथवा दानवों के द्वारा उपसर्ग किये जाने पर मुनि रात्रि में दूसरे स्थान पर नहीं जाते। उसी स्थान पर रहते हुए उन मुनि का अन्तःकरण अविचल रहता है।।५०।।

विजितनिद्रक एव सदा दरं, त्यजति चेदमरर्द्धिसदादरम्।
यदुपपत्तयथेच्छितभोजनं, रसयुतं प्रजहाति च भो ! जन।।

सप्तभयों से रहित हुआ है जितनिद्रक है श्रमण बना,
शय्या परिषह वही जीतता दमनपना पा शमनपना।
निद्राविजयी बनना यदि है इच्छित भोजन त्याग करो,
इन्द्रियविजयी बनो प्रथम तुम रसतज निज में राग करो।।५१।।

अर्थ -- हे साधुजन ! निद्रा को जीतने वाला ही सदा भय को छोडता है तथा देव सम्बन्धी वैभव में समीचीन आदरभाव का परित्याग करता है। शय्यापरिषहजय की उपपत्ति-प्राप्ति के लिये रसीले इच्छित भोजन का भी त्याग करता है।।५१।।

ससमयञ्च मुनेश्शयनं हितं, शयनमेवमटेच्छयनं हि तत्।
समुदितेऽप्यरुणे ह्युदयाचलेऽप्युडुदलो न हि खे सदयाऽचलेत्।।

यथासमय जो शयन परीषह तन रति तजकर सहता है,
निद्रा को ही निद्रा आवे मुनि मन जागृत रहता है।
समुचित है यह प्रमाद तज रवि उदयाचल पर उग आता,
पता नहीं कब कहाँ भागकर उडुदल गुप लुप छुप जाता।।५२।।

अर्थ – हे रादय ! दयायुक्तराधो ! रामयानुरूप शयन मुनि के लिये हितकारी है। इस तरह शयन ही शयन (शय्या) को प्राप्त होता है। उचित ही है क्योंकि उदयाचल पर सूर्य के उदित होने पर नक्षत्र–रामूह आकाश में राब ओर नहीं चलता किन्तु अस्त हो जाता है।।५२।।

उपगता अदयैरुपहासतां, कलुषितं न मनो भवहाः ! सताम्।
शमवतां किमु तत् बुधवन्दनं, न हि मुदेऽप्यमुदे जडनिन्दनम्।।

असभ्य पापी निर्दय जन वे करते हों उपहास कभी,
किन्तु न होता मुनि के मन की उज्ज्वलता का नाश कभी।
तुष्ट न होते समता-धारक सुधीजनों के वन्दन से,
रुष्ट न होते शिष्ट साधुजन कुधीजनों के निन्दन से।।५३।।

अर्थ – सत्पुरुष, निर्दय मनुष्यों के द्वारा उपहास–अनादर को प्राप्त होते हैं परन्तु उससे उनका मन कलुषित नहीं होता। विद्वानों का नमस्कार साधुओं के लिये क्या है? अर्थात् कुछ भी नहीं है तथा अज्ञानीजनों के द्वारा की हुई निन्दा न उनके हर्ष के लिये होती है और न अहर्ष–अप्रीति के लिये।।५३।।

कटुककर्कशकर्णशुभेतरं, प्रकलयन् स इहासुलभेतरम्।
वचनकं विबुधस्त्विव विश्रुतिर्बलयुतोऽप्यबलश्च भुवि श्रुतिः।।

क्रोध जनक हैं कठोर, कर्कश, कर्ण कटुक कुछ वचन मिले,
निहार वेला में सुनने को अपने पथ पर श्रमण चले।
सुन्ते भी पर बधिर हुए-से आनाकानी कर जाते,
सहते हैं आक्रोश परीषह अबल, 'सबल होकर' भाते।।५४।।

अर्थ – आक्रोशपरिषह को सहन करने वाले ज्ञानी मुनिराज इस जगत में सुलभ, कटुक, कठोर और कानों के लिये अप्रिय निन्द्यवचन की ऐसी उपेक्षा करते हैं मानो उन्होंने सुना भी न हो, बहरे हों। इसीलिये पृथिवी पर ऐसी श्रुति प्रसिद्ध हुई कि वह बलसहित होकर बलरहित थे।।५४।।

गतमलो विरसस्त्विति कारणात्, वचनतः पृथगस्मि च कारणात्।
मम न हानिरतोऽस्तु सुचिन्तति, प्रलभतेऽत्रे मुनेः स्वशुचिं ततिः।।

इन्द्रियगण से रहित रहा हूँ मल से रस से रहित रहा,
रहा इसी से पृथक् वचन से चेतन बल से सहित रहा।
निन्दन से फिर हानि नहीं है विचार करता इस विध है,
प्रहार करता जड़विधि पे मुनि निहारता निज बहुविध है।।५५।।

अर्थ – मैं मल से रहित हूँ और रस से रहित हूँ, इस कारण दुष्टजन के वचन तथा कारण– वध से मेरी कुछ भी हानि नहीं है, ऐसा चिन्तवन करते हैं। इस प्रकार के चिन्तन से मुनियों का समूह आत्मशुद्धि को अच्छी तरह प्राप्त होता है।।५५।।

कुमतिभिर्दलितोऽपि सखेदितः, सुपथवञ्चित एव सखेऽर्दितः।
अविरतो विमुखः प्रतिकारतः, जयतु यस्य रा वै समकारतः।।

सही मार्ग से भटक चुके हैं चलते-चलते त्रस्त हुए,
भील, लुटेरों, मतिमन्दों से घिरे हुए दुःखग्रस्त हुए।
उनका न प्रतिकार तथापि करते यति जयवन्त रहे,
समता के हैं धनी-गुणी हैं पापों से भयवन्त रहे।।५६।।

अर्थ – यदि मुनिराज मिथ्यादृष्टियों – मतद्वेषी लोगों के द्वारा खिन्न किये जाते हैं, तथा समीचीन मार्ग भूलकर कुश तथा कंटकाकीर्ण वनक्षेत्र में चलकर खेद पाते हैं तो भी वे अपने गृहीतमार्ग संयम की साधना से विरत नहीं होते हैं। आई विपत्ति का प्रतिकार भी नहीं करते। समताभाव से युक्त रहते हैं ऐसे मुनि जयवन्त रहें।।५६।।

फलमिदं तु पुराकृतशावरे, समुदिते न पराकृतशावरे।
इह परे प्रभवो व्यवहारतः, स मनुते हि निजेऽव्रतहा रतः।।

मोह-भाव से किया हुआ था पाप पाक यह उदित हुआ,
पर का यह अपराध नहीं है उपादान खुद घटित हुआ।
पर का इसमें हाथ रहा हो निमित्त वह व्यवहार रहा,
अविरति-हन्ता नियमनियन्ता कहते जिनमतसार रहा।।५७।।

अर्थ – यह उपसर्गरूप फल पूर्वकृत पाप के उदित होने पर प्राप्त हुआ है न कि अन्यकृत अपराध के होने पर। इस जगत् में परपदार्थ में जो कारण का कथन होता है वह व्यवहार--उपचार से होता है। निजात्मा में लीन साधु ऐसा मानते हैं।।५७।।

तनुरुषोऽरुणताऽशुचिसागरा, वधमिता भवदाशु च सा गरा।
मम ततः क्षतिरस्ति न काचन, चरणबोधदृशो ध्रुवकाश्च न !।।

काया लाली रही उषा की अशुचिराशि है लहर रही,
भवदुःखकारण, कारण भ्रम का शरण नहीं है जहर रही।
इसका यदि वध हो तो हो पर इससे मेरा नाश कहाँ?
बोध-धाम हूँ चरण सदन हूँ दर्शन का अवकाश यहाँ।।५८।।

अर्थ -- वध का प्रसंग आने पर साधु ऐसा विचार करता है कि हे जिन ! मेरा वह शरीर प्रातःकाल की लालिमा है। अशुचिता का सागर उसमें लहरा रहा है, भव को देने वाला है अथवा वर्तमान पर्याय को नष्ट करने वाला है और सब ओर से विषरूप अथवा रोगों से सहित है। ऐसा शरीर यदि वध को प्राप्त हो रहा है तो इससे मेरी कुछ भी हानि नहीं है क्योंकि मेरे दर्शन, ज्ञान और चारित्र ध्रुवरूप हैं – नष्ट नहीं हुए हैं।।५८।।

विविधकर्मलयास्रवहेतवः, किल हिताहितकां जड़ हे ! तव।
पथि सतीति मुनेर्मुनिचालकाः, सुकथयन्त्यनघा घविचालकाः।।

बहुविध विधि का संवर होने में हित निश्चित निहित रहा,
पापास्रव में कारण होता शिवपथ में वह अहित रहा।
अन्ध मन्दमति ! वधक नहीं ये बाह्यरूप में साधक हैं,
पाप पुण्य के भेद जानते कहते मुनिगण-चालक हैं।।५६।।

अर्थ – वध का प्रसंग आने पर मुनि इस प्रकार आत्मसंबोधन करते हैं – हे अज्ञ आत्मन् ! नाना प्रकार के कर्मों के संवर और आस्रव में कारणभूत जो भाव हैं वे ही यथार्थतः कल्याणमार्ग में तेरे मित्र और शत्रु हैं। अर्थात् जो संवर के कारण हैं वे हित रूप हैं और जो आस्रव के कारण हैं वे अहितरूप हैं। इस तरह पुण्य–पाप का विचार करने वाले आचार्य कहते हैं।।५६।।

वसतिकाप्रभृतेर्नहि याचना-मृषिरिहायति दीनतया च ना!
यदनया लयते निजतन्त्रता, न भजिता विदुषा परतन्त्रता।।

अशन वसतिकादिक की ऋषिगण नहीं याचना करते हैं,
तथा कभी भी दीन-हीन बन नहीं पारणा करते हैं।
निजाधीनता फलतः निश्चित लुटती है यह अनुभव है,
पराधीनता किसे इष्ट है वही पराभव, भव-भव है।।६०।।

अर्थ – इस जगत् में ऋषिपदधारी मनुष्य दीनता से वसतिका आदि की याचना नहीं करता क्योंकि इस याचना से स्वाधीनता नष्ट हो जाती है। तथा विद्वान् के द्वारा परतान्त्रता का सेवन नहीं होता।।६०।।

यदनुवृत्ति ऋषिं हि सदोषतां, नयति चैव लयं गतदोषताम्।
उडुपतिर्ग्रसितो निशि केतुना, त्विति विचिन्त्य वसेन्निजके तु नां।।

निज पद गौरव तज यदि यति हो मनो-याचना करते हैं,
दर्पण सम उज्ज्वल निज पद को पूर्ण कालिमा करते हैं।
शुचितम शशि भी योग केतु का पाकर ही वह शाम बने,
यही सोचकर साधु सदा ये निज में ही अविराम तने।।६१।।

अर्थ – याचना का अनुसरण साधु को सदोषता प्राप्त कराता है और निर्दोषता को नष्ट करता है। जिस प्रकार रात्रि में राहू के द्वारा ग्रसित चन्द्रमा सदोषता को प्राप्त होता है उसी प्रकार याचना से ग्रसित साधु सदोषता को प्राप्त होता है। ऐसा विचारकर मनुष्य को निजात्मा में ही निवास करना चाहिये।।६१।।

सुकुफलं मिलतीह नियोगतः, स्वयमयाचितकं विधियोगतः।
अथ मुने ! भव हे त्वमयाचक-श्चलिततत्त्वविधिर्भुवि याचकः।।

बिना याचना, कर्म उदय से यह घटना निश्चित घटती,
कभी सफलता, कभी विफलता भेद-भाव बिन बस बटती।
इसीलिए मत याचक बनना भूल कभी बन भ्रान्त नहीं,
याचक बनता नहीं जानता कर्मों का सिद्धान्त सही।।६२।।

अर्थ–इस जगत् में कर्मयोग से अच्छा–बुरा फल नियम से स्वयं मिलता है। अतः हे मुने ! तुम अयाचक रहो किसी वस्तु से याचना न करो। इसके विपरीत यदि याचक होते हो तो निश्चित ही तुम तत्त्वश्रद्धा से विचलित होगे।। ६२।।

व्रजति चैव मुनिमृगराजतां, जितपरीषहको मुनिराजताम्।
इति न चेल्लघुतामुपहासतां, सुगत एव गतोऽशुभहा सताम्।।

याञ्चा परिषह विजयी मुनिवर-समाज में मुनिराज बने,
स्वाभिमान से मंडित जिस विध हो वन में मृगराज तने।
याञ्चा विरहित यदि ना बनता जीवन का उपहास हुआ,
विरत हुआ पर बुध कहते वह गुरुता का सब नाश हुआ।।६३।।

अर्थ–परीषहों को जीतने वाला मुनि ही सिंह के समान स्वात्मनिर्भरता और मुनियों के आधिपत्य को प्राप्त होता है। यदि इसके विपरीत है तो अशुभ को नष्ट करने वाला मुनि ज्ञानी होने पर भी लघुता और सतपुरुषों के बीच उपहास को प्राप्त होता है।।६३।।

अनियतं विहरन्नपि स क्षमः, शृणु कृतानशनः खलु सक्षमः।
अलभमान ऋषिर्ह्यशनं कर ! सुलभमान इवाऽऽवदनंकरः।।

अनियत विहार करता फिर भी निर्बल सा ना दीन बने,
तथा किया उपवास तथापि परवश ना ! स्वाधीन बने।
भोजन पाने चर्या करता पर भोजन यदि नहिं मिलता,
विषाद करता नहिं पर, भोजन मिला हुआ-सा मुख खिलता।।६४।।

अर्थ–हे कर ! हे सुखद ! सुनो क्षमाधर्म से विभूषित मुनि अनियत विहार करते हुए तथा उपवास से युक्त होते हुए भी अपनी दिनचर्या में समर्थ रहते है। आहार न मिलने पर भी उनका मुख आहार मिलने वाले के मुख के समान अत्यन्त प्रसन्न रहता है।।६४।।

रसयुते मिलिते न हि नीरसे, परिगतो विरतिं स मुनीररसे।
प्रमुदितः क्षुभितो न हि मे विधेः, प्रतिफलं त्विति वै मनुते विधे!।।

इष्टमिष्ट रस-पूरित भोजन मिलने पर हो मुदित नहीं,
अनिष्ट नीरस मिलने पर भी दुःखित नहीं हो क्रुधित नहीं।
सहित रहा संवेग भाव से सर्व रसों से विरत बना,
चिंतन करता यह सब विधिफल साधु गुणों से भरित बना।।६५।।

अर्थ—हे विधातः ! घृतदुग्धादिरसों में विरक्ति को प्राप्त हुआ मुनि सरस अथवा नीरस आहार के मिलने पर प्रसन्न अथवा कुपित नहीं होता। किन्तु यह हमारे कर्म का फल है, निश्चय से ऐसा मानता है।।६५।।

श्रुतिसुधामशनं समितातपः, स समुपात्ति शमी शमितातप !
उपरि दृश्यत एव सदाऽसुखी, कृशतनु र्ह्यतनौ विमदा सुखी।।

करते श्रुतमय सुधापान हैं द्वादशविध तप अशन दमी,
दमन कर रहे इन्द्रिय तन का कषायदल का शमन शमी।
केवल दिखते बाहर से ही क्षीणकाय हो दुखित रहे,
भीतर से संगीत सुन रहे जीत निजी को सुखित रहे।।६६।।

अर्थ – हे शमि–तात–प ! हे जितेन्द्रिय–दयापात्र शिष्यों के रक्षक भगवन् ! लोकोत्तर शान्ति से युक्त वे मुनिराज शास्त्ररूपी सुधा और सम्यक् तपरूप आहार का अच्छी तरह उपभोग करते हैं। कृश शरीर वाले वे मुनि बाहर से ही सदा दुःखी दिखाई देते हैं। आत्मा में तो मद रहित सुख सम्पन्न ही रहते हैं।।६६।।

बुधनुतः स मुनिप्रवरो गतः, सभ्यतां नितरां भवरोगतः।
न हि बिभेति सुधीस्तनुरोगतः, स्तुतिरतो जिन ! ते गतरोगतः।।

जनन जरा और मरण रोग से श्वास-श्वास पर डरता है,
जिसके चरणों में आकर के नमन विज्ञ-दल करता है।
दुष्कृत फल है दुस्सह भी है महा भयानक रोग हुआ,
प्रभु पदरत मुनि नहिं डरता है धरता शुचि उपयोग हुआ।।६७।।

अर्थ – हे जिन ! जन्मजरामरणरूपसंसार सम्बन्धी रोग से अत्यन्त भय को प्राप्त, बुधस्तुत श्रेष्ठ मुनि शरीरसम्बन्धी रोग से भयभीत नहीं होता। वह तो रोगरहित होने से आपकी भक्ति में लीन रहता है।।६७।।

विधिदलाः बहुदुःखकरामया, बहव आहुरपीह निरामयाः।
अशुचिधामनि चैव निसर्गतः, क्षरणमेव विधेरूपसर्गतः।।

सभी तरह के रोगों से जो मुक्त हुए हैं बता रहे,
कर्मों के ये फल हैं सारे, खारे जग को सता रहे।
रोगों का ही मन्दिर तन है अन्दर कितने पता नहीं,
उदय रोग का, कर्म मिटाता ज्ञानी को कुछ व्यथा नहीं।।६८।।

अर्थ – स्वभाव से ही अपवित्रता के स्थानभूत इस शरीर में अनेक दुःखप्रद रोगों को करने वाले कर्मसमूह विद्यमान हैं, ऐसा रोगरहित जिनेन्द्र भगवान् कहते हैं। उपसर्ग से तो कर्म की निर्जरा ही होती है।।६८।।

सुरभिचंदनलेपनरञ्जनात्, विरहितोऽपि सुधी र्मुनिरञ्जनात्।
अनघभेषजकं तु विधेयकं, भजतु रोगलयाय विधेऽयकम्।।

सुगन्ध चन्दन तैलादिक से तन का कुछ संस्कार नहीं,
वसनाभूषण आभरणों से किसी तरह शृंगार नहीं।
फिर भी तन में रोग उगा हो पाप कर्म का उदय हुआ,
उसे मिटाने प्रासुक औषध मुनि ले सकता सदय हुआ।।६६।।

अर्थ – हे विधे ! यह विवेकवान् मुनि, सुगन्धित चन्दन के विलेपनरूप अगंराग तथा नेत्रों के कज्जल से रहित होने पर रोग का नाश करने के लिये योग्य निर्दोष औषध का सेवन कर सकता है।।६६।।

ध्रुवममुं मुनिना भजतामितं, सुकृतजं निजकं स्ववता मितम्।
प्रणिहितं बहुना किमु सादरं, विजहतं श्रय तं सहसा दरम्।।

रोग परीषह प्रसन्न मन से जो मुनि सहता ध्रुव ज्ञाता,
सुचिरकाल तक सुरसुख पाता अमिट अमित फिर शिव पाता।
अधिक कथन से नहीं प्रयोजन मरण भीति का नाश करो,
सादर परिषह सदा सही बस ! निज़ी नीति में वास करो।।७०।।

अर्थ – ध्रुव–नित्य निज आत्मा की रक्षा करो, इस रोगपरिषह को सहते और उसके फल स्वरूप पुण्य से उत्पन्न स्वर्गादिक के मित–सीमित तथा अमित–अपरिमित आत्मसुख को प्राप्त होने वाले मुनि ने जिसे धारण किया है–सहन किया है उस रोगपरिषह को आदरसहित सहन कर और प्रसिद्ध भय को नष्ट कर। अधिक कहने से क्या प्रयोजन है?।। ७०।।

यदि तृणं पदयोश्च निरन्तरं, तुदति लाति गतौ मुनिरन्तरम्।
तदुदितं व्यसनं सहतेऽञ्जसा-हमपि सच्च सहे मतितेजसा।।

तृण कंटक पद में वह पीड़ा सतत दे रहे दुखकर हैं,
गति में अंतर तभी आ रहा रुक-रुक चलते मुनिवर हैं।
उस दुस्सह वेदन को सहते-सहते रहते शान्त सदा,
उसी भाँति मैं सहूँ परीषह शक्ति मिले, शिव शान्ति सुधा।।७१।।

अर्थ–यदि कण्टकादि तृण पैरों में निरन्तर पीडा करता है और गति में अन्तर–व्यवधान लाता है तो मुनि उससे उत्पन्न कष्ट को वास्तव में सहन करते हैं। मैं भी भेदज्ञान के प्रताप से उस विद्यमान कष्ट को सहन करता हूँ।।७१।।

विकचपुष्पचया विलसन्ति ते, परिवृता अलिभिस्त्विह सन्ति तैः।
विषमशूलतृणादिहता विधे ! ह्यविकला न चलाः सुगता विधेः।।

खुले खिले हों डाल-डाल पर फूल यथा वे हँसते हैं,
जिनकी पराग पीते अलि-दल चुम्बन लेते लसते हैं।
विषय, विषमतर शूल तृणों से आहत हैं पर तत्पर हैं,
निज कार्यों में बिना विफल हो कहते हमसे तन पर हैं।।७२।।

अर्थ–तृणस्पर्श आदि की बाधा उपस्थित होने पर मुनि विचार करते हैं कि हे ब्रह्मन् ! इस जगत् में सुगन्धलोभी भ्रमरों से घिरे जो विकसित पुष्पों के समूह सुशोभित हो रहे हैं वे विषम कण्टक तथा तृण आदि से आहत–विद्ध होकर भी दुःखी नहीं होते हैं और न अपने कार्य से विचलित होते हैं।।७२।।

विचरणे शयनासनयोः सतः, सुखमुदेति सुखात् मृगयो ! षतः।
शमसुखोदधिरेव विरागतः, त्यकवते जगते बहिरागतः।।

कठिन-कठिनतर शयनासन में कंटक पथ पर विचरण में,
सुख ही सुख अवलोकित होता मुनियों के आचरणन में।
भीतर से बाहर आने को शम सुख सागर मचल रहा,
दुखित जगत को सुखित बनाने यतन चल रहा सकल रहा।।७३।।

अर्थ—हे ब्रह्मन् ! विहार करने वाले साधु के विहार, शयन और आसन में सुख से सुख ही उत्पन्न होता रहता है अर्थात् कष्ट होने पर भी उनकी प्रसन्नता स्थिर रहती है। ऐसा जान पड़ता है मानों उनके भीतर जो शम और सुख का सागर लहरा रहा है वह विरागता के कारण दुःखी संसार को सुखी करने के लिये ही बाहर आ गया है।।७३।।

यदि कदाचिदतो हृदि जायते, वपुषि चाकुलता विधिजा यतेः।
न हि विना यदनेन विसातनं, त्विति विधेः समयेऽन्यदसाधनम्।

कभी-कभी आकुलता यदि हो मन में तन में वेदन हो,
प्रतिफल हो, 'फल कर्मचेतना' चेतन में पर खेद न हो।
बिना वेदना प्रथम दशा में कर्मों का वह क्षरण नहीं,
समयसार का गीत रहा यह औ सब बाधक शरण नहीं।।७४।।

अर्थ–यदि कदाचित् मुनि के हृदय और शरीर में कर्मोदय से समुत्पन्न आकुलता होती है तो वह इस प्रकार चिन्तवन करता है कि परिषह के बिना कर्म की निर्जरा नहीं होती। आगम में इसके अतिरिक्त अन्य को निर्जरा का अराधन कहा है।।७४।।

परिमलं गुणवन्निजभावि त-दचलवस्तु मया किल भावितम्।
मलमलं हि ततोऽत्र भवस्तुत ! मुनिनुतं शुचिवस्तु तु वस्तुतः।।

निज भावों से भावित भाता भासुर गुणगण शाला है,
परिमल पावन पदार्थ प्यारा अनुभवता रस प्याला है।
फिर यह तन तो स्वभाव से ही मल है मल से प्यार वृथा,
मुनियों से जो वंदित है सुन ! शुद्ध-वस्तु की सार कथा।।७५।।

अर्थ–जो ज्ञानादि गुणों से सहित हैं, निजभाव से युक्त हैं और मैं जिसकी निरन्तर भावन रता हूँ वह अविनाशी आत्मवस्तु ही निश्चय से मनोहारी सुगन्ध है। हे भवस्तुत ! हे सर्वलोकवन्दित भन् ! इस शरीर पर जो मल–मैल संलग्न है वह व्यर्थ है–उसकी क्या चिन्ता करना है परमार्थ से यों के द्वारा स्तुत आत्मरूप वस्तु ही शुचि–पवित्र है।।७५।।

पलमलैर्निचिता धिगचेतना, प्रकृतितो दुरभेश्च निकेतना।
मलजनीस्तनुरीशविभाषिता, तदनुगा तु सतोऽपि विभा सिता।।

स्वभाव से ही रहा घृणास्पद रहा अचेतन यह तन है,
पल से मल से भरा हुआ है क्यों फिर इसमें चेतन है ?
तन से निशिदिन झरती रहती अशुचि, सुनो जिनश्रुति गाती,
देह राग से श्रमणों की उस विराग छवि ही क्षति पाती।।७६।।

अर्थ–भगवज्जिनेन्द्र के द्वारा जिसका स्वरूप कहा गया है ऐसा यह शरीर माँस और मैल से व्याप्त है, अचेतन है, स्वभाव से दुर्गन्ध का घर है और मल को उत्पन्न करने वाला है ऐसे शरीर को धिक्कार हो। इस शरीर का अनुगमन करने वाली साधु की विभा–दीप्ति–प्रतिष्ठा भी रागाप्त हो जाती है।।७६।।

कतपनाङ्गजरञ्जितदेहकः, सहरजोमलको गतदेहक !।
मलपरीषहजित् स्वसुधारकः, विरसपादपभावसुधारकः।।

तपन-ताप से तप्त हुआ तन स्वेद कणों से रंजित हो,
रज कण आकर चिपके फलतः स्नान बिना मल संचित हो।
मल परिषह तब साधु सह रहा सुधा पान वे सतत करें,
नीरस तरु सम तन है जिनका हम सब का सब दुरित हरें।।७७।।

अर्थ – हे सिद्धभगवन् ! जिसका शरीर सूर्य के संताप से उत्पन्न पसीना से युक्त है, जो धूलि और मल से सहित हैं, आत्म सुधा का पान करने वाला है और जो शरीर को सूखे वृक्ष के समान समझ रहा है ऐसा साधु ही मलपरीषह को जीतने वाला होता है।।७७।।

बलयुतोऽपि मुनिः स्वतनोर्मलं, न हि निवारयति ह्यतनोऽमल !
चिति चिदस्मि सदास्तु मले मलं, वदति तत्कमलं कमलेऽमलम्।।

कंचन काया बन सकती है ऋद्धि-सिद्धि से युक्त रहा,
तन का मल मुनि नहीं हटाता मल से तन अतिलिप्त रहा।
चेतन मैं हूँ, चेतन में हूँ यथार्थ मल तो मल में है,
कहता जाता कमल कमल में कहने भर को जल में है।।७८।।

अर्थ– हे अशरीर ! निर्मल ! परमात्मन् ! मुनि, बल सहित होने पर भी शरीर का गैल दूर नहीं करते हैं। वे विचार करते हैं कि मैं चैतन्यरूप हूँ तथा चैतान्य में ही निवास करता हूँ। इसी प्रकार गैल, मैल में रहता है आत्मा में नहीं। यह रहस्य कगल में रहने वाला निर्मल कगल बताता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार परमार्थ रो निर्मल कमल कमल में रहता है और व्यवहार से जल में रहता है उरी प्रकार पौद्गलिक गैल पौद्गलिक शरीर में रहता है आत्मा में नहीं; अतः गुनिराज उसे दूर करने का विचार नहीं करते।।७८।।

विनयशंसनपूजनकादरमलभमानमुनिः ह्यनिरादरः।
अविरतैर्व्रतिभिर्मदशावत-श्च्युतविकारललाटविभावतः।।

अविरत जन या व्रती पुरुष यदि अपने से विपरीत बने,
आदर ना दे, करे अनादर यदि बनते अविनीत तने।
किन्तु मुनीश्वर लोकेषण से दूर हुए भवभीत हुए,
विकार विरहित ललाट उनका रहता वे जग मीत हुए।।७६।।

अर्थ – अहंकार के कारण अव्रती तथा व्रतीजनों के द्वारा विनय, स्तुति, पूजन एवं आदर को प्राप्त न होने वाला मुनि अपने आपका अनादर नहीं मानता और न क्रोध आदि से ललाट के ऊपर कोई विकार प्रकट करता है।।७६।।

जगति सत्त्वदलः सकलश्चलः, परिमलो विकलः सकलो ऽचलः।
समगुणैर्भरितो मत आर्य ! ते, गुरुरयं स लघुर्न्ववधार्यते।।

अमल, समल हैं सकल जीव ये ऊपर, भीतर से प्यारे,
अगणित गुणगण से पूरित सब 'समान' शीतल शुचि सारे।
मैं 'गुरु' तू 'लघू' फिर क्या बचता परिभव-परिषह बुध सहते,
आर्य देव अनिवार्य यही तव मत गहते सुख से रहते।।८०।।

अर्थ – हे आर्य ! आपके मत में त्रस, स्थावर, सुगन्धित, कलाहीन और कलासहित–सभी प्राणि समूह (द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा) समान गुणों से परिपूर्ण हैं, अतः 'यह गुरु है और वह लघु है' यह कैसे निश्चित किया जाय?।।८०।।

यदि यदा विनये मिलिते सति, मदमिता न मतिः सुमते सती।
निजकगर्भगताखिलमानता, प्रलयकाय तु दक्षतमा नता।।

कभी प्रशंसा करे प्रशंसक विनय समादर यदि करते,
नहीं मान-मद मन में लाते, मन को कलुषित नहिं करते।
प्रत्युत अन्दर घुस कर बैठा मान-कर्म के क्षय करने,
साधु निरंतर जागृत रहते निज को शुचि अतिशय करने।।८१।।

अर्थ – विनय के प्राप्त होने पर यदि साधु की बुद्धि मद को प्राप्त नहीं होती, किन्तु सुमते–उ त्तम मत में रहती है तो वह श्रेष्ठ है। अपने आप में समस्त अभिमानों–ज्ञान–पूजा–कुलजाति आदि से उत्पन्न होने वाले मान का रहना प्रलय–विनाश के लिये होता है। इसके विपरीत नम्रवृत्ति अथवा बुद्धि अत्यन्त श्रेष्ठ होती है।।८१।।

गणधरैः प्रणतोऽस्ति यदा स्वयं, समितिषूपपरतः सुखदास्वयम्।
किमु तदाप्यसतां प्रणते र्नुते,-रिति वदन्ति बुधाः सुमते, नु ते।।

निरालसी यति समिति गुप्ति में जब हो रत मन शमन करें,
गणधर आदिक महामना भी उनको मन से नमन करें।
मानी मुनिजन नमनादिक यदि नहिं करते मत करने दो,
अर्थ नहीं उसमें, जिन कहते 'यह परिषह' अघ हरने दो।।८२।।

अर्थ – सुखदायक समवसरणादि सभाओं में बैठने वाला मुनि जब गणधरों के द्वारा साक्षात् नमस्कार को प्राप्त होता है तब उसे अन्य असत् पुरुषों के नमन और स्तवन से क्या प्रयोजन है? ऐसा हे भगवन्! आपके श्रेष्ठ मत मे विद्वान् कहते हैं।।८२।।

बुधनुता जिनशास्त्रविशारदा, वसति यद् वदने शुचिशारदा।
अकवते जगतेऽमृतसारदा, गतमदाऽसुमतोडुकशारदा।।८३।।

जिन श्रुत में हैं पूर्ण विशारद सम्मानित हैं बुधगण में,
भाग्य मानकर सदा शारदा रहती जिनके आनन में।
मानहीन हैं, स्वार्थहीन हैं दुःखी जगत को अमृत पिला,
पर मततारकदल में शीतलशशि हैं यश की अमिट शिला।।८३।।

अर्थ – विद्वानों के द्वारा स्तुत, जिनशास्त्रों में निपुण, पाप अथवा दुःखयुक्त जगत् के लिये अमृत अथवा मोक्षरूपी सार को देने वाली, अन्यवादियों का गर्व नष्ट करने वाली तथा दुर्मतरूप नक्षत्रों के मध्य चन्द्रमा के समान शोभायमान पवित्र जिनवाणी जिसके मुख में निवास करती है वही विद्वान् है।।८३।।

समय ! यावददो न ! हि केवलं, ह्युदयतीह तरां न हि केवलम्।
त्वमसि तावदहो ननु मानतः, शृणु लघुश्च तदा किमु मानतः।।

अन्तराय का अन्त नहीं हो अतुल अमिट बल मुदित नहीं,
जब तक तुममें अनन्त अक्षय पूर्ण ज्ञान हो उदित नहीं।
ज्ञान क्षेत्र में तब तक निज को लघुतम ही स्वीकार करो,
तन-मन-वच से ज्ञान-मान का प्रतिपल तुम धिक्कार करो।।८४।।

अर्थ – हे पूज्य ! हे सिद्धान्त के ज्ञाता ! जब तक लोकालोक को प्रकाशित करने वाला वह अद्वितीय केवलज्ञान उदित नहीं होता है तब तक तुम ज्ञान से लघु–हीन ही हो; अतः मान–गर्व करने से, क्या प्रयोजन है? इसे सुनो।।८४।।

स्वसमयस्य सतोऽप्यनुवादकः, समययुक्तितया जितवादकः।
परिवदेन्न मुनिर्मनसाक्षर-मसि निरक्षर एष तु साक्षरः।।

अवलोकन-अवलोड़न करते जिनश्रुत के अनुवादक हैं,
वादीजन को स्याद्वाद से जीते पथ प्रतिपादक हैं।
ज्ञान परीषह सहते मुख से कभी न कहते हम ज्ञानी,
ज्ञान कहाँ है तुममें इतना महा अधम हो अज्ञानी।।८५।।

अर्थ – श्रेष्ठ सिद्धान्त का अनुवादक तथा आगम और युक्ति के द्वारा वादों–शास्त्रार्थों को जीतने वाला होकर भी मुनि मन से यह शब्द न कहे कि तू मूर्ख है और यह विद्वान्।।८५।।

विनयतो जितबोधपरीषहः, श्रुतविदा जितचित्तकारी सह।
दिशतु मे सुमतिं तु जिनालयः स जयताः सुवि साधुगुणालयः।।

नम्र भाव से ज्ञान परीषह जीत-जी रहे मतिवर हैं,
तत्त्व ज्ञान से मत्त चित्त को किया नियंत्रित यतिवर हैं।
प्रभु पद में रत हुए मुझे भी होने सन्मति दान करें,
निलयगुणों के जय हो गुरु की मम गति का अवसान करें।।८६।।

अर्थ – जिसने प्रज्ञापरिषह को जीत लिया है, जिसने शास्त्रज्ञ गुनि के साथ गनरूपी हाथी को वश किया है, जो जिनेन्द्र गगवान् गें लीनता को प्राप्त है तथा साधु के गूलोत्तरगुणों का स्थान है वह साधु गेरे लिये सुबुद्धि प्रदान करे तथा उनकी जय हो।।८६।।

परिषहोऽस्तु निजानुभवि श्रुतं, ह्यपि मितं शिवदं बुधविश्रुतम्।
बहुतरं तु तृणं सहसाप्यलं, दहति चाग्निकणी भुवि साप्यलम्।।

सहो सदा अज्ञान परीषह नियोग है यह शिव मिलता,
अल्पज्ञान पर्याप्त रहा यदि निज अनुभवता भव टलता।
बहुत दिनों का पड़ा हुआ है सुमेरु सम तृण ढेर रहा,
एक अनल की कणिका से बस ! जल मिटता, क्षण देर रहा।।८७।।

अर्थ – अल्पश्रुतज्ञानपरिषह भले ही रहे परन्तु आत्मानुभव से सहित, विद्वज्जनप्रसिद्ध सीमित श्रुतज्ञान भी मोक्ष प्रदान करने वाला है; क्योंकि पृथिवी पर प्रसिद्ध अग्निकणों का समूह भी विपुल तृणों को शीघ्र ही भस्म कर देता है।।८७।।

व्रतवता प्रचुरः समयो गतः, पिहितखेन मयाजितयोगतः।
मयि न बोधरवि र्ह्यभवोदित, इति चलो भव मा समबोधितः।।

सत्पथ चलता महाव्रती हो प्रचुर समय वह बीत गया,
इन्द्रिय योगों को वश करके गाता आतम गीत जिया।
किन्तु अभी तक जगी न मुझमें बोध भानु की किरण कहीं,
यूँ न सोचता, मुनिवर तजता समता की वह शरण नहीं।।८८।।

अर्थ – हे अभव ! हे संसारातीत ! व्रतधारण करने वाले मुझ जितेन्द्रिय ने अविचलित ध्यान से बहुत समय व्यतीत किया है फिर भी मुझमें ज्ञानरूपी सूर्य उदित नहीं हुआ ऐसा विचारकर समीचीन रत्नत्रय से विचलित न होओ।।८८।।

अयि कुधीर्महसा वचसानया, ह्युपकृता जगती त्वयि सानया।
तव मति र्न हि वित्पयसा धुता, त्विति वचः सहतां किमु साधुता।।

महा मूढ़ है, साधु बना है, शुभकृत जीवन किया नहीं,
भविकजनों को सदुपदेश दे उपकृत अब तक किया नहीं।
महा मलिन मति चिर से तेरी ज्ञान-नीर से धुली नहीं,
सहे वचन यूँ 'व्यर्थ साधुता' अभी आँख तव खुली नहीं।।८६।।

अर्थ –अयि साधो ! हे मुने ! 'तू दुर्बुद्धि है, इस दुबुर्द्धि के कारण तूने अपने वचन और तेज से नयविज्ञानशून्य पृथिवी को उपकृत नहीं किया अर्थात् उसे उपदेश देकर अनुगृहीत नहीं किया। वास्तव में मेरी बुद्धि ज्ञानरूपी जल से धुली नहीं है। तेरा साधुपन क्या है? कुछ भी नहीं' इस प्रकार के वचनों को सहन कर।।८६।।

समुपयोगवती मम वा सुधीः ! गुणविभासु रता तु शिवासु धीः।
कथमहं तु तदास्मि कुधीरतः, परिषहं सहतेन्विति धीरतः।।

बच करके अशुभोपयोग से जब शुभ शुचि उपयोग धरूँ,
अक्षय सुख देने वाले मुनि-गुण-गण का उपभोग करूँ।
किस विध फिर मैं हो सकता हूँ कुधी, कभी नहिं हो सकता,
सहता यूँ अज्ञान परीषह मन का मल वह धो सकता।।६०।।

अर्थ -- 'तू कुधी है—मूर्ख है' इत्यादि दुर्वचन सुनकर जो कुपित हो प्रत्युत्तर देता है वह परिषहविजयी नहीं है, यह कहते हैं—हे सुधीः! हे विद्वन्मन्य ! मेरी बुद्धि समीचीन उपयोग से सहित है और कल्याणकारिणी गुणों की दीप्ति में लीन है, तब मैं कुधी कैसे हूँ। इस प्रकार जो उत्तर देता है वह क्या धीरता से अज्ञानपरिषह को सहता है? अर्थात् नहीं सहता।।६०।।

मम विदावरणेन तिरोहितं, शुचिबलं यदनेन गिरोहितम्।
सुरजसा कलितं शुचिदर्शनम्, झटिति फूत्करणात् जिन ! दर्शनम्।।

ज्ञानावरणादिक से चिर से भला-बोध बल मलिन वही,
सहने से अज्ञान परीषह निश्चित होता विमल सही।
उड़-उड़कर आ रज-कण चिपके धूमिल फलतः दर्पण हो,
जल से शुचि हो जिनमत गाता इसे सदा नति अर्पण हो।।६१।।

अर्थ – हे जिन ! मेरा जो निर्मल बल अथवा ज्ञान, ज्ञानावरण कर्म के उदय से आच्छादित था। उसे इस निन्दक ने अपनी वाणी से प्रकट कर दिया है। उचित ही है क्योंकि उत्तम रज से युक्त दर्पण फूँकने से शीघ्र ही उज्ज्वल दिखने लगता है।।६१।।

मम गुणेष्वधुनापि न वृद्धयः, समुदिता मुदिता परिसिद्धयः।
इति न गच्छति साधुरुदासतां, न हि विमुञ्चति तां गुरुदासताम्।।

चिर से दीक्षित हुआ अभी तक, ऋद्धि नहीं कुछ सिद्धि नहीं,
तथा गुणों में ज्ञानादिक में लेश मात्र भी वद्धि नहीं।
ऐसा मन में विचार कर मुनि उदासता का दास नहीं,
होकर परवश कभी त्यागता जिनमत का विश्वास नहीं।।६२।।

अर्थ – इस समय भी – दीर्घ तपस्या के बाद भी मेरे ज्ञानादि गुणों में न वृद्धियाँ हुई और न हर्ष को बढ़ाने वाली सिद्धियाँ प्रकट हुई। ऐसा विचार कर साधु उदासता को प्राप्त नहीं होता और न दीर्घकाल से चली आयी गुरुसेवा को छोड़ता है।।६२।।

जगति नाप्यधुना यशसा सितः, स हि यमो जिनशासनशासितः।
निरतिशायि ततो जिनदर्शन-मिति न संशयितः समदर्शनः।।

जिन शासन से शासित होकर व्रत पालूँ अविराम सही,
किन्तु हुआ ना ख्यात जगत में यश फैला ना नाम कहीं।
रहित रहा हो अतिशय गुण से जिन दर्शन यह लगता है,
समदर्शन युत मुनि मन में ना ऐसा संशय जगता है।।६३।।

अर्थ– जगत् में जिनशास्त्रोपदिष्ट वह संयम इस समय भी यश से धवल नहीं हुआ। इस कारण जिनधर्म अतिशय से रहित है ऐसा समदर्शी मुनि को संशय नहीं करना चाहिये।।६३।।

करणमानसजं लघु वैहिकं, सुखमितं न मया किमु वै हि कम्।
जिनपशासनमानविनाशनं, न हि करोति स एवमनाशन !।।

अल्प मात्र भी ऐहिक सुख औ इन्द्रिय सुख वह मिला नहीं,
फिर, किस विध निर्वाण अमित सुख मुझे मिलेगा भला कहीं।
मुनि हो ऐसा कहता नहिं जिन-मत का गौरव नहिं खोता,
रहा अदर्शन यही परीषह-विजयी होता सुख-जोता।।६४।।

अर्थ – हे अविनश्वर भगवन् ! मैंने इन्द्रिय और मन से होने वाला थोड़ा भी लौकिक सुख प्राप्त नहीं किया फिर पारलौकिक सुख की तो बात ही क्या है? इस प्रकार विचार कर वह मुनि जिनशासन के सन्मान का नाश नहीं करता।।६४।।

जिनमतोन्नतितत्परजीवनं, विमलदर्शनवत् नदजीवनम्।
भवतु वृत्तवतां खलु वार्पित-परिजयोऽस्तु यदेष समर्पितः।।

जिन मत की उन्नति में जिनका जीवन तत्पर लसता है,
उजल सलिल से भरा सरित-सा जिन में दर्शन हँसता है।
रहा अदर्शन परिषहजय यह प्रमुख रहा मुनि यतियों का,
उनके चरणों में नित नत हूँ विनशन हो चहुँगतियों का।।६५।।

अर्थ – यतश्च साधुओं के लिये यह परिषहजयग्रन्थ रामर्पित है अतः इसके फलस्वरूप उनका जीवन जिनधर्म की उन्नति में तत्पर रहे, निर्मल सम्यग्दर्शन रो राहित हो महानदी के जल के समान गतिशील हो और निश्चय से अर्पित–विवक्षित अदर्शनपरिषह पर विजय प्राप्त करने वाला हो।।६५।।

सपदि संपदि संविदि वा सुखी, विपदि नो भुवि योऽविदि वाऽसुखी।
स हि परीषहकान् श्रयितुं क्षमः, शुचितपश्च विधातुमिह क्षमः।।

पद-पूजन संपद संविद पा पद-पद होते सुखित नहीं,
निन्दन, आपद, अपयश में फिर साधु कभी हो दुखित नहीं।
दुस्सह सब परिषह सहने में सक्षम ऋषिवर धीर सभी,
आत्म ध्यान के पात्र, ध्यान कर पाते हैं भव तीर तभी।।६६।।

अर्थ – पृथ्वी पर जो संपत्ति और सम्यग्ज्ञान में सुखी तथा विपत्ति और अज्ञान में शीघ्र ही दुखी नहीं होता, वही परीषहों को सहन करने में समर्थ होता है और वही निर्मल तप करने में शक्त होता है।।६६।।

यमविहीनतपश्चरणेन किं, च्युतपरीषहतश्चरणेन किम्।
ननु विना सुदृशा न हि संगतं, सकलमेनस एव वशंगतम्।।

दुष्कर तप से नहीं प्रयोजन संयम से यदि रहित रहा,
परिषहजय बिन नहीं सफलता यद्यपि व्रत से सहित रहा।
यम-दम-शम-सम सकल व्यर्थ हैं समदर्शन यदि ना होता,
पाप पंक से लिपा कलंकित जीवन मौलिक नहिं, थोथा।।६७।।

अर्थ – संयमहीन तपश्चरण से क्या प्रयोजन है? परीषहविजय से रहित चारित्र से क्या प्रयोजन है? सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान नहीं होता। खेद है कि सकल जगत् पाप के वश हो रहा है।।६७।।

चर्याशय्यानिषद्यासु वान्यतमाऽस्तु चैकदा।
शीतोष्णयोर्भवेत्तद्वदागमानुभवादिति।।

शीत परीषह, उष्ण परीषह एक समय में कभी न हों,
चर्य्या, शय्या तथा निषद्या एक साथ ये सभी न हों।
ऐसा जिनवर का आगम है हम सबको यह बता रहा,
अनुभव कहता, स्ववश परीषह सहो सही, फिर व्यथा कहाँ।।६८।।

अर्थ– एक समय चर्या, शय्या और निषद्या में से कोई एक तथा शीत और उष्ण में से कोई एक परीषह होता है। यह आगम और अनुभव से सिद्ध है।।६८।।

दशपरीषहकाश्च नवाधिका, इति भवन्तु समं विधिबाधकाः।
द्व्यधिकविंशतिका जिनसेविता, मम तु सन्त्वखिलास्तपसेऽहिताः।।

एक साथ उन्नीस परीषह मुनि जीवन में हो सकते,
समता से यदि सहो साधु हो विधिमल पल में धो सकते।
सन्त साधुओं तीर्थकरों ने सहे परीषह सिद्ध हुए,
सहूँ निरन्तर उन्नत तप हो समझूँ निज गुण शुद्ध हुए।।६६।।

अर्थ – ऊपर लिखे अनुसार मुनिचर्या में बाधा डालने वाले उन्नीस परिषह एक साथ हो सकते हैं। मुनि अवस्था में जिनेन्द्र देव को भी बाईस परीषह सहन करने पडे हैं। मेरे भी तप के लिये अहितकारी सभी परिषह हैं।।६६।।

वै विषमयीविद्यां विहाय ज्ञानसागरजां विद्याम्।
सुधामेम्यात्मविद्यां नेच्छामि सुकृतजां भुवि द्याम्।।

पुण्य-पाक है सुरपद संपद सुख की मन में आस नहीं,
आतम का नित अवलोकन हो दीर्घ काल से प्यास रही।
तन से, मन से और वचन से तजूँ अविद्या हाला है,
'ज्ञान-सिन्धु' को मथकर पीऊं समरस 'विद्या', प्याला है।।१००।।

अर्थ – मैं निश्चय से विषरूप अविद्या को छोडकर ज्ञानरूप सागर में समुत्पन्न (पक्ष में ज्ञानसागर गुरु से उत्पन्न) आत्मविद्यारूपी सुधा–अमृत को प्राप्त करता हूँ। पृथिवी पर पुण्योदय से प्राप्त स्वर्ग की इच्छा नहीं करता हूँ।।१००।।

वैराग्यमूर्तिः प्रणतिं सुनीता,चिदेकभूतिश्च शिवप्रसूतिः।
विरच्यतेऽदः शतकं सुनीतेरीतेरभावोऽस्तु ततो धरायाम्।।

चिन्मय-धन के धनिक रहे हैं, शिवसुख के जो जनक बने।
विरागता के सदन जिन्हें हो नमन सदा यह कनक बने।।
लिखी गई यह अल्प ज्ञान से नीतिशतक की रचना है।
रोग शोक ना रहे धरा पर ध्येय पाप से बचना है।।१।।

अर्थ – वीतराग, सर्वज्ञ और मोक्षमार्गोपदेशी–अर्हन्त परमेष्ठी को नमस्कार कर यह सुनीतिशतक रचा जा रहा है। इससे पृथिवी पर ईतियो का अभाव हो।।१।।



सुनीति-शतकम्

आचार्य श्री विद्यासागरजी

सुनीति-शतकम्

मूल्येन पुष्टं च मलेन जुष्टं, नवीनवस्त्रं न हि नीरपायि।
गुरूपदेशामृतरागहीनः, शास्त्रोपजीवी खलु धीधरोऽपि।।

नया वस्त्र हो मूल्यवान हो मल से यदि वह समल रहा।
प्रथम बार तो छू नहिं सकता जल को, जल हो विमल अहा।।
उपदेशामृत सन्तों से सुन करता आना कानी है।
शास्त्रों का व्यवसाय चल रहा जिसका, बुध जो मानी है।।२।।

अर्थ – महार्घ और मलिन नवीन वस्त्र नीरस्पर्शी नही होता। विद्वान् भी यदि गुरुओ के उपदेशामृत सम्बन्धी राग से रहित है तो वह भी यथार्थत शास्त्रो से अपनी आजीविका ही चलाता है विद्वत्ता के फल से रहित है।।२।।

शरीरसम्बन्धिकुलादियोगा न्मुनेर्मुनित्वं न मलत्वमेतु।
वर्णेन कृष्णास्तु भवन्तु गावः, कदापि कृष्णं न तु तत्पयोऽस्तु।।

शिवसुखकारक भवदुखहारक मुनि का मुनिपन विमल घना।
देहाश्रित कुल-जात पात से सुनो ! कभी ना समल बना।।
यही समझ में सब को आता कृष्ण-वर्ण की गायें हों।
किन्तु दूध क्या? काला होता दूध धवल ही पायें ओ!।।३।।

अर्थ – शरीर सम्बन्धी कुल–गोत्रादि के योग से मुनि का मुनिपना मलिनता को प्राप्त न हो। जैसे गायें वर्ण से काली भले ही हों पर उनका दूध काला नहीं होता।।३।।

वाञ्छन्ति सन्धिं न यमेन सार्धमक्षार्थमुग्धा वयसैव वृद्धाः।
विद्धि ध्रुवं तैरश्चरणेन पुष्टे, शैथिल्यभावाश्चरणे विशन्ति।।

यद्यपि वय से वृद्ध हुये हैं संयम से अति ऊब रहे।
विषयरसिक हैं विरति विमुख हैं विषयों में अति डूब रहे।।
उनकी संगति से शुचिचारित मुनियों का वह समल बने।
वृद्ध-साथ हो युवा चले यदि युवा चरण भी विकल बने।।४।।

अर्थ – इन्द्रियविषयों में आसक्त रहने वाले जो मनुष्य संयम से सन्धि नहीं करते हैं वे अवस्था से वृद्ध हैं, ज्ञान और संयम से नहीं। चारित्र में शिथिलता रखने वाले ऐसे मनुष्य निश्चय से तिर्यञ्च योनि में उत्पन्न होते हैं, यह जानो।।४।।

ज्ञानेन् वृद्धो यदि पक्षपाती, निजान्यहा स द्वयलोकशून्यः।
पयः पवित्रं परमार्थिपेयं, लावण्ययोगात् किमु किंचिदस्ति।।

ज्ञानवृद्ध औ तपोवृद्ध यदि पक्षपात से सहित तना।
उभय लोक में सुख से वंचित निज पर का वह अहित बना।।
सज्जन पीते पेय रहा है पावन पय का प्याला है।
छोटी सी भी लवण-डली यदि गिरती, फिर क्या ? हाला है।।५।।

अर्थ – ज्ञान वृद्ध मनुष्य यदि पक्षपाती है–एकान्तवादी है तो वह निज–पर का घातक और उभयलोक से भ्रष्ट होता है। पवित्र दूध परमार्थी जनों के द्वारा पेय–पीने योग्य होता है पर नमक के मिलने पर क्या कुछ रहता है? अर्थात् नहीं। अपेय हो जाता है।।५।।

अक्षार्थकारस्ते हितका भवन्ति, धर्मोऽहितः पापवतां भवेऽस्ति।।
तथ्यं च पथ्यं न हि रोचते तत्, सत्यां रुजायां विधिरोगिणेऽत्र।।

पाप पंक में फसे हुये हैं, विषय-राग को सुख जाने।
मोह पाश से कसे हुये हैं वीत-राग को दुख माने।।
सत्य रहा यह, कर्म-योग से जिनको होता रोग यहाँ।
पथ्य कहाँ वह रुचता उनको अपथ्य रुचता भोग महा।।६।।

अर्थ – जो मनुष्य अक्ष--आत्मसम्बन्धी कार्यों मे सुख मानते हैं वे इस संसार में हितकारी हैं। पापी मनुष्यों के लिये धर्म अहितकारी जान पड़ता है। उचित है–कर्मरूपी रोग से युक्त मनुष्य के लिये रोग होने पर पथ्य–हितकारी वस्तु अच्छी नहीं लगती, यह जो लोकप्रसिद्धि है, वह सत्य ही है।।६।।

धनी तु मानाय धनं ददाति, धनाय मानाय धियं तु धीमान्।
प्रायः प्रभावोऽस्तु कलेः किलायं, दूरोऽस्तु धर्मो नियमाच्च ताभ्याम्।।

मानभूत के वशीभूत हो धनिक दान खुद करते हैं।
मान तथा धन की आशा से ज्ञान-दान बुध करते हैं।।
प्रायः ऐसा प्रभाव प्रचलित कलियुग का है विदित रहे।
वीतराग-मय पूज्य धर्म से इसीलिए ये स्खलित रहे।।७।।

अर्थ- धनी मनुष्य अहंकार अथवा सम्मान के लिये धन देते हैं और विद्वान् धन तथा सम्मान पाने के लिये अपनी बुद्धि का उपयोग करते हैं। यह प्रायः कलिकाल का प्रभाव है। परमार्थतः धर्म उन दोनों से दूर है।।७।।

व्रतं विदग्धं व्रतिनां धियां वा, लोभार्चिषा सारविधातृ पूतम्।
बाह्येन शेषं नहि चान्तरेण, गजेन भुक्तं तु कपित्थवत् तत्।।

काल रूप ले लोभ अनल वह जीवन में जब खिलता है।
सुधी जनों का व्रती जनों का अपनापन ही जलता है।।
भीतर में नहिं भले बाह्य में भेष-गात्र वह भार रहो।
निगला गजं ने 'कैंथ' निकलता शेष मात्र बस बाहर ओ।।८।।

अर्थ- व्रतीजनों अथवा ज्ञानीजनों का सारपूर्ण, पवित्र व्रत यदि लोभानल से दग्ध होता है तो वह बाह्य में ही शेष रहता है, अन्तरगं में नहीं। जैसे हाथी के द्वारा निगला हुआ कैंथा बाहर में पूर्ण दिखता है पर भीतर सार से रहित होता है।।८।।

परिग्रहो विग्रहमूल हेतुः, परिग्रहो विग्रहभाव धाता।
परिग्रहो विग्रहराजमार्गः, परिग्रहोऽनेन विमुच्यते सः।।

भव भव में नव तन का कारण यही परिग्रह माना है।
वैर-कलह का जनक रहा है यही परिग्रह बाना है।।
यही परिग्रह राजमार्ग है जिस पर शनि का विचरण हो।
अतः परिग्रह तजता यह मुनि जिससे इसका सुमरण हो।।६।।

अर्थ- यतश्च परिग्रह विद्वेष का मूल कारण है, परिग्रह विद्वेषभाव को धारण अथवा उत्पन्न करने वाला है और परिग्रह युद्ध का प्रमुख मार्ग है अतः वह साधुओं के द्वारा छोड़ा जाता है।।६।।

असंयतानां विदुषामपीह, ज्ञाने स्वभावत् गुणता न भातु।
स्पार्श्य न दृश्यं मृदुता न नव्यं, केशेषु घृष्टेर्भुवि मित्र! दृष्टम्।।

साक्षर होकर जीवन जिसका मोहादिक से शोभित है।
ज्ञान, ज्ञानपन से वंचित है संयम से नहिं शोधित है।।
शूकर के केशों को देखो कहां ललित हैं जटिल कहां?
स्पर्शनीय या दर्शनीय या कोमल-कोमल कुटिल कहां?।।१०।।

अर्थ - असंयमी विद्वानों की भी स्वभाव से ज्ञान विषयक गुणता—अप्रधानता सुशोभित न हो। जैसे कि पृथ्वी पर सूकर के वालों में न स्पर्श है, न मनोहरता है, न कोमलता है और न नूतनता है।।१०।।

सत्सन्निधाने पतितोऽसुमान्यः, श्रीकण्ठभावं ध्रुवमातनोति।
रसं गतं शुक्लदधीदमत्र, श्रीखण्ड भावं किमु नाभ्युपैति?।।

पाप पंक में पतित हुआ हो साधु समागम यदि पाता।
प्रथम पुण्य से भव वैभव पा मुक्ति समागम पुनि पाता।।
मिश्री का यदि सुयोग पाती खट्टी हो वह यदपि दही।
इष्ट मिष्ट श्रीखण्ड बनेगी, मूढ़ चाहता तदपि नहीं।।११।।

अर्थ – जो मनुष्य सत्संगति में पहुंच जाता है वह निश्चित शिवत्व–शंकरत्व–श्रेष्ठत्व को प्राप्त हो जाता है। इस जगत् में यह शुक्ल दही मिश्री के संसर्ग से उत्पन्न मधुररस के साथ मिलकर क्या श्रीखण्डभाव–सुस्वादुपेयता को प्राप्त नहीं हो जाता? अर्थात् हो जाता है।।११ ।।

तनूभृतां व्याधिसुमन्दिरं सा, तनुर्मनोऽप्याधिकमन्दिरं तत्।
सुसाधुदेहोऽचलमन्दरो ऽस्तु, चेतः समाधेः शिवमन्दिरं तु।।

जग के जड़ जंगम जीवों का काय व्याधि का मन्दिर है।
दुस्सह दुख का मूल हेतु है चित्त आधि का मन्दिर है।।
साधु जनों का किन्तु काय वह अचलराज है, मन्दर है।
निज-पर सुख का कारण मन है जीवित शिव का मन्दिर है।।१२।।

अर्थ – प्राणियों का वह शरीर रोगों का घर है और वह मानसिक पीड़ाओं का स्थान है परन्तु सुसाधु का शरीर मेरु के समान स्थिर–परिषहविजयी और मन समाधि–ध्यान का उत्तम स्थान है।।१२।।

इता त्विर्ति केवलबोधशक्तिः, शक्तेर्विधेराभवतोऽङ्गिनां सा।
यथोदिते व्योमनि भास्करेऽस्मिन्, दलोऽप्युडूनां न हि दृश्यतेऽयम्।।

केवलज्ञानावरणादिक जड़ कर्मो का जब उदय रहा।
पूर्ण ज्ञान का उदय नहीं हो अनन्त सुख का निलय रहा।।
विशाल नभ मण्डल में जैसा उदित प्रभाकर लोहित हो।
तारक दल वह लुप्त-गुप्त हो शशि भी शीघ्र तिरोहित हो।।१३।।

अर्थ - कर्म की सामर्थ्य से जीवों की वह केवलज्ञान की शक्ति अनादि संसार से उस तरह समाप्ति को प्राप्त हो रही है जिस प्रकार कि इस आकाश में सूर्य के उदित होने पर नक्षत्रों का यह समूह नहीं दिखाई देता है।।१३।।

धूम्रप्रसूतिर्ज्वलतो यथा स्या-दार्द्रेन्धनात् सा नियतेह दृष्टा।
विरागदृष्टे र्न हि पुष्टितुष्टी, स्यातां गृहे सा तु सरागदृष्टिः।।

गृहस्थ जब तक गृह में रहता विरागता का श्वास नहीं।
जैसा जीवन अनुभव वैसा सरागता का वास वहीं।।
सूखी लकड़ी जलती जिससे धूम्र नहीं वह उठता है।
गीली लकड़ी मन्द जलेगी धूम्र उठे, दम घुटता है।।१४।।

अर्थ - जिस प्रकार जगत् में अग्नि से जो धूम की उत्पत्ति देखी जाती है वह गीले इन्धन के संयोग से देखी गयी है। इसी प्रकार पोषण और संतोष सरागदृष्टि के होते हैं, विरागदृष्टि के नहीं। वह सरागदृष्टि घर मे रहने वालों के होती है, गृहत्यागी मुनियों की नहीं।।१४।।

अध्यात्मशास्त्रं शमिने सुधा स्यात्, सङ्गात्मनेऽस्मिन् विषमं विषं तत्।
मीनस्य नीरं खलु जीवनं हा, मृत्युः परस्मै विदितं न केन?।।

मुनियों को अध्यात्म शास्त्र वह प्रायः परमामृत प्याला।
विषयरसिक हैं गृही जनों को विषम-विषमतम है हाला।।
जीवन-दाता प्राण-प्रदाता नीर मीन को माना है।
औरों को तो मृत्यु रहा है यही योग्यता बाना है।।१५।।

अर्थ - इस जगत् में अध्यात्मशास्त्र, शान्तपरिणामी–गृहत्यागी मुनि के लिये अमृत रूप होता है, परन्तु परिग्रही गृहस्थ के लिये तो विषम विषरूप होता है। जैसे निश्चयतः पानी मछली के लिये जीवन–प्राणदायक परन्तु दूसरे के लिये मृत्युरूप है, यह कौन नहीं जानता?।।१५।।

स्वभाव-भुक्तिर्न विभावमुक्ति-स्तनूभृति त्यक्ततनौ यथा स्यात्।
प्रकाशशक्ति र्न हि गन्धभावो, दुग्धेऽमलत्वं तु घृते समस्तु।।

तन से रीते शिव जिन जीते उनमें संभव हो भव ना।
स्वभावदर्शन विभावघर्षण तन-धारक में संभव ना।।
कहाँ दूध से प्रकाश मिलता तथा दूध में गन्ध कहाँ?
प्रकाश देता तथा महकता घृत से जल का बंध कहाँ?।।१६।।

अर्थ - जिस प्रकार मृत प्राणी में न स्वभाव का संवेदन है और न विभाव का गोचन, उसी प्रकार प्रकाश की शक्ति और गन्ध का सद्भाव दूध में नहीं है किन्तु घृत में अच्छी तरह है। तात्पर्य यह है कि अशुद्ध दशा में शरीर का परित्याग – मरण होने पर भी आत्मस्वभाव का वेदन नहीं होता और न विकारी भावों का मोचन। किन्तु यह सब शुद्ध दशा होने पर होता है।।१६।।

भोगोपभोगेषु रतो न, मानी, योगोपयोगेषु परः प्रमाणी।
नासाग्रदृष्टि र्न हि सान्यथा ते, विनेति मानेन मनोऽनुमन्ये।।

भोग और उपभोगों से तो विरत रहे हो मानी हो।
योग और उपयोगों में जो निरत रहे परमाणी हो।।
नासा पर फिर दृष्टि रही क्यों? ऐसा यदि भगवान नहीं,
मान बिना यह परिणति ना हो मेरा यह अनुमान सही।।१७।।

अर्थ - हे भगवान्! आप भोग और उपभोग में रत–लीन नहीं है इसलिये मानी--स्वाभिमानी हैं तथा योग–ध्यान और उपयोग–ज्ञानदर्शन में पर–तत्पर है इसलिये प्रमाणी–प्रकृष्ट मान से युक्त हैं। पक्ष में प्रमाण ज्ञान से सहित हैं। यदि ऐसा नहीं माना जाय तो आपकी नासाग्रदृष्टि नहीं हो सकती। मान के बिना मन कैसे रह सकता है, यह अनुमान करता हूँ।।१७।।

भूत्वा नरोऽयं सुकृतात् सुसङ्ग, व्रतं कदं नोऽप्यकद प्रयाति।
उदारदातारमगं सरिन्न, क्षारं च वार्धिं कृपणं समेति।।

जीव पुण्य का उदय प्राप्तकर नर जीवन को पाकर भी।
सुखद चरित ना दुखद असंयम प्रायः पाले पामर ही।।
उदार उरनाले पर्वत पर मुड़कर भी नहिं हँसती है।
खरा सागर रहा कृपण है सरिता जिस में फँसती है।।१८।।

अर्थ -- यह प्राणी पुण्य से मनुष्य होकर सुखदायक व्रत को प्राप्त नहीं होता किन्तु दुःखदायक परिग्रह को प्राप्त होता है। उचित ही है क्योंकि नदी उदारदानशील अग--पर्वत अथवा वृक्ष को तो प्राप्त नहीं होती किन्तु खारे और कंजूस समुद्र के पास जाती है।।१८।।

असंयते श्रीमति धीमतीह, विना प्रयत्नेन मदस्य भावः।
दृष्टेरभावात् किल तापसेऽपि, निद्रा निशायां, समुपैति प्रायः।।

दृष्टि रहित हो घोर घोरतर तप तपता उस तापस में।
श्रीमन्तों में धीमन्तों में तथा असंयत मानस में।।
अनायास ही होता रहता मद जिससे बहु दोष पले।
निशाकाल में निद्रा जैसी प्रायः आती होश टले।।१६।।

अर्थ – विवेकपूर्ण दृष्टि का अभाव होने से संयमहीन, श्रीमान्, धीमान् और तापसी में भी प्रयत्न के विना ही गर्व का सद्भाव होता है यह ठीक है क्योंकि प्रायः रात्रि में निद्रा प्रयत्न के विना आती ही है।।१६।।

विनात्र रागेण वधूललाटो, विनोद्यमेनापि विभांतु देशः।
दृष्ट्या विना सच्च मुनेर्न वृत्तं, रसेन शान्तेन कवे र्न वृत्तम्।।

लाल तिलक बिन ललना जनका ललाटतल ना ललित रहे।
उद्यम के बिन तथा जगत में देश ख्यात ना दलित रहे।।
परम शान्त रस बिना किसे वह भाती कवि की कविता है।
सम दर्शन के बिना कभी ना भाती मुनि की मुनिता है।।२०।।

अर्थ – इस पृथिवी पर कुंकुम के विना स्त्री का ललाट, व्यवसाय–उद्योग के विना देश, सम्यग्दर्शन के विना मुनि का सम्यकचरित्र और शान्तरस के विना कवि का छन्द सुशोभित न हो।।२०।।

आसन्नमृत्युर्विषयी कषायी, निष्क्रान्तकान्तिर्ननु दीप्तमोहः।
अत्यन्तवृद्धा गहनेऽम्लिकास्तु, तथापि वृद्धाम्लिकता न सास्तु।।

जीर्ण-शीर्ण तन कान्तिहीन है पर भव भी अब निकट रहा।
मोही का पर विषयों पर ही झपट रहा मन निपट रहा।।
बहुत पुराना इमली का वह रहा वृक्ष अतिवृद्ध रहा।
किन्तु खटाई इमली की नहिं वृद्धा यह अविरुद्ध रहा।।२१।।

अर्थ – जिसकी मृत्यु निकट है तथा कान्ति निकल चुकी है ऐसा विषयकषाय से युक्त मनुष्य निश्चय से तीव्रमोह से युक्त देखा जाता है जैसे वन में इमली के वृक्ष पुराने तो होते हैं पर उनका खट्टापन क्या वही नहीं रहता?।२१।।

शृङ्गार एवैकरसो रसेषु, न ज्ञाततत्त्वाः कवयो भणन्ति।
अध्यात्मशृङ्ग त्यिति राति शान्तः, शृङ्गार एवेति ममाशयोऽस्ति।।

एक रहा शृंगार रसों में रस में डूबे रहते हैं।
तत्त्वज्ञान से विमुख रहे जो इस विध कुछ कवि कहते हैं।।
किन्तु सुनो! अध्यात्मशृंग तक पहुंचाता रस सार रहा।
परम-शान्त रस कवियों का वह सुखकर हैं शृंगार रहा।।२२।।

अर्थ – 'रसो में एक शृंगार रस ही प्रमुख है' ऐसा यथार्थ तत्त्व को जानने वाले कवि नहीं कहते हैं। 'अध्यात्म के शृंग–शिखर–सर्वोच्च स्थान को जो देता है वह शृंगार है इस निरुक्ति से शान्त ही शृंगार रस है' ऐसा मेरा अभिप्राय है।।२२।।

तीर्थङ्कराणां शिवकेशवानां, नामावली सा बलदेवकानाम्।
किं विस्मृता नो जगता मृता या-प्यस्मादृशां कास्तु कथेतरेषाम्।।

नारायण प्रतिनारायण औ तीर्थंकर बलदेव धनी।
महा पुरुष वे महामना वे कहां गये जिनदेव गणी?।।
काल-गाल में कवल हुये सब विस्मृत मृत हैं आज़ नहीं।
हम सम साधारण जन की क्या? कथा रही यह लाज रही।।२३।।

अर्थ – तीर्थंकर, रुद्र, नारायण और बलभद्रों की भी नामावली मरने के बाद जब जगत् ने भुला दी तब हमारे जैसे साधारण पुरुषों की तो कथा ही क्या हो?।।२३।।

अर्थेन युक्तं नरजीवनं न, चार्थे नियुक्तं मुनिजीवनं चेत्।
खपुष्पशीलं च भुवीक्षुपुष्प-वदेव वन्द्यं न विदुर्विमानाः।।

गृही बना पर उद्यम बिन हो धन से वंचित यदि रहता।
श्रमण बना श्रामण्य रहित हो धन में रंजित यदि रहता।।
ईख-पुष्प आकाश-पुष्पसम इनका जीवन व्यर्थ रहा।
सही-सही पुरुषार्थ वन्द्य है जिस बिन सब दुखगर्त रहा।।२४।।

अर्थ – यदि गृहस्थ मनुष्य का जीवन धन से रहित है और मुनि का जीवन धन में संलग्न है तो वह पृथिवी पर आकाश पुष्प और ईख के पुष्प के समान निष्फल है, अतः आदरणीय नहीं है, ऐसा ज्ञानी जन जानते हैं – कहते हैं।।२४।।

संज्ञाततत्त्वोऽप्यधनी गृही स, लोकेऽत्र दृष्टो धनिकानुगामी।
श्वा स्वामिनं वीक्ष्य यथाशुदीनः, सुखाय संचालितलूमकोऽस्तु।।

तत्त्व-बोध को प्राप्त हुये पर धन से यश से यदि रीते।
प्रायः मानव धनी जनों की हां में हां भर कर जीते।।
श्वान चाहता सुखमय जीवन जग में सात्त्विक नामी हो।
पीछे-पीछे पूंछ हिलाता स्वामी के अनुगामी हो।।२५।।

अर्थ – वस्तुतत्त्व का ज्ञाता होकर भी निर्धन गृहस्थ सुख प्राप्ति के लिये उस प्रकार धनिकों का अनुगमन उनकी हाँ में हाँ मिलाता हुआ देखा गया है जिस प्रकार कि मालिक को देखकर सुख पाने की इच्छा से पूँछ हिलाता हुआ कुत्ता शीघ्र दीन हो जाता है।।२५।।

निश्रेयसोऽस्मै मुनये पथीह, संगोऽप्येणुः संचरतेऽस्ति विघ्नः।
वाताहतः पुच्छकमण्डलोऽपि, शिखण्डिने स्वस्य यथास्त्यरण्ये।।

मोक्षमार्ग में विचरण करता श्रमण बना है नगन रहा।
किन्तु परिग्रह यदि रखता है अणुभर भी सो विघन रहा।।
पवन वेग से मयूर का वह पुच्छ-भार जब ताड़ित हो।
मयूर समुचित चल ना सकता विचलित पद हो बाधित हो।।२६।।

अर्थ – यहां मोक्षमार्ग में संचार करने वाले इस मुनि के लिये अल्प भी परिग्रह उस तरह विघ्न करने वाला है, जिस तरह कि वन में विचरने वाले मयूर के लिये वायु से ताडित उसके निजी पिच्छों का समूह।।२६।।

संगस्तु संगोऽस्तु समाधिकाले, संघस्य भारो यमिनेऽस्तु संङ्ग।
वृद्धाय वा भूषणकानि कानि, लघूनि वस्त्राणि गुरूणि सन्तु।।

बात संग की कहें कहां तक सुनो ! संग तो संग रहा।
संघ-भार भी अन्त समय में संग रहा सुन दंग रहा।।
वस्त्राभरणाभूषण सारे बोझिल हो मणिहार तथा।
वृद्धावस्था में तो कोमल-मलमल भी अतिभार व्यथा।।२७।।

अर्थ – मुनि के लिये समाधि के समय परिग्रह तो परिग्रह है ही परन्तु संघ का भार–दायित्व भी परिग्रह हो जाता है। जैसे वृद्ध के लिये सुखदायक लघु आभूषण और वस्त्र भी भारी हो जाते हैं अथवा वृद्ध के लिये अल्प आभूषण क्या है, लघु वस्त्र भी भारी लगने लगते हैं।।२७।।

कायेन वाचा तु गुरुः कठोरो, हितैषिणः स प्रति तान् विनेयान्।
तथा न चित्तेन मृदुर्दयैकधामा लघुः श्रीफलवत् सदास्तु।।

सुख चाहें उन शिष्यों के प्रति कठोरतर व्यवहार करें।
कभी-कभी गुरु रुष्ट हुये से वचनों का व्यापार करें।।
किन्तु हृदय से सदा सदय हो मार्दवतम हो लघुतम हो।
जैसा श्रीफल कठोर बाहर भीतर उज्ज्वल मृदुतम हो।।२८।।

अर्थ – हिताभिलाषी संघस्थ शिष्यों के प्रति गुरु काय और वचन के द्वारा कठोर भले ही हों परन्तु मन से नारियल के समान् कोमल, दया का प्रमुख स्थान और सुगम्य सदा रहना चाहिये।।२८।।

पापाय पापैर्जिनवाक् श्रिता सा, पुण्याय पापातिगकैः पुनीता।
जलस्य धारा रसमिक्षुणा च, निम्बोरगाभ्यां कटुतां सुनीता।।

पापात्मा का आश्रय पाकर सन्त वचन भी पाप बने।
पुण्यात्मा का आश्रय पाकर पुण्य बने भवताप हने।।
नभ से गिरती जल की धारा! इक्षु-दण्ड में मधुर सुधा।
कटुक नीम में अहि में विष हो अब तो मन तू सुधर मुधा।।२६।।

अर्थ – पापी मनुष्यों ने पवित्र जिनवाणी का आश्रय पापकार्य – विषयकषाय की पुष्टि के लिये लिया है और निष्पाप–पापरहित मनुष्यों ने पुण्य के लिये। जैसे ईख जल की धारा को मधुररस प्राप्त कराती है और नीम तथा सर्प कड़वा रस।।२६।।

यातोऽस्म्यहं कारविकारभावं, कायस्य नो तं ममकारभावम्।
यास्याम्यहं कायनिकायभावं, नात्मा भृशं यन्ममकारभावम्।।

अहंकार की परिणति से मैं पूर्ण रूप से विरत रहूँ।
तथा काय की ममता तजकर समता में नित निरत रहूँ।।
यही नियति है बार-बार फिर तन का धारण नहीं बने।
कारण मिटता कार्य मिटेगा प्राण विदारण नहीं बने।।३०।।

अर्थ – मैं शरीर के विषय में अहंकारभाव को और प्रसिद्ध ममकारभाव को प्राप्त नहीं हुआ हूँ अर्थात् शरीर में मेरा अहंभाव और ममत्वभाव नहीं है। मैं शरीर में निकायभाव गृहभाव को प्राप्त हूँगा अर्थात् शरीर को गृहरूप मानूंगा जिसके फलस्वरूप मेरा आत्मा कालभाव–मृत्यु को प्राप्त नहीं हो सकेगा।।३०।।

पापेन पापं न लयं प्रयाति, पुनस्तु पुण्यं पुरुषं पुनातु।
मलं मलेनालमलं लयं तत्, विना विलम्बेन जलेन याति।।

प्रयास पूरा भले करो तुम पाप पाप से नहिं मिटता।
पाप पुण्य से पल में मिटता पुरुष पूत हो सुख मिलता।।
मल से लथपथ हुआ वस्त्र हो मल से कब वह धुल सकता?
विमल सलित से धोलो पल में मूल रूप से धुल सकता।।३१।।

अर्थ – पाप से पाप विनाश को प्राप्त नहीं होता किन्तु पुण्य मनुष्य को पवित्र करता है। जैसे मल से मल नाश को प्राप्त नहीं होता। अतः मल धोने के लिये बिल्कुल व्यर्थ है किन्तु जल के द्वारा वह मल शीघ्र ही नाश को प्राप्त हो जाता है।।३१।।

विश्वस्य सारं प्रविहाय विज्ञः, कः स्वं त्वटेत् स्वं भुवि वीतमोहः।
निस्सारभूतं किमु तक्रमिष्टं, स्वादिष्ट आप्ते नवनीतसारे।।

सब सारों का सार रहा है चेतन निधि को त्याग जिया।
रहा अचेतन दुख का केतन जड़ वैभव में राग किया।।
कौन रहा वह बुद्धिमान हो सारभूत नवनीत तजे।
क्षारभूत रसरीत छाछ में भूल कभी क्या? प्रीत सजे।।३२।।

अर्थ – पृथ्वी पर ऐसा कौन निर्मोह ज्ञानी पुरुष है जो सब पदार्थों में सारभूत अपने आत्मा को छोड़कर धन को प्राप्त करना चाहे। स्वादिष्ट मक्खन रूप सार के प्राप्त हो जाने पर क्या सारहीन छांछ इष्ट होती है अर्थात् नहीं।।३२।।

धनार्जनारक्षणयोर्विलीनो, विना सुखेनार्तमना मृतो ना।
मोहस्य शक्तिर्जगता न गम्या, व्यथां गता सा चमरी यथात्र।।

धन के अर्जन संवर्धन और संरक्षण में लीन रहा।
बार-बार मर दुखी हुआ पर आत्मिक सुख से हीन रहा।।
मोह मल्ल की महा शक्ति है उसे जगत कब जान रहा।
पूंछ उलझती झाड़ी में है चमरी खोती जान अहा।।३३।।

अर्थ – धन के उपार्जन और संरक्षण में लगा मानव सुख के विना दुःखी होता हुआ मर जाता है जैसे इस जगत् मे सुरागाय पूँछ के बालों की रक्षा में संलग्न रह पीड़ा को प्राप्त होती। अतः मोह की शक्ति–समर्थता जगत् के गम्य नहीं है–जानने योग्य नहीं है।।३३।।

शस्ताः प्रजाः सन्तु राज्ञा, राजा तथा नोऽस्तु विना प्रजाभिः।
को नाम सिन्धुः परतन्त्र एव, बिन्दुः स्वतन्त्रः किल सिन्धुहेतुः।।

जीवन को, जीवित रख सकतीं प्रजापाल के बिना प्रजा।
प्रजापाल पर कहाँ रहे ओ ! कहाँ सुखी हो बिना प्रजा।।
निश्चित ही पर-आश्रित है वह स्वयं भला क्या सिन्धु रहा?
किन्तु बिन्दु निज आश्रित है यह सिन्धु हेतु है बिन्दु रहा।।३४।।

अर्थ -- इस जगत् में राजा के विना उत्तम प्रजा भले ही रह सकती है परन्तु प्रजा के विना राजा नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रजा के रहने पर ही प्रजापति – राजा संज्ञा प्राप्त होती है। अतः राजा प्रजा के अधीन होने से परतन्त्र है, प्रजा स्वतन्त्र है। पानी की बूँद सागर के विना स्वतन्त्र रह सकती है परन्तु बूंदों के विना सागर का अस्तित्व नहीं रह सकता, क्योंकि बूंदों का समूह ही सागर कहलाता है।।३४।।

भोगानुवृत्तिर्विधिबन्धहेतु-र्योगानुवृत्तिर्भवसिन्धुसेतुः।
बीजानुसारं कलितं फलं तत्,किं निम्बवृक्षे फलितं रसालम्।।

भोगी बन कर भोग भोगना भव बन्धन का हेतु रहा।
योगी बन कर योग साधना भव-सागर का सेतु रहा।।
जैसा तुम बोओगे वैसा बीज फलेगा अहो! सखे।
निम्ब वृक्ष पर सरस आम्रफल कभी लगे क्या? कहो सखे! ।।३५।।

अर्थ – भोगों का अनुगमन कर्मबन्धन का कारण है और योग का अनुगमन संसार–सागर का पुल है। जगत् में बीज के अनुसार ही फल प्राप्त होता है। क्या नीम के वृक्ष पर आम फलता है? अर्थात् नहीं।।३५।।

त्यक्तस्तु संगो गतमोहभावै-स्तत्रानुभूतो न हि कष्टलेशः।
स्निग्धत्वहीनात् पलितं च पत्रं, तत् पादपात् वा पतितं स्वभावात्।।

मोह भाव से दूर हुआ है, साधु परिग्रह त्याग रहा।
समता से भरपूर हुआ है उसे कष्ट नहिं जाग रहा।।
चिकनाहट से रहित हुआ हैं पात पका है पलित हुआ।
सहज रूप से बाधा बिन ही पादप से वह पतित हुआ।।३६।।

अर्थ – मोहभाव से रहित मनुष्यों के द्वारा जो परिग्रह छोड़ा गया है उसमें उन्होंने रंच मात्र भी दुःख का अनुभव नहीं किया है। पका पत्र जैसे सरसता से रहित वृक्ष से टूट कर पड़ता है तो ृ स्वभाव से पड़ता है।।३६।।

अक्षार्थरागो भवदुःखदाता, धर्मानुरागोः भवसौख्यदाता।
प्रभातरागे शृणु सान्ध्यरागे, किमन्तरं तत्र महन्न मित्र !।।

विषयी का बस विषयराग ही भवदुख का वह कारण है।
भविकजनों का धरम राग ही शिवकारण दुखवारण है।।
सन्ध्या में भी लाली होती प्रभात में भी लाली है।
एक सुलाती एक जगाती कितने अन्तर वाली है।।३७।।

अर्थ – इन्द्रियविषयसम्बन्धी राग सांसारिकदुःख का देने वाला है और धर्मसम्बन्धी राग सांसारिकसुख का देने वाला है। सुनो मित्र! क्या प्रभात की लाली और संध्या की लाली में बड़ा अन्तर नहीं है? अवश्य है।।३७।।

उन्मत्ततोऽ प्यत्र सुपीतमद्यात्, सुपीडितात् वृश्चिकदंशनेन।
कपेश्च चित्तं चपलं नराणां, धन्यो यमी यस्य लयं गतं तत्।।

वैसा वानर चंचल होता मदिरा पीता पामर है।
बिच्छू ने फिर उसको काटा और हुआ वह पागल है।।
उससे भी मानव मन की अति चंचलता मानी जाती।
धन्य रहा वह विजितमना जो जिनवर की वाणी गाती।।३८।।

अर्थ – इस जगत् में मनुष्यों का चित्त उस वानर से भी अधिक चञ्चल है जो स्वभाव से पागल है, जिसने मदिरा पी ली है और बिच्छू के काटने से अत्यन्त पीडित है। वह मुनि धन्य है जिसका कि चित्त विलीनता को प्राप्त है–स्थिर है।।३८।।

तथा प्रतीतिस्तु सुखस्य तत्र, सुखं न लेशं निजमोहभावात्।
अर्थेषु खानां जलमन्थनेन, फेनानुभावो हि तदाप्युदेति।।

पंचेन्द्रिय के विषयों में जो प्रतीति सुख की होती है।
मोह-भाव की परिणति है वह स्वरीति सुख को खोती है।।
जल का मन्थन करने वाला पाता नहिं नवनीत कभी।
किन्तु फेनका दर्शन पोता मति होती विपरीत तभी।।३६।।

अर्थ – आत्मविषयक अज्ञानभाव से इन्द्रियों के विषयों में सुखित्व की प्रतीति भले ही हो परन्तु उसमें सुख का लेश भी नहीं होता। जैसे जल के मन्थन–विलोलने से फेन की अनुभूति तो उस समय होती है परन्तु घी का अंश भी प्राप्त नहीं होता।।३६।।

मार्ग स्मृते र्यस्य गतो जिनेन्द्रोऽप्येनो गतं तस्य लयं समस्तम्।
नदादिनीरं मलिनं निरस्तं,वागस्त्ययोगे भवतात् पवित्रम्।।

वीतरागमय जिनवर का वह जिसके मन में स्मरण हुआ।
ज्ञात रहे यह बात, उसी के पाप बाप का मरण हुआ।।
सावन में सरवर सरिता का मलिन रहे वह सलित भले।
अगस्त का जब उदय हुआ बस! विमल बने जल, कलित टले।।४०।।

अर्थ – जिनेन्द्र देव जिसके स्मरण पथ को प्राप्त हैं, जो जिनेन्द्रदेव का ध्यान करता है उसके समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं। जैसे नदी आदि का मलिन पानी शरद् ऋतु में निर्मल होता हुआ पवित्र हो जाता है।।४०।।

अयत्नदृष्टान् श्रुतकान् परेषां, दोषान् दयाधाम-निवासिनस्ते।
स्वप्नेऽपि वाङ्मानसकाययोगै- र्नोद्घाटयन्ति प्रशमाश्च सन्तः।।

किसी पुरुष के दोष कभी भी होश बिना जो किये गये।
अनायास ही सुधीजनों से सुने गये हो लखे गये।।
तन मन वच से कहें न पर को जग में वे जयवन्त रहे।
सदा दया के निलय बने जो शान्तमना हैं सन्त रहे।।४१।।

अर्थ – दयारूप घर के निवासी, शान्तपरिणामी सज्जन, स्वय दृष्ट और सुने दूसरो के दोषो को मन–वचन–कायरूप योगो से स्वप्न में भी प्रकट नही करते है।।४१।।

भवाभिमुक्ता न भवे विभावे, पुनश्च भीमेऽवतरन्ति दुःखे।
तैलं तिलं तच्च घृतं तु दुग्धं, पूर्वस्वरूपं न पुनः प्रयाति।।

महा भयानक दुस्सह दुःखमय-भवसागर के पार गहें।
स्वभाव तज कर विभाव-भव में जिनवर नहिं अवतार गहें।।
तेल निकलता है तिल से, घृत तथा दूध से वह निकले।
किन्तु तेल तिल में नहिं बदले, नहीं दूध में घृत बदले।।४२।।

अर्थ – संसार से मुक्त सिद्धपरमेष्ठी अशुद्ध भव–संसार अथवा पर्याय और भयंकर दुःख में पुनः नहीं आते। जैसे तेल अपने पूर्वरूप तिल को और घी अपने पूर्व रूप दूध को प्राप्त नहीं होता।।४२।।

लुब्धः स मुग्धो विषयेष्वघात्मा, सम्प्राप्तदृष्टिस्तु ततोऽस्तु भिन्नः।
करोतु नृत्यं मृदुमोदकान् वा, खादन् स बालोऽत्र तथा न वृद्धः।।

लुब्ध हुआ है विषयों में अति मुग्ध कुधी वृषरीत रहे।
ज्ञानी की तुम बात पूछते जग से वह विपरीत रहे।।
बालक को जब मोदक मिलता खाता खाता नृत्य करे।
किन्तु वृद्ध वह यद्यपि खाता नृत्य करे ना तथ्य अरे।।४३।।

अर्थ – विषयों में लुभाय: मोही मनुष्य पापी है परन्तु सम्यग्दृष्टि उससे भिन्न हो। जैसे कोमल लड्डुओं को खाता बालक नृत्य करता है, वृद्ध नहीं।।४३।।

न नाग्न्यमात्रं भवमुक्तिहेतु-श्चित्तस्य नैर्ग्रन्थ्यमपीति शास्त्रम्।
गवादयो ये पशवोऽपि नग्ना-स्त्रस्ताः कथं स्युः शिवमन्यथा स्यात्।।

नग्न दिगम्बर तन से होना केवल यह पर्याप्त नहीं।
किन्तु विमलता साथ रहे वह मन की, कहते आप्त सही।।
ऐसा यदि ना, श्वान सिंह पशु नग्न सदा हैं सुखित बनें।
किन्तु कहां? वे सुखित बने हैं रहें निरन्तर दुखित घने।।४४।।

अर्थ – केवल नग्नता ही मोक्ष का कारण नहीं है किन्तु मन की निर्ग्रन्थता भी उसके साथ कारण है ऐसा शास्त्र में कहा है। यदि ऐसा न हो तो जो बैल आदि पशु नग्न हैं वे दुःखी क्यों हैं? उन्हें भी शिव–कल्याण अथवा मोक्ष प्राप्त होना चाहिये।।४४।।

गन्तुं लयं स्वात्मनि तेऽस्ति वाञ्छा त्वयार्जवं चेतसि संश्रितं स्यात्।
वक्रागतिर्यद्यपि सोरगाणां, बिलप्रवेशे सरलैव दृष्टा।।

परम शान्त निज आतम में यदि जा बसने की चाह रही।
भक्ति-भाव से भजो सरलता तजो कुटिलता 'राह यही'।।
कुटिल-चाल से चलता है अहि बाहर में यह उचित रहा।
बिल में प्रवेश जब करता है 'सरल चाल' हो, विदित रहा।।४५।।

अर्थ – हे भव्य ! स्वकीय आत्मा मे लीनता प्राप्त करने की तेरी इच्छा है तो तुझे चित्त मे सरलता का सेवन करना चाहिये। जैसे सापो की वह प्रसिद्ध गति यद्यपि कुटिल है तथापि बिल मे प्रवेश करते समय सीधी ही देखी गयी है।।४५।।

अब्धि र्नदैश्चानल इन्धनौघै-स्तृप्तः सुधाशीलमटेद्विषोऽपि।
आरोहितोऽसौ भुवि पङ्गुनाद्रि-र्योगान्न तृप्तोऽस्ति धनेन लोभी।।

हो सकता है जलधि तृप्त वह शत-शत सरिता नदियन से।
तथा जहर भी सुधा सरस हो अनल तृप्त हो इन्धन से।।
पंगू भी वह दैवयोग से गिरि चढ़ सकता संभव है।
किन्तु तृप्ति लोभी की धन से कभी न होना सम्भव है।।४६।।

अर्थ – समुद्र नदियों से और आग ईंधन के समूहों से संतुष्ट हो सकता है। विष अमृत के स्वभाव को प्राप्त हो सकता है और पृथ्वी पर लूले मनुष्य के द्वारा पर्वत चढ़ा जा सकता है परन्तु लोभी मनुष्य धन के योग से संतुष्ट नहीं हो सकता।।४६।।

मनोबलं तद् गुरु मुक्तिमार्गे, वचोबलं वापि ततो लघु स्यात्।
लघिष्ठमस्त्यङ्गबलं, धनं धिक तद् वस्तुतोऽस्मिन् न हि किंचिदस्ति।।

रहा मनोबल मुक्ति-मार्ग में साधकतम है गुरुतम है।
तथा वचन बल तरतमता से आवश्यक है कुछ कम है।।
तन बल तो बस रहा सहायक निश्चय के वह साथ सही।
किन्तु सुनो ! तुम मुक्तिमार्ग में धनबल का कुछ हाथ नहीं।।४७।।

अर्थ – मोक्षमार्ग में मनोबल श्रेष्ठ है, वचन बल भी उससे कुछ कम श्रेष्ठ है और शरीर बल सबसे लघु है परन्तु धन को धिक्कार है क्योंकि वह यथार्थतः मोक्षमार्ग में कुछ भी नहीं है।।४७।।

पापं वपुर्जं त्वणुकप्रमाणं, वाक्कायजं यच्च ततोऽधिकं वा।
चित्तस्य कार्यं तु सुमेरुमानं,पापान्मनोऽतोऽस्तु सदा सुदूरम्।।

पापार्जन तन मन वच से हो पाप तनक ही तन से हो।
विदित रहे यह सब को, तनसे पाप अधिक वाचन से हो।।
कहूँ कहां तक मन की स्थिति मैं पाप मेरु सम मन से हो।
करें नियंत्रण मन को हम सब धर्म कार्य बस। मन से हो।।४८।।

अर्थ – शरीर से होने वाला पाप अणुप्रमाण है, वचन और शरीर से होने वाला पाप उससे अधिक है और मन से होने वाला पाप सुमेरुप्रमाण है – सबसे अधिक है इसलिये पाप से मन सदा दूर रहे।।४८।।

दानेन भोगी भुवि शोभते स, ध्यानेन शस्तेन तथा सयोगी।।
निःसंग-पात्रस्तु निरीहवृत्त्या, चेहा प्रतोली नरकस्य वोक्ता।।

दान धर्म में रत होने से शोभा पाता वह भोगी।
ध्यान कर्म में रत होने से शोभा पाता यह योगी।।
पात्र बना है निरीह बनना गुण माना है जिनवर ने।
नरक द्वार है इच्छा-ज्वाला हमें कहा है ऋषिवर ने।।४६।।

अर्थ – पृथ्वी पर भोगी मनुष्य दान से, योगी प्रशस्त ध्यान से और निर्ग्रन्थ मुनि निःस्पृह वृत्ति से सुशोभित होता है, क्योंकि स्पृहा–वाञ्छा नरक के प्रमुखद्वार के समान कही गई है।।४६.।।

सागारको वाप्यनगारको वा, कर्मक्षयार्थं निरतोऽस्तु धर्मे।
करोतु कार्यं कृषकः स कार्ष्यं, धान्याय शस्यं न तृणाय हास्यम्।।

कृषक कृषी का कार्य करे वह ध्येय धान्य का लाभ रहा।
किन्तु घास का ध्येय रहा तो हास्य पात्र वह आप रहा।।
संग सहित-सागारी हो या संग रहित-अनगारी हो।
भवक्षय करने धर्मनिरत हो शिवसुख के अधिकारी हो।।५०।।

अर्थ – सागार हो चाहे अनगार, उसे कर्मक्षय के लिये ही धर्म में लीन होना चाहिये (भोगोपभोग प्राप्ति के लिये नहीं) क्योंकि किसान खेती का कार्य अन्न के लिये करता है तो प्रशस्त है और घास के लिये करता है तो हास्य–उपहास का पात्र होता है।।५०।।

पात्राय देयं विधिना प्रदाय, फलं प्रति स्याद् यदि यो निरीहः।
सदा स दातास्तु सतां मतोऽस्ति, सुखाय वै भागुभयत्र कीर्तेः।।५१।।

यथाशक्ति और तथाभक्ति से दान पात्र को दे दाता।
फल के प्रति यदि किसी तरह भी मन में लालच नहिं लाता।।
वही रहा है प्रशस्त दाता, बुध-मत हमको बतलाता।
कीर्ति फैलती जग में उसकी सुख पाता शाश्वत साता।।५१।।

अर्थ – योग्य पात्र के लिये विधिपूर्वक दान देना चाहिये और देकर यदि फल के प्रति निःस्पृह रहता है तो वह दाता सत्पुरुषों से समादृत होता है, उसका वह दान सुख के लिये होता है और वह दाता दोनों लोकों में कीर्ति का भाजन होता है।।५१।।

दानं प्रशस्तं विनयेन साकं, नम्रो हि दाता बुधसेवितोऽस्तु।
सुपीतदुग्धं स वमन् सुतोऽपि, जनीं समानां न मुदा प्रपश्येत्।।

सही दान बस वही कहाता विनय-भाव से घुला हुआ।
दाता पूजित बुध जन से हो नम्र-भाव में ढला हुआ।।
दुग्ध पान करके भी बालक तुरत वमन वह कर लेता।
मानवती माता के मुख को मुड़कर भी नहिं लख लेता।।५२।।

अर्थ – विनय के साथ दिया हुआ दान अच्छा होता है, क्योंकि विनम्र दाता ज्ञानिजनों से सेवित होता है। अच्छी तरह पिये दूध को उगलता हुआ शिशु भी मानिनी माता को हर्ष से नहीं देखता है।।५२।।

चिन्तातुरोऽजस्रमयं ह्यगारी द्विवल्लभो हा मरणं तथास्तु।
परस्परं धारितवैरभावैः, शिष्यैर्गुरुः संयतकस्तथास्तु।।

चिन्ताओं से घिरा रहेगा आजीवन दिन रैन वही।
दो दो नारी जिसकी होती गृही जिसे सुख-चैन नहीं।।
लगभग वैसा गुरु संयत भी चिंतित रहता खेद रहा।
जिसके शिष्यों में आपस में वैर भाव मन-भेद रहा।।५३।।

अर्थ – निश्चय से यह गृहस्थ निरन्तर चिन्ता से दुःखी रहता है। फिर दो पत्नी वाला गृहस्थ हो तो उसका मानो मरण ही है। इसी प्रकार परस्पर वैर रखने वाले शिष्यों से सयमी गुरु भी निरन्तर चिन्ता से दुःखी रहता है।।५३।।

व्रतेषु शीलं च दमो दमेषु, खानां वरोऽयं रसनेन्द्रियस्य।
दानं तु दानेष्वभयाह्वयं वै, धर्मेषु धर्मो गदितोऽप्यहिंसा।।

महाव्रतों में महा रहा है मुनियों का व्रत शील रहा।
इन्द्रियविषयों में रसना का विजय मुख्य सुखझील रहा।।
सब दानों में अभय-दान ही श्रेष्ठ रहा वरदान रहा।
सब धर्मों में धर्म-अहिंसा मान्य रहा मन मान रहा।।५४।।

अर्थ – व्रतों में शील–ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है, दमन में इन्द्रियों का दमन, उसमें भी रसनेन्द्रिय का दमन श्रेष्ठ है, दानों में अभयदान श्रेष्ठ है और धर्मों में अहिंसाधर्म श्रेष्ठ कहा गया है।।५४।।

ध्यानेषु शुक्लं च तपस्सु सत्सु, ध्यानं निधानं स्वनिधेः प्रधानम्।
विसर्जनं तद्, मधुरस्य सद्भिः, शलाघ्यं रसेषु प्रथमं प्रणीतम्।।

प्रशस्त ध्यानों में सुखदाता शुक्ल-ध्यान वह श्रेष्ठ रहा।
प्रधान तप में ध्यान रहा निज-निधि का निधान जेष्ठ रहा।।
सभी रसों में मधुर त्याग ही प्रथम रहा बुध श्लाघ्य रहा।
विज्ञ कहें बस यही साध्य है मुनियों का आराध्य रहा।।५५।।

अर्थ – ध्यानों में शुक्लध्यान, अन्तरगं तपों में ध्यान आत्मनिधि का निधान कहा गया है तथा रसों मे मधुररस् का त्याग सत्पुरुषों के द्वारा प्रशंसनीय प्रमुख त्याग कहा गया है।।५५।।

जिनागमेऽन्योन्यविरुद्धधर्मा, नया न मानाय तदंशतोऽतः।
परस्परं तत् प्रतिकूलमास्तां, कूलद्वयं वै सरितेऽनुकूलम्।।

प्रमाण के अनुचर हो चलते जिन शासन के नय सारे।
भिन्न स्वभावी रहें परस्पर किन्तु लड़ें नहिं दृग-धारें।।
भले नदी के एक कूल को अन्य कूल प्रतिकूल रहे।
किन्तु नदी को कुल दोनों मिल कूल सदा अनुकूल रहे।।५६।।

अर्थ – जैन सिद्धान्त में परस्पर विरुद्ध नय सन्मान के लिये नहीं माने गये हैं क्योंकि वे वस्तु के एक अंश को ग्रहण करते हैं अतः वे परस्पर विरुद्ध भले ही रहें परन्तु वस्तु का पूर्ण स्वरूप कहने के लिये दोनों आवश्यक हैं जैसे नदी के दो तट परस्पर विरुद्ध रहते हुए भी नदी के लिये अनुकूल होते हैं।।५६।।

दुःखस्य मूलं तनुधारणं वा, दुःखेषु दुःखं तु मनोगतं तत्।
तत्रापि दुःखं च पराभवाद्धि, स्वस्यावबोधे न हि दुःखमस्ति।।

मूढ़ सुनो तुम तन धारण ही दुस्सह दुख का मूल रहा।
सब दुःखों में दुःख वही है मन को जो प्रतिकूल रहा।।
उसमें भी है महा भयानक दुःख पराभव का होता।
आत्मबोध हो फिर क्या दुख है अभाव भव-भव का होता।।५७।।

अर्थ – दुःख का मूल कारण शरीर का धारण करना है। दुःखों में भी मानसिक दुःख सबसे प्रबल है, उसमें भी पराभव से जो होता है वह अधिक प्रबल है। स्वकीय शुद्ध आत्मा के ज्ञान होने पर निश्चय से दुःख नहीं है।।५७।।

विमुक्तसंगा मनसा रमन्ते, तत्रैव चेद् ये न शिवीभवन्ति।
मुञ्चन्ति ये यद्यपि कञ्चुकं वै, नो पन्नगा निर्गरलीभवन्ति।।

बाहर से तो छोड़ दिया है धन मणि कंचन सकल अहा।
किन्तु उन्हीं में जाकर जिसका मन रमने को मचल रहा।।
शिव सुख उसको मिल नहिं सकता उसे तत्त्व क्या? खबर नहीं।
सर्प कांचली भले छोड़ता किन्तु छोड़ता जहर नहीं।।५८।।

अर्थ – परिग्रह का त्याग करने वाले जो मनुष्य मन से उसी परिग्रह में रमण करते हैं लीन रहते हैं – वे कल्याण के भाजन नहीं होते। जैसे सांप कांचुली तो छोड़ देते हैं परन्तु विष से रहित नहीं होते।।५८।।

सुखं सुखेषूत्तममात्मजं तत्, या पञ्चमी सा गतिरुत्तमास्तु।
प्रभासु सर्वासु मणिप्रभेव, ज्ञानेषु विज्ञानमदोऽक्षयं स्यात्।।

सभी सुखों में आत्मिक सुख ही उत्तम है श्रुति गाती है।
सब गतियों में पंचम गति ही उत्तम मानी जाती है।।
सब आभाओं में मणि-आभा मानव मन को भाती है।
सब ज्ञानों में अक्षय केवल-ज्ञान ज्योति सुख लाती है।।५६।।

अर्थ – सुखों मे आत्मा से उत्पन्न होने वाला सुख उत्तम है। गतियों में पञ्चमगति–सिद्धगति उत्तम है, सब प्रभाओं में मणि की प्रभा उत्तम है। इसी प्रकार सब ज्ञानों में वह अविनाशी केवलज्ञान उत्तम है।।५६।।

यथामतिः स्याच्च तथागतिः सा, यथागतिः स्याच्च तथामतिः सा।
मतेरभावात्तु गतेरभावो, द्वयोरभावात् स्थितिराशु शैवे।।

जैसी मति होती है वैसी नियम रूप से गति होती।
जैसी गति होती है वैसी सुनो नियम से मति होती।।
अभाव मति का जब होता है गति का अभाव तब होता।
अभाव मति गति का होने से प्रकटित स्वभाव अब होता।।६०।।

अर्थ – जैसे मति होती है वैसी गति होता ह, जैसी गति होती है वैसी मति होती है, मति के अभाव से गति का अभाव होता है और गति–मति दोनों का अमाव होने से शीघ्र ही मोक्ष में स्थिति होती है।।६०।।

जलाश्रिता मञ्जुलवीचिमाला, स्तिम्भाश्रितं तद् भवनं यथास्तु।
ज्ञानादयो ये विनयाश्रिताः स्यु-र्गुणास्तथा तेऽपि वृथान्यथा स्युः।।

जल बिन कब हो जल में उठती लहरें जल के आश्रित हो।
गगन चूंमता भवन बना है स्तम्भों पर आधारित हो।।
उत्तमतम गुण ज्ञानादिक भी विनयाश्रित हैं शोभित हैं।
बिना विनय के वृथा सभी गुण इस विध मुनि संबोधित हैं।।६१।।

अर्थ – जिस प्रकार मनोहर तरंगों की सन्तति जल के आश्रित है उसी प्रकार वह प्रसिद्ध प्रासाद खम्भों के आश्रित है। इसी प्रकार जो ज्ञानादि गुण हैं वे विनय के आश्रित रहें, अन्यथा वे गुण नहीं हैं।।६१।।

अजेयसेनापि विना न राज्ञा, राजा किरीटेन विना न भातु।
न्यूना गुणास्ते विनयेन सर्वे, न भान्तु तस्माद्विनयः सताप्तः।।

शक्ति-शालिनी सेना की भी राजा से ही शोभा है।
मस्तक पर वर मुकुट शोभता राजा की भी शोभा है।।
नहीं शोभता बिना विनय के गुणगण का जो निलय बना।
इसीलिए बस सुधी जनों से पूजा जाता विनय घना।।६२।।

अर्थ – अजेय सेना भी राजा के बिना सुशोभित नहीं होती है, मुकुट के बिना राजा सुशोभित नहीं होता और विनय से रहित गुण भी सुशोभित नहीं होते। इसीलिये सत्पुरुषों ने विनय को प्राप्त किया है।।६२।।

अक्षप्रवृत्तेर्विषयोपलब्धि-, स्ततः कषायाश्च ततोऽस्तु बन्धः।
विधेर्गतिः स्याद् गतितोऽङ्गभारोऽ-प्यक्षाणि तत्र प्रकटीभवन्ति।।

ज्यों ही इन्द्रिय सचेत होती विषयों का बस ग्रहण हुआ।
कषाय जगती क्रोधादिक फिर विधि-बन्धन का वरण हुआ।।
विधि बन्धन से गति मिलती है गति से काया मिलती है।
काया में फिर नई इन्द्रियां नई खिड़कियां खुलती हैं।।६३।।

अर्थ – इन्द्रियों में प्रवृत्ति होने से विषयों की प्राप्ति होती है, उससे कषाय उत्पन्न होते हैं, कषायों से कर्मबन्ध होता है, कर्म से गति होती है, गति से शरीर धारण करना पड़ता है और शरीर में पुनः इन्द्रियां प्रकट होती हैं।।६३।।

पूर्वानुवृत्तिस्तु पुनश्चिरेयं, परम्परा वा तरुबीजवृत्तिः।
बीजे विदग्धे न तरोः प्रसूति-, र्दान्तेषु खेषु स्वत आत्मसिद्धिः।।

फिर क्या पूछो वही-वही फिर चलती रहती चिर से है।
परम्परा है बीज वृक्ष से वृक्ष बीज से फिर से है।।
किन्तु बीज को दग्ध करो तो वृक्ष कहां फिर जीयेगा।
जीती, इन्द्रिय यदि तुमने तो शान्ति सुधा चिर पीयेगा।।६४।।

अर्थ – पूर्व पूर्व कारणों का अनुसरण करने वाली यह चिरकालीन परम्परा वृक्ष और बीज के समान है। अर्थात् वृक्ष से बीज होता है और बीज से वृक्ष होता है। बीज के जल जाने पर वृक्ष की उत्पत्ति नहीं होती। इन्द्रियों का दमन होने पर आत्मा की सिद्धि स्वयं हो जाती है।।६४।।

जितेन्द्रियः संयमधारकः स, ध्याने विलीनः सहजं सदास्तु।
दुग्धे द्रुतं सा किल शर्करेव, दम्यानि सद्भिः करणानि तस्मात्।।

जीत इन्द्रियां विजितमना है यम संयम ले संयत है।
आत्म-ध्यान में सहज रूप से वही लीन हो संगत है।।
यथा-शीघ्र ही घुल मिल जाती सुनो दूध में शक्कर है।
जीतो इन्द्रिय इसीलिए तुम विषयों का तो चक्कर है।।६५।।

अर्थ – इन्द्रियों को जीतने वाला साधु सरलता से ध्यान में उस तरह विलीन रहे जिस तरह दूध में शीघ्र ही शक्कर विलीन हो जाती है। इसलिये सत्पुरुषों के द्वारा इन्द्रियां दमन करने के योग्य हैं।।६५।।

ज्ञानान्न वृत्तान्न च भावनायाः, सद्ध्यानशक्तेस्तु निजात्मशुद्धिः।
पृथक् कृतं किं पयसो घृतं तत्, विनाऽग्निना वोपलतो हिरण्यम्!।

ज्ञान मात्र से मात्र चरित से मात्र भावना के बल से।
सिद्धि नहीं हो, होती शुचितम ध्यान साधना के बल से।।
समुचित है यह बिना तपाये नहीं दूध से घृत मिलता।
अनल योग पा, तप-तप कर ही कनक खरा भास्वत खिलता।।६६।।

अर्थ – स्वकीय आत्मा की शुद्धि ज्ञान से नहीं होती, चारित्र से नहीं होती और भावना से नहीं होती किन्तु ध्यान से होती है। क्या अग्नि के विना दूध से घी और पाषाण से स्वर्ण को पृथक् किया गया है? अर्थात् नहीं। कर्मक्षय के लिये ज्ञान, चारित्र और भावना के साथ ध्यान का होना आवश्यक है।।६६।।

विशेषसामान्यचितं सदस्तु, चितिद्वयेनाकलितं समं वै।
एकेन पक्षेण न पक्षिणस्ते, समुत्पतन्तोऽत्र कदापि दृष्टाः।।

विशेष और सामान्य गुणों से सहित वस्तु है शाश्वत है।
प्रभु के दोनों उपयोगों में एक साथ जो भास्वत है।।
फैला-फैला कर पंखों को पंछी नभ में उड़ता ओ।
किन्तु कभी ना दिखा किसी को एक पंख से उड़ता हो।।६७।।

अर्थ – वस्तु सामान्य और विशेष से तन्मय है अर्थात् द्रव्य–पर्याय से युक्त है। आत्मतत्त्व भी दर्शनचेतना और ज्ञानचेतना–दोनों से एक साथ तन्मयीभाव को प्राप्त है। इस लोक में वे पक्षी क्या कभी एक पक्ष से उड़ते देखे गये हैं? नहीं।।६७।।

हिताहिते ते निहिते हि ते स्तो, निजात्मनि भ्रातरियं सदुक्तिः।
परप्रयोगोऽत्र निमित्तमात्रः, फलं ह्युपादानमसमं सदास्तु।।

हित हो अथवा अहित रहा हो निज आतम में निहित रहे।
सन्तों के ये वचन रहे हैं तुम सब को भी विदित रहे।।
पर का इस में हाथ रहा हो निमित्त भर वह कहलाता।
उपादान में फल लगता है सुनो ! गीत तुम यह गाता।।६८।।

अर्थ – हे भाई ! तेरे हित और अहित तेरी ही निजात्मा में निहित हैं यह सूक्ति अथवा सत्पुरुषों का कथन प्रसिद्ध है। पर–पदार्थ का प्रयोग तो इसमें निमित्त मात्र है फल तो सदा उपादान के समान ही होता है।।६८।।

मानेतु मेयस्य सुखस्य दुःखे, बन्धे हि मुक्ते र्धनिनो दरिद्रे।
पात्रे तु दातुः पथिके पथोऽपि, मुख्यस्य गौणे सुदृशोऽपि चान्धे।।

ज्ञेय-मूल्य भी ज्ञान बिना नहिं दुख ही सुख का मूल्य रहा।
बन्ध बिना नहिं मुक्ति रुचेगी निर्धन धन का मूल्य रहा।।
कौन पूछता दाता को बिन पात्र, पथिक बिन पन्था को।
गौण हुये बिन मुख्य कौन हो लोचन-मालिक, अन्धा हो।।६६।।

अर्थ – मान के रहते हुये मेय–पदार्थ का, दुःख के रहते सुख का, बन्ध के रहते हुए मुक्ति का, दरिद्र के रहते हुए धनी का, पात्र के रहते हुए दाता का, पथिक के रहते हुए पथ का, गौण–अप्रधान के रहते हुये मुख्य का, अन्धे के रहते हुए सुलोचन का, अज्ञानी के रहते हुए ज्ञानी का, अहित के रहते हुए हित का, क्षुधा के रहते हुए भोजन का और दिन रात से युक्त इस देश में सूर्य चन्द्रमा का मूल्य है। सुनो!।।६६।।

विज्ञस्य चाज्ञेऽप्यहिते हितस्य, क्षुधाभिवृद्धौ भुवि भोजनस्य।
यथात्र देशे दिनरात्रियुक्ते, दिवाकरेन्द्वोः श्रृणु मूल्यमस्ति।।

अज्ञ रहा तब मूल्य विज्ञ का बढ़ा अन्यथा वृथा कथा।
शत्रु मित्र की याद दिलाता क्षुधा बिना है अन्न वृथा।।
उचित रहा यह जहां निशा हो तथा दिवस भी रहे जहां।
मूल्य निशाकर तथा दिवाकर का होता बुध कहें यहां।।७०।।

अर्थ – मान के रहते हुये मेय–पदार्थ का, दुःख के रहते सुख का, बन्ध के रहते हुए मुक्ति का, दरिद्र के रहते हुए धनी का, पात्र के रहते हुए दाता का, पथिक के रहते हुए पथ का, गौण–अप्रधान के रहते हुये मुख्य का, अन्धे के रहते हुए सुलोचन का, अज्ञानी के रहते हुए ज्ञानी का, अहित के रहते हुए हित का, क्षुधा के रहते हुए भोजन का और दिन रात से युक्त इस देश में सूर्य चन्द्रमा का मूल्य है। सुनो!।।७०।।

विवाहितः संश्च वरो गृही सोऽ-, विवाहिताद्वा व्यभिचारिणोऽपि।
पापस्य हानिश्च वृषे मतिः स्यात्, तथेतराद् यत् शृणु पापमेव।।

अविवाहित हो जीवन जीता व्यभिचारी भी बना हुआ।
गृही विवाहित उससे वर है शुभ आचारी बना हुआ।।
एक पाप को पल पल ढोता दुर्मति से दुर्गति होती।
एक पाप को नियमित धोता धर्म कार्यरत मति होती।।७१।।

अर्थ – व्यभिचारी अविवाहित मनुष्य की अपेक्षा विवाहित – स्वदारसंतोषी गृहस्थ श्रेष्ठ है। उसकी श्रेष्ठता का कारण पाप की हानि और धर्म में रुचि है। इससे विपरीत कारणों–पाप की वृद्धि और धर्म में अरुचि से पाप ही होता है। यह तत्त्व की बात सुन।।७१।।

दाता दयालुः परदुःखवैरी, स श्रेष्ठिनः स्यात् कृपणात् प्रशस्तः।
अन्यान्यवित्तं ददतस्तु दातु-र्वरोऽप्यदाता नयमार्गगामी।।

कृपण सेठ से श्रेष्ठ रहा वह साधारण जीवन जीता।
दयालू दाता पर के दुख का वैरी उद्यम-जल पीता।।
प्रशस्त-दाता किन्तु नहीं जो अनीति-धन का दान करे।
दान बिना भी मान्य रहा वह नीति निपुण गुणवान अरे!।।७२।।

अर्थ – पर के दुःख को दूर करने वाला दयालू दाता कंजूष सेठ से अच्छा है। और दूसरे लोगों के धन–वस्तु को देने वाले दाता की अपेक्षा नीतिमार्ग पर चलने वाला अदाता श्रेष्ठ है।।७२।।

कनीयसा मे मनसा धृतो योऽ- मूर्तश्च विश्वैकगुरुर्विरागः।
श्रद्धादृशा वाधिगतोऽप्यतोऽहं, भक्तोऽपि धन्यो भगवांस्तु धन्यः।।७३।।

श्रद्धा की मम आंखों में प्रभु किसविध आ अवतार लिया।
कणभर होकर मन यह मेरा गुरुतम तुमको धार लिया।।
विराग हो तुम अमूर्त भी हो मूर्त रहा यह अन्य रहा।
धन्य रहे हो भगवन् तुम तो किन्तु भक्त भी धन्य रहा।।७३।।

अर्थ – अमूर्तिक, वीतराग और विश्व के अद्वितीय गुरु यतश्च मेरे तुच्छ हृदय के द्वारा धारण किये गये हैं अतः मैं भी धन्य हूं, भगवान् तो धन्य हैं ही।।७३।।

योग्यो विनेयो गुरुणा श्रमेण, नीतो गुरुत्वं किमु विस्मयोऽत्र।
पाषाणखण्डेऽपि विरागता सा, दिव्योदिता किं न हि शिल्पिनापि।।

महा विचक्षण योग्य शिष्य हो विनयी हो श्रमशील तना।
योग, योग्य गुरु का पा गुरु हो विस्मय क्या समझील बना।।
शिल्पी की वह शिल्पकला है जड़ भी चेतन हो जाता।
कठिन-कठिन पाषाण-खण्ड भी विराग केतन हो जाता।।७४।।

अर्थ – योग्य शिष्य यदि गुरु के द्वारा परिश्रम पूर्वक गुरुता को प्राप्त करा दिया गया है तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है? क्योंकि पाषाणखण्ड में भी शिल्पी के द्वारा क्या वह अलौकिक वीतरागता प्रकट नहीं की जाती।।७४।।

विवेकयुक्ता अलिवच्चरन्ति, सदावृता ये विषयैर्विचित्रैः।
हिताहितज्ञानविविक्तचित्ताः, कफे मृतास्ते खलु मक्षिकावत्।।

चमक दमक है जिनके चारों ओर विषय ये परे हुये।
निज में रमते सदा भ्रमर से बुधजन भ्रम से परे हुये।।
किन्तु हिताहित नहीं जानते पर में रत जड़ मरते हैं।
जैसे कफ में मक्खी फसती क्यों न विषय से डरते हैं?।।७५।।

अर्थ – विविध भोग सामग्रियों से सदा घिरे रहने वाले जो लोग विवेक सहित हैं वे भ्रमरों के समान योग्य विषयों का ही सेवन करते हैं और जो हिताहित के विवेक से शून्य चित्त वाले हैं वे कफ में फँसी मक्खियों के समान निश्चय से मृत्यु को प्राप्त होते हैं।।७५।।

दैवेऽनुकूले मुदितं जगद्वा,पापोदये दुःखितमेव भावात्।
आतापतस्तस्य रवेर्लता सा, या छायिकाऽऽरादतिमूर्च्छिता स्यात्।।

भाग्य खुला तो मुख खिलता है प्रायः जग यह मुदित दिखे।
पाप उदय में आता है तब मुख मुंदित हो दुखित दिखे।।
तपन ताप से नभ मण्डल औ धरती जब यह तप जाती।
पली छाव में मृदुल लता जो मूर्च्छित होती अकुलाती।।७६।।

अर्थ – भाग्य के अनुकूल रहते हुए जगत् स्वभाव से प्रसन्न होता है और पापोदय के रहते हुए स्वभाव से दुःखी रहता है। जैसे छाया में उत्पन्न हुई लता दूरवर्तिनी होने पर भी सूर्य के संताप से अत्यधिक म्लान हो जाती है।।७६।।

संप्राप्य चारित्रसुशीलयोगं,ज्ञानं स्वयं याति सुपूर्णतां तत्।
सुशाणयोगाद्धि मणेश्च मूल्यं,काष्ठां गतं सज्जनकण्ठभागम्।।

चरित-शरण में जब आता है शील-छांव में पलता है।
ज्ञान स्वयं यह अविनश्वर शुचि पूर्ण-ज्ञान में ढलता है।
उचित शाण पर उचित समय तक अनगढ़ हीरा जब चढ़ता।
सुजनों के वह कण्ठहार हो मूल्य चरम तक तब बढ़ता।।७७।।

अर्थ – चारित्र और सुशील का संयोग पाकर साधारण ज्ञान भी पूर्णता को प्राप्त हो जाता है। जैसे उत्तम शाणोपल का संयोग पाकर मणि का मूल्य इतना बढ़ जाता है कि वह सज्जनों के कण्ठप्रदेश को प्राप्त हो जाता है।।७७।।

विद्वेषभावोऽपि समं स्वजात्या, कृतज्ञता सा शुनि जन्मतोऽस्तु,
अत्यल्पनिद्रापि विधेर्विपाको, विचित्र एवं गदितं सुविज्ञैः।।

नहीं भूलता उपकारक को कृतज्ञता गुण धरता है।
श्वान सन्त सम कम सोता है निद्रा से अति डरता है।।
किन्तु द्वेष रखता है निशिदिन निजी जाति से खेद यही।
खेल खेलता कर्म कहाँ कब किस विधि खुलता भेद नहीं।।७८।।

अर्थ – कुत्ता में जन्म से ही अपनी जाति के साथ विद्वेष भाव भी है, उसके कृतज्ञता गुण भी है और अल्पनिद्रा भी है। विद्वज्जनों ने कहा है कि उसका यह कर्म का विचित्र ही योग है।।७८।।

सिद्धे स्वकार्ये सति कारणानि, बाह्येतराणीति तृणीभवन्ति।
सोपानमालापि विमोचिता सा,प्रारोहितात्मोन्नत - सौधकेन।।

उपादान हो निमित्त हो या गौण मुख्य की शर्त नहीं।
कार्य पूर्ण हो जाने पर फिर कारण से कुछ अर्थ नहीं।।
बढ़ते बढ़ते ऊपर चढ़ते अंतिम मंजिल वह आती।
एक एक कर क्रमशः पीछे सभी सीढ़ियां रह जाती।।७६।।

अर्थ – अपना कार्य सिद्ध हो जाने पर बाह्य और अन्तरङ्ग – दोनों प्रकार के कारण तृण के समान तुच्छ हो जाते हैं। जैसे अपने ऊंचे महल पर चढ़ चुकने वाले पुरुष के द्वारा सीढ़ियों की पंक्ति छोड़ दी जाती है।।७६।।

रागादिकं चात्मभवं दहेत् तत्, ध्यानं शुभं चात्मभवं समन्तात्।
वनोद्भवो वातसुदीप्तदावो, भस्मीकरोतीह वनं समस्तम्।।

अशुभ-भाव से जनित भयंकर कर्मों का वह नाश करे।
शुभ भावों में वास कर रहे ध्यान सही जिन दास! अरे!
पवन योग पा उद्दीपित वह होता दावानल वन में।
पूर्ण जलाता राख बनाता पूरण वन को वह क्षण में।।८०।।

अर्थ – आत्मा में उत्पन्न हुआ शुभध्यान अपने आप में होने वाले रागादिक भावों को सब ओर से जला देता है – नष्ट कर देता है। जैसे कि वन में उत्पन्न और वायु से प्रचण्डता को प्राप्त दावानल समस्त वन को भस्म कर देता है।।८०।।

आद्या विरागा द्वितया सरागा, दृष्टिर्जनानां स्खलितात्मभावा।
अभ्राश्रिता सा विमला ततश्चेत्, मलाभिभुता पतिताम्बुधारा।।

यदपि मनुज की मोह भाव से सुप्त चेतना होती है।
विराग पहली दृष्टि दूसरी राग रंगिनी होती है।।
बादल दल से गिरती धारा प्रथम समय में विमला हो।
ज्यों ही धरतीं को आ छूती धूमिल पंकिल समला हो।।८१।।

अर्थ – मनुष्य की दो दृष्टियाँ हैं एक विराग और दूसरी आत्मभाव से च्युत करने वाली सराग। विराग दृष्टि मेघाश्रित जलधारा के समान निर्मल है और दूसरी पृथ्वी पर पड़ी जल धारा के समान मलिन है।।८१।।

यथा पृथिव्यां करिणो नरा वा, दृष्टिं गताः श्रीफलमत्तुमीशाः।
हंसा हि मुक्ताफलभोजिनः स्युः, सिताः समित्या युतका ह्यनाशाः।।

ऐसा देखा जाता जग में सभी नहीं श्रीफल खाते।
मनुज तोड़ कर खाता हाथी गिरे हुये श्रीफल खाते।।
आशा के तो दास नहीं हैं समता धन के धनी बने।
मुक्ता खाता हंस मोक्षफल खाता है मुनि गुणी बने।।८२।।

अर्थ – जिस प्रकार पृथ्वी में दृष्टि–देखने की शक्ति को प्राप्त हाथी और दृष्टि–विचारशक्ति को प्राप्त मनुष्य श्रीफल–नारियल (पक्ष में लक्ष्मी का फल) खाने में समर्थ हैं उसी प्रकार सफेद हंस और समताभाव से युक्त आत्मावाले अनाश–आशारहित साधु, मुक्ताफलभोजी होते हैं। हंस मोती चुगते हैं और साधु मुक्तिरूपी फल का अनुभव करते हैं।।८२।।

प्रत्येकभावे निजपर्यया वै, प्रतिक्षणं ये प्रलय प्रयान्ति।
मुहुर्मुहु र्या तरलेव भूत्वा, तरङ्ग माला क्षणिका तडागे।।

पल-पल में प्रति पदार्थ-दल में अपनी अपनी पर्यायें।
नई-नई छवि लेकर उठती मिटती रहती क्षणिकायें।।
तरंगमाला तरल छबीली पवन चले तब जल में है।
झिल-मिल; झिल-मिल करती उठती और समाती पल में है।।८३।।

अर्थ – प्रत्येक पदार्थ में जो अपनी पर्यायें हैं वे प्रतिक्षण विलय को प्राप्त होती हैं। जैसे तालाब में जो तरंग की संतति है वह बार बार चञ्चल सी होकर विनष्ट हो जाती हैं।।८३।।

काले न कालेन न काचन श्रीः, सा चात्मतत्त्वं तु ततोऽस्तु तत्र।
समुद्यमोऽतोऽस्तु सदैव सद्भिः, कर्तव्य एवात्महिताय तत्त्वे।।

नहीं काल में नहीं काल से सुख मिल सकता ज्ञात रहे।
सुख तो निर्मल गुण है अपना आत्म तत्त्व के साथ रहे।।
हित चाहो तो मन वच तन से निज आतम में लीन रहो।
यही प्रथम कर्तव्य रहा है भूल कभी मत दीन रहो।।८४।।

अर्थ – कोई भी सुखादिकलक्ष्मी न किसी काल में और न किसी काल के द्वारा होती है क्योंकि वह आत्मतत्त्व है अतः आत्मा में ही हो सकती है। अतः सत्पुरुषों को आत्महित के लिये आत्म तत्त्व में ही सदा उद्योग करना चाहिये।।८४।।

ध्योयो न सेव्यो न हि चाप्युपेयो, ज्ञेयोऽपि कालो नियतोऽपि हेयः।
ध्येयः प्रमेयो निजशुद्धभावो प्युपेयको योऽत्र सुधासुपेयः।।

विज्ञ जनों के सेव्य नहीं है रहा काल यह ध्येय नहीं।
ज्ञेय भले हो नियत रहा हो किन्तु नियम से हेय सही।।
मोक्षमार्ग में शुचि चेतन ही सेव्य रहा है ध्येय रहा।
अमेय भी है उपेय भी है शान्त सुधासम पेय रहा।।८५।।

अर्थ – कालद्रव्य ध्येय नहीं है, सेव्य नहीं है, उपेय भी नहीं है, ज्ञेय होकर भी निश्चित ही हेय है। इस जगत् में जो निजशुद्धभाव है वह ध्येय है, प्रमेय है, उपेय है और सुधा के समान सुपेय है।।८५।।

त्यक्तुं न हीशा विषयान् विमूढा वदन्ति मुक्तिर्भवतोऽस्तु कालान्।
कषायभीमग्रहलुप्तबोधाः कुर्वन्ति किं किं न विनिन्द्यभावम्।।

विषय त्याग से डरते हैं जो मूढ़ रहे वे भूल रहे।
मुक्ति समय पर मिलती इस विध कहते हैं प्रतिकूल रहे।।
मोह-भूत के वशीभूत हो आत्म-बोध से रहित हुये।
कषाय-वश नर क्या नहिं करता पाप पंक में पतित हुये।।८६।।

अर्थ – जो विषयों को छोड़ने के लिये समर्थ नहीं हैं, ऐसे मोही मनुष्य कहते हैं कि संसार से मुक्ति काल आने पर स्वयं हो जायेगी। ठीक ही है, कषायरूपी भयंकर पिशाच के द्वारा जिनका ज्ञान लुप्त हो गया है ऐसे मनुष्य कौन कौन निन्दनीय पाप नहीं करते है?।।८६।।

स्वजातिवात्सल्यगुणं दधानः संभोगकार्ये न दिवा रतोऽस्तु।
तथापि काको जगताद्दतो नो मन्येऽत्र रूढिर्न हि चान्यहेतुः।।

निजी जाति के प्रति ईर्ष्या नहिं सदा अनुराग धरे।
दिन में तो सम्भोग-कार्य में ना रत हो ना राग करे।।
तदपि कहां है काक समादृत कारण का कुछ पता नहीं।
लगता इसमें रूढ़ि रही हो नीति हमें यह बता रही।।८७।।

अर्थ – यद्यपि कौआ अपने जाति के साथ वात्सल्य रूप गुण को धारण करता और दिन में रतिक्रिया में तत्पर नहीं रहता तथापि वह जगत् के द्वारा आदर को प्राप्त नहीं होता। इसमें रूढ़ि ही कारण है ऐसा मानता हूँ। अन्य कारण नहीं है।।८७।।

आम्रादिवन्नो फलभारनम्रो गन्धान्वितं यस्य न मंजुपुष्पम्।
सेव्योऽत्र मिष्टेन रसेन सर्वै- रुद्दण्ड इक्षोर्ननु दण्डकोऽपि।।

आम्रादिक तरु सम जो होता सरस फलों से भरा नहीं।
फूल फूलता यद्यपि जिसमें गन्ध नहीं है हरा नहीं।
इक्षु दण्ड उद्दण्ड रहा है किन्तु रहा वह सरस महा।
इसीलिए आ-बाल वृद्ध सब जिसे चाहते हरस रहा।।८८।।

अर्थ – ईख का दण्ड यद्यपि आम्रादि वृक्षों के समान फलों के भार से नम्र नहीं होता और न जिसका सुन्दरफूल सुगन्ध से सहित है प्रकृति से उद्दण्ड – दण्ड रूप में खड़ा है (पक्ष में अविनीत) तथापि मिष्ट रस के कारण जगत् में सब के द्वारा सेवनीय है।।८८।।

गुणीभवन्तीह यतेर्जरायां तपांसि सर्वाणि च तान्विकानि।
अयत्नमुक्तं वृषमिष्टमन्नं मन्दाग्निना वाऽकृतभोजनेन।।

तन के आश्रित जितने तप हैं गौण सभी तब होते हैं।
जरा दशा में साधक मुनिजन मौन शमी जब होते हैं।।
जिसे रोग 'मन्दाग्नि' हुआ या जिसने भोजन पाया है।
इष्ट मिष्ट भोजन से अब ना अर्थ रहा प्रभु गाया है।।८६।।

अर्थ – इस जगत् मे वृद्धावस्था के समय साधु के शारीरिक तप गौण हो जाते हैं और मन्दाग्नि के कारण भोजन न कर सकने के कारण गरिष्ठ इष्ट भोजन बिना प्रयत्न के ही छूट जाता है।।८६।।

सुशास्तृयोगाद्धि जगत् सुखि स्यात्, स्याद्दुःखि भूरीतरतोऽप्यवश्यम्।
तानाश्रितान्नौ र्नयतेऽब्धितीरं, छिद्रान्विता घोररसातलं चेत्।।

उचित नाव के आश्रित जन को शीघ्र नदी का तीर मिले।
छिद्र सहित यदि नाव मिली तो घोर रसातल पीर मिले।।
शासक शासन उचित चलाता सबका वह संताप हरे।
अनुचित सो अभिशाप रहा है आप, पाप परिताप करे।।६०।।

अर्थ – जगत् उत्तम शासक के योग से सुखी होता है और कुशासक के योग से अत्यधिक दुःखी होता है। जैसे नाव आश्रिजनों को समुद्र के तट पर पहुँचा देती है, यदि वही नाव छिद्र सहित है तो भयंकर रसातल में पहुँचाती है।।६०।।

ज्ञातोऽनुभूतो यदि नात्मभाव- श्चेत्तस्य चर्चा कुरुते तपस्वी।
पित्तज्वरार्त पवनार्दितं वा, प्रलापयन्तं मनुते मनस्वी।।

बिन करनी कथनी में रत है तापस का भ्रम-भाव रहा।
ज्ञात नहीं अनुभूत नहिं क्या? शुचितम आतम-भाव रहा।।
पित्तकोप से ज्वर पीड़ित या सन्निपात का वह रोगी।
जैसा प्रलाप करता रहता उसे मानते बुध योगी।।६१।।

अर्थ – यद्यपि आत्मपदार्थ को न जाना है, न उसका अनुभव किया है तथापि साधु यदि उसकी चर्चा करता है तो विचारशील मनुष्य उसे बकवाद करने वाला पितज्वर अथवा वात से पीड़ित मानता है।।६१।।

गौश्चर्यया पापततौ च मौनोऽ- पृष्टोऽप्यमौनो निजधर्महानौ।
भीतोऽस्ति लोकैषणतोऽप्यभीतो, दुःखोपसर्गेषु विविक्तधर्मैः।।

जिस की चर्या 'गो' सम होती पाप कार्य में मौन रहा।
बिन पूछे निर्भीक बोलता धर्म कार्य हो गौण रहा।।
तत्त्वेषण में डूब रहा है लोकेषण से भीत रहा।
दुर्जन द्वारा दिये गये दुख उपसर्गों को जीत रहा।।६२।।

अर्थ – जो चर्या से गाय है, पाप समूह में मौन है, निजधर्म की हानि में बिना पूछे भी प्रतिकार करने वाला है, लौकिक ख्याति से भयभीत होने पर भी अधार्मिक मनुष्यों के द्वारा कृत दुःखदायक उपसर्गों में अभीत है।।६२।।

परोपकारी तरुवन्निरीह- स्तथोद्यमी यो रविचन्द्रशीलः।
सिंहोऽसतिवृत्याऽनिलवद् विसंगो, योगेन मेरुः क्षमया धरास्ति।।

शरणागत के शरण प्रदाता निरीह तरुसम उपकारी।
नियमित उद्यम में रत रहता रवि शशि सम है तमहारी।।
सिंह वृत्ति का धारक भी है संग रहित है हवा समा।
योगों में तो अचल मेरु है धरा बना है धार क्षमा।।६३।।

अर्थ – परोपकारी होकर भी वृक्ष के समान प्रत्युपकार की इच्छा से रहित है, सूर्यचन्द्रमा के समान उद्यमी है, वृत्ति से सिह के समान निर्भय है, वायु के समान निष्परिग्रही है, ध्यान में मेरु के समान निश्चल है, क्षमा मे पृथ्वी के समान सहिष्णु है।।६३।।

सत्यैकजिह्वो ऽप्यहिवद् विवासः, सुसंवृतात्मा भुवि कूर्मवद्वा।
सदृष्टलक्ष्योऽपि नदप्रवाहो, मयांच्यते संजयतात् स योगी।। (विशेषकम्)

अहि सम जिसका खुद का घर नहिं सत्य बोलता इक रसना।
जिसके तन मन सर्व-इन्द्रियां स्ववश कूर्म मम, परवश ना।।
देख चुका गन्तव्य स्थान को किन्तु नदी सम भाग रहा।
योगी वह जयवन्त रहे नित भजूं उसे मन जाग रहा।।६४।।

अर्थ – सत्यैकजिह्व है – सत्यवादी है, सर्प के समान निश्चित निवास स्थान से रहित है, पृथ्वी पर कछुवे के समान अपने आपको संवृत करने वाला है और निश्चित लक्ष्य से सहित हो लक्ष्य की प्राप्ति के लिये नदी के प्रवाह के समान गतिशील है, वह साधु मेरे द्वारा पूजा जाता है, वह सदा जयवन्त रहे।।६४।।

अज्ञाः सदूरा ननु तेऽपि विज्ञाः, स्वं नापि पश्यन्ति चलोपयोगाः।
स्वच्छेऽपि नीरे न मुखं सुदृष्टं, वातेन लोले बुधभारतीयम्।।

विज्ञों का उपयोग चपल यदि निज को निहार नहिं पाते।
अज्ञों की क्या बात रही फिर पर में विहार कर जाते।।
सलित स्वच्छ हो सरवर का पर मुख उसमें नहिं दिख सकता।
जहां पवन से लहर उठ रही वहां नेत्र क्या? टिक सकता।।६५।।

अर्थ – अज्ञानी जन तो निश्चयतः आत्महित से अतिदूर है ही परन्तु चंचल उपयोग वाले जो ज्ञानी भी स्वकीय आत्म तत्व को नहीं जानते हैं – नहीं अनुभवते हैं वे भी बहुत दूर हैं क्योंकि वायु से चचल स्वच्छ जल में भी मुख अच्छी तरह नहीं देखा गया है. ऐसा ज्ञानी जनो का कहना है।।६५।।

जन्या सुतस्ताडितको रुदन् सन्, सनीरनेत्रः सहसा हसन् सः।
दृष्टोभनिमेषोभ्प्रतिशोधभावो, यथा यथाजातयतिः स्थिरीस्यात्।।

जननी सुत को ताड़ित करती नेत्र सजल हो सुत रोता।
माँ सहलाती, भूल तुरत सब हँसमुख सुत प्रत्युत होता।।
नेत्र रहे प्रतिशोध-भाव बिन अपलक बालक जैसा हो।
महाभाग्य वह यथाजात यति व्रत का पालक वैसा हो।।६६।।

अर्थ – माता के द्वारा ताडित पुत्र रोता है, आंसू बहाता है पर शीघ्र ही खिल उठता है उसमें स्पष्ट ही बदला न लेने का भाव जैसा देखा गया है वैसा ही निर्ग्रन्थ साधु में भी देखा जाना चाहिये, उसे भी स्थिर रहना चाहिये।।६६।।

वर्णस्य पात्रं किल विश्वशास्त्रं, मलस्य पात्रं तव रूपिगात्रम्।
चिद्वस्तुमात्रं हि सुखस्य पात्रं, सर्वं ह्यपात्रं स्मर चेतसाऽत्र।।

शब्दों के तो पात्र रहे हैं जग के सारे शास्त्र महा।
मल का कोई पात्र यहां है तेरा जड़मय गात्र रहा।।
सुख का पावन पात्र रहा तो शुचितम चेतन मात्र रहा।
ऐसा मन में चिंतन कर लो अपात्र सब सर्वत्र रहा।।६७।।

अर्थ – समस्त शास्त्र वर्ण – अक्षरों के पात्र हैं, तेरा सुन्दर शरीर मल का पात्र है। एक चैतन्य वस्तु ही सुख का पात्र है इसके बिना सभी सुख के अपात्र है, ऐसा तू मन से स्मरण कर।।६७।।

या दृष्टा स्त्री प्रकृतिः साऽमूर्तो यो नियमतः स पुरुषः।
दृष्टौ स्त्रीपुरुषौ तु व्यवहारेणात्र समयोक्तौ।।

जो भी देखी जाती हमसे वही प्रकृति स्त्री कहलाती।
अमूर्त जो है पुरुष रहा वह ऐसी कविता यह गाती।।
मूर्त रूप से देखा जाता स्त्री पुरुषों का अभिनय जो।
केवल यह व्यवहार रहा है भीतर निश्चय अतिशय हो।।६८।।

अर्थ – जो देखी गई है वह स्त्री रूप प्रकृति है और जो अमूर्त है – दृष्टिगोचर नहीं है वह पुरुष है। शास्त्र में कहे गये जो स्त्री पुरुष हैं वे व्यवहार से ही कहे गये है।।६८।।

क्षुद्रोऽस्मि बोधेन बलेन वीर, त्वदाश्रयात् स्याद् विभुता ध्रुवात्र।
स्याद्गमे सा नदिका लघिष्ठा, नदीपतिं प्राप्य विमानपात्रा।।

बल में बालक हूं किस लायक बोध कहां मुझ में स्वामी।
तब गुणगण की स्तुति करने से पूर्ण बनूं तुम सा नामी।।
गिरि से गिरती सरिता पहली पतली सी ही चलती है।
किन्तु अन्त में रूप बदलती सागर में जा ढलती है।।६६।।

अर्थ – हे वीर ! मैं ज्ञान और बल से क्षुद्र हूँ – हीन हूँ, परन्तु आपके आश्रय से मुझमें निश्चित ही विभुता – विशालता हो सकती है। जैसे कि नदी उद्‌गम स्थान पर अत्यन्त लघु होती है, परन्तु समुद्र को पाकर वह विशाल प्रमाण का पात्र हो जाती है।।६६।।

नीतेः प्रणेता शिवपन्थनेता, नीत्यै मया यः प्रणतिं सुनीतः।
धनाप्तये निर्धनिभिर्धनी किं, सेव्यो न वा पृच्छति नीतिरेषा।।

रहे नीति के वीर ! प्रणेता शिवपक्ष के जो नेता हो!
नीति प्राप्त हो तुम्हे भजूं मैं सकल-तत्त्व के वेत्ता हो।।
क्यों न निर्धनी करे धनिक की सेवा धन से प्रीति रही।
रीति नीति हम कभी न भूलें गीत गा रही नीति यही।।१००।।

समय एवं स्थान परिचय
धरम व्योम गति गन्ध का वीरजयन्ती-योग।
मिला पुण्य के योग से मेटे भव-भव रोग।।
सम्मेदाचल तीर्थ के पाद प्रान्त में बैठ।
लिखा ईसरी नगर में काव्य रहा यह श्रेष्ठ।।

अर्थ – जो नीति के रचयिता है तथा मोक्षमार्ग के नेता हैं ऐसे महावीर भगवान् को ही मैंने नीति – नीतिशतक की पूर्ति के लिये नमस्कार किया है। क्या निर्धन मनुष्यों के द्वारा धन प्राप्ति के लिये धनी पुरुष सेवनीय नहीं है? यह नीति आप से पूछती है।।१००।।

गुरुस्तुतिः

श्रीज्ञानसागरसुमन्धनजातविद्याम्
पीत्वा सुनीतिशतकं लिखितं मयेदम्।
द्यां मे न मन्दमरिच्छलोकपूजाम्,
विद्यादिसागरतनुर्लघुना यतःस्याम ।।१०१।।

मंगलकामना

विभावानामभावेऽस्मिन् ध्यानयोगेन भाविता।
साक्षात्शान्तिर्नमस्तस्मै गताय स्वं चिदात्मने ।।१।।
रतो भव निजद्रव्ये रतिर्दुःखं निजेतरे।
चिरं कार्य कृतं त्वन्यत् तस्मात् कुरु परेतरम् ।।२।।
सुखे दुःखे विधेर्जाते नीतिविदां कथं मनः।
तिरः पुरस्कृतं केन शतधैव तमःकृतम् ।।३।।
तत्वदादीनि चैतानि कस्यापि स्युर्न चेतसि।
मितितिथिगतीमानि तिष्ठेत् सन्मात्रमेव हि।।४।।

रचनाकाल एवं स्थान परिचय

सम्मेदाचलपूजायां रतेसरीपुरे शुभे।
रस-रव-रुप-गन्धान्दे' वीर वीरोदयाह्निके ।।५।।
पूर्णीभूतमिदं श्राव्यं काव्यं काव्यकलाङ्क्तिम्
पठनीयं समाशोध्य बुधैर्गुणोपजीविभिः ।।६।।

१. दिगम्बर जैनाचार्य १०८ श्री ज्ञानसागर महाराज के शिष्य संतशिरोमणि आचार्य श्री विद्यासागर महाराज के द्वारा यह सुनीतिशतक संस्कृत भाषा में तीर्थराज श्री सम्मेदशिखर के पादप्रान्त में अवस्थित ईसरी नगर (गिरिडीह) बिहार, में रस = ६, रव =आकाश = ०, रुप =५, गन्ध = २, यानी ६०५२, अंकानां वामतो गति के अनुसार वीर निर्वाण संवत् २५०६ (विक्रम संवत् २०४०, शक् संवत् १६०५) के महावीर जयन्ति दिवस – चैत्र शुक्ल त्रयोदशी, सोमवार, २५ अप्रेल १६८३ के दिन पूर्ण हुआ।

जिनवरा-नन-नीरज-निर्गते!
गणधरैः पुनरादर-संश्रिते!
सकल-सत्त्व-हिताय वितानिते!
तदनु तेरिति हे! किल शारदे!।।१।।

जिन मुख पंकज से निकली हो,
सविनय ऋषियों से बिखरी हो।
सकल लोक का हित हो, तम को
हरो शारदे ! वर दो हमको।।१।।

सकल-मानव-मोदविधायिनि !
मधुर-भाषिणि ! सुन्दररूपिणि !
गतमले ! द्वयलोक-सुधारिणि !
मम मुखे वस पापविदारिणि !।।२।।

मानव मन को सुधा पिलाती,
इह पर भव में सुधार लाती।
कोकिल कण्ठ रूप सलोना,
मम मुख में बस! बसो लसोना।।२।।

असि सदा हि विषक्षयकारिणि !
भुवि कृदृष्ट्य हयेऽतिविरागिनि !
कुरु कृपां करुणे करवल्लकी
मयि विभो पदपंकज-षट्पदे !।।३।।

विषय दृष्टि की नागिन कंपती,
तुम करूड़ानी प्रभु गुण जपती।
प्रभु पद पंकज रत मुझ अलि पर,
वीणा लेकर, करुणा कर कर।।३।।

उपलजो निज-भाव-महो यदा
सुरस-योगत आशु विहाय सः।
कनक-भाव-मुपैति समेमि किं
न शुचि-भाव-महं तव योगतः।।४।।

सुरस-योग से लोहा नीला,
बनता जिस विध स्वर्णिम पीला।
मैं भी उस विध तव संगति से,
क्यों न बनूँ शुचि प्रभु सन्मति से।।४।।

जगति भारति! तेऽक्षि-युगं खलु
नय मिषेण कुमार्ग-रता-गमम्।
नयति हास्यपदं न तदास्मय-
मयि! वचोऽमृत-पूर्ण-सरोवरे!।।५।।

वचनामृत पूरित तुम सर हो,
नमन युगल तव सुनय प्रखर हो।
मिथ्या आगम का उपहासा,
करे भारती यहाँ प्रकाशा।।५।।

वृषजलेन वरेण वृषापगे!
शमय तापमहो! मम दुस्सहम्।
सुख-मुपैमि निजीय-मपूर्वकं
द्रुतमहं लघुधी-रथ येन हि।।६।।

धर्मामृत की वर्षा करके।
ताप हरौ मुझे हर्षा करके।
सुखमय जीवन अथाह मम हो,
धर्मामृत के प्रवाह तुम हो।।६।।

शिरसि तेन हि कृष्णतमाः कचा-
स्त्वयि न ते निलयं परिगम्य वै।
परम-तामसका बहिरागता
इति सरस्वति! हे!किल मे वचः।।७।।

यूँ मानूँ तव सर के सारे,
कुटिल कुटिलतम केश न काले।
तुम में आश्रय जब न पाई,
पाप पंक्तियों बाहर आई।।७।।

विगत-कल्मष-भाव-निकेतने!
तव कृता वर-भक्ति-रियं सदा।
विभवदा शिवदा पविभूयता-
मिति ममास्ति शिशोशुभकामना।।८।।

प्रशम भाव के भवन बनी हो,
भक्त बना तब भक्ति बनी यों।
भव मिट, शिव हो, रहे काम ना,
इस शिशु की बस यही कामना।।८।।

शशिकलेव सितासि विनिर्मले !
विकच-कंज-जय-क्षय-लोचने !
यदि न, मानवकोऽतिसुखायते
त्वदवलोकन-मात्र-तया कथम्।।६।।

कमल हारते तुम दृग लख कर,
लसी शशी सी शुभे! सुधाकर!
हमें बता दो यदि ना यों हो,
तुमको लख मुनि प्रमुदित क्यों हो?।।६।।

शशि कला वदनाप्रभया जिता,
नयन-हारितया तव शारदे।
सपदि वै गतमान-तयेति सा
नखमिषेण तवांघ्रियुगंश्रिता।।१०।।

तब मुख की आभा से जीती,
चन्द्र चाँदनी फिर भी जीती।
तभी शारदे! तुम पद सेवा,
पद नख मिष करती स्वयमेवा।।१०।।

श्रुतियुगं तव मान-मिषेण वै,
वितथ-मान-मतं परिदूष्य च।
जिनमते गदितं यतिभिः परै-
र्यदिति सूचयतीह वरं हि तत्।।११।।

श्रवण युगल तब प्रमाण दी हैं,
कहता पर, मत प्रमाण नी है।
कहा गया यतियों से प्यारा,
प्रमाण जिनमत है आधारा।।११।।

इह सदाऽऽस्वनितं शुभकर्मणि,
भवतु मे चरणं च सुवर्त्मनि।
जगति वंद्यत एव सरस्वती,
तनुधिया सदया ह्यथ या मया।।१२।।

कर्त्तव्यों में मेरा मन हो,
शिव पथ पर ही सदा चरण हो।
सरस्वती ! तब सदय शरण हो,
मन्द मती का तुम्हें नमन हो।।१२।।

[redacted] परिशिष्ट

■ **श्रमण शतक**

१ कैलाशचन्द पाटनी, मंत्री
आ. इ. दि. भगवान महावीर
२५०० वाँ निर्वाण - महोत्सव सोसाइटी
अजमेर संभाग क्षेत्रीय समिति
नसिया मार्ग, अजमेर (राज.) १९७४

२ दर्शनाचार्य गुलाबचंद्र जैन, मंत्री
२५०० वाँ निर्वाण महोत्सव सोसाइटी
जबलपुर संभाग क्षेत्रीय समिति
जबलपुर (म.प्र.) १९७७

३ शरदकुमार बनारसी,
छिन्दवाड़ा (म.प्र.) १९७८

■ **भावना शतक - (अपर नाम तीर्थंकर ऐसे बने)**

निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन समिति,
कलकत्ता, १९७५
जैन सूचना केन्द्र
१० ए. चितपुर स्पेयर
कलकत्ता - ७

■ **निरंजन शतक - (ई. सन् १९७७)**

श्री सिद्धक्षेत्र कमेटी
कुण्डलपुर, १९७७

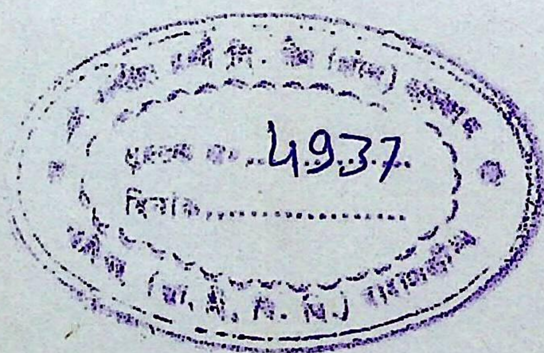
■ **परीषह जय शतक (अपरनाम ज्ञानोदय)**

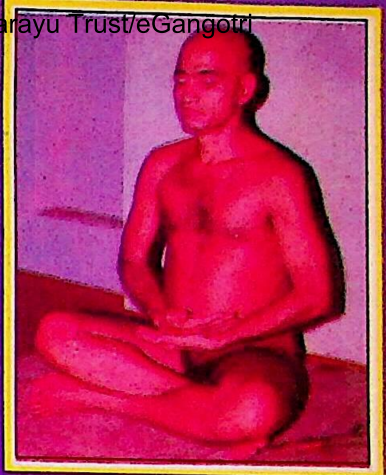
दिगम्बर जैन मुनि संघ
स्वागत समिति
सागर, १९८२

■ **सुनीति शतक - (ई. सन् १९८३)**

१ रतनलाल हिम्मतचंद्र जैन
कलकत्ता ई सन् १९८३

२ आचार्य श्री विद्यासागर





महाकवि आ. श्री विद्यासागरजी महाराज की

साहित्य साधना

▲ संस्कृत शतकम्

- श्रमण शतकम् ● भावना शतकम्
- परिषह शतकम् ● सुनिति शतकम्

▲ हिन्दी काव्य

- मूकमाटी महाकाव्य ● नर्मदा का नरम कंकर
- डूबो मत, लगाओ डुबकी ● तोता क्यों रोता है
- चेतना के गहराव में

▲ हिन्दी शतक

- निजानुभव शतक ● पूर्णोदय शतक
- मुक्तक काव्य शतक ● दोहा थुदि शतक
- शांतीसागर स्तुति ● वीरसागर स्तुति
- शिवसागर स्तुति ● ज्ञानसागर स्तुति
- बंगाली भाषा कृत (कविता अप्राप्त)
- शारदा स्तुति (हिन्दी-संस्कृत)
- MY SAINT - MY SELF ● शताधिक प्रवचनावली

▲ पद्यानुवाद -

- जैन गीता (समण सुत्तम्)
- कुन्द कुन्द का कुन्दन (समयसार)
- निजामृतपान (कलशानुवाद) ● द्रव्य संग्रह
- अष्ट पाहुड़ ● नियमसार ● द्वादश अनुप्रेक्षा
- समन्तभद्र की भद्रता (स्वयम्भू स्तोत्र)
- गुणोदय (आत्मानुशासन)
- रयण मञ्जूषा (रत्नकरण्डक श्रावकाचार)
- आत्म मीमांसा (देवागम स्तोत्र) ● इष्टोपदेश
- कल्याण मंदिर स्तोत्र ● समाधि सुधा शतकम्
- योगसार ● एकीभाव स्तोत्र ● नंदीश्वर भक्ति
- गोमटेश अष्टक





"...निओ" अजमेर